

# जैन कला एवं स्थापत्य

भगवान् महावीर के 2500 वें निर्बाण  
महोत्सव के पावन अवसर पर प्रकाशित

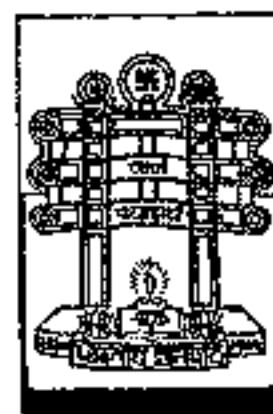
मूल-संपादक

अमलानंद घोष

भूतपूर्व महानियेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेशण

तीन खण्डों में प्रकाशित

खण्ड ।



## भारतीय ज्ञानपीठ

नई दिल्ली

मूल अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवित  
हिन्दी संपादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन



१९७५

भारतीय ज्ञानपीठ

तीन खण्डों का भूल्य

रु० ५५०

प्रकाशक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, बी-४५/४७, कलाटंड प्लेस  
- नई दिल्ली-११००११

मुद्रक : ओमप्रकाश, संचालक, कैमस्टन प्रेस, प्रा० लि०, २-ई रानी झाँसी रोड,  
नई दिल्ली-११००५५.

## प्राक्कथन

जैन-विद्या को अब भारतीय-विद्या का एक महत्वपूर्ण और संग्रथित-अंग माना जाने लगा है। यह उचित ही है, क्योंकि 'जैन-विद्या' कहने पर हमारे मन में एक ऐसी विशिष्ट सांस्कृतिक धारा का चिन्ह सजीव हो जाता है जिसने भारतीय दर्शन, साहित्य और कला के साथ-साथ एक ऐसी जीवन-पद्धति को अत्यंत समृद्ध बनाया है जिसमें श्रावकों और साधुओं के लिए सामाजिक दायित्वों के निवाही और आध्यात्मिक उन्नति के हेतु सुचिति ढंग से प्रगति के सोपानों की रचना की गयी है और जिसके पीछे एक सुदृढ़ परंपरा का निर्माण हुआ है। भारतीय विद्याओं में सजि रखनेवाले विद्यानों ने अब उन अर्थात् धारणाओं का परित्याग कर दिया है जिनके अंतर्गत यह माना जाता था कि जैन धर्म बीड़-धर्म की एक शाखा है, या तीर्थकर महावीर जैन धर्म के अनादि संस्थापक हैं।

इतिहास के अध्ययन के आधार पर अब तो विद्यान् निश्चित रूप से यह मानने लगे हैं कि जैन धर्म के तीईसवें तीर्थकर पार्वतीनाथ, अंतिम चौबीसवें तीर्थकर महावीर से छाई सौ वर्ष पूर्व हुए थे, और चाईसवें तीर्थकर नेसिनाथ के इतिहास का काल महाभारत और गीता के उन विष्यात कृष्ण के साथ जुड़ा हुआ है जो परस्पर चलेर भाई हैं। प्रथम तीर्थकर कृष्णनाथ या वृषभ ये जिनका उल्लेख ऋग्वेद में अनेक बार आया है और प्रह्लाद कला-शृंथ के अनेक लेखों में विद्यानों ने जिनका संदर्भ दिया है।

यही स्थिति भारतीय दर्शन के क्षेत्र में है। जैन धर्म को 'नास्तिक' धर्म की संज्ञा अब कोई इस आधार पर नहीं देता कि यह धर्म इस सृष्टि को किसी ईश्वर द्वारा रची गयी नहीं मानता। जैन धर्म आत्मा की अनादि सत्ता में विश्वास करता है और साथ ही पाँच अन्य द्रव्यों की सत्ता में। वे अन्य पाँच द्रव्य हैं - पुद्गल (जड़ तत्त्व जिसमें ऊर्जा भी सम्मिलित है), धर्म (गति का माध्यम), अधर्म (स्थिति का माध्यम), आकाश (जो सारे विश्व को अवगाह देता है) और काल (समय)। यह धर्म मानता है कि प्रत्येक आत्मा में क्षमता है कि वह निर्वाण प्राप्त करे, अर्थात् परमात्म-पद पाये। भारतीय दर्शन को इस धर्म ने अनेकांत के महान् सिद्धांत का अवदान दिया जिस सिद्धांत में दार्शनिक वाद-विवादों के समाधान की क्षमता है और जो जैन धर्म के एक अन्य आवारभूत सिद्धांत 'अहिंसा' (मन-वचन-काय से किसी भी ग्राणी को दुःख न पहुँचाना) से संबद्ध किये जाने पर सामाजिक विषमताओं का निराकरण करता है।

जैन धर्म की अमूल्य प्रेरणा के फलस्वरूप भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि हुई - धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में, और धर्मनिरपेक्ष साहित्य के क्षेत्र में भी। यह साहित्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

भाषाओं के अनेक रूप-माध्यमों में रचा गया। कन्नड़ और तमिल-जैसी भाषाओं के आधुनिक रूप-विकास में इन भाषाओं के प्राचीन जैन आचार्यों के कृतित्व का योगदान है, यह बात सभी भाषाविद् स्वीकार करते हैं। साहित्यिक विधाओं का कोई रूप – काव्य, नाटक, कथा तथा टीका-व्याख्या – ऐसा नहीं जिसे जैन ग्रंथकारों ने अपनी प्रतिभा से अलंकृत न किया हो, वे चाहे जिस भी धर्म के उपासकों के परिवार में जन्मे हों।

अध्येताओं, इतिहासज्ञों और पुरातत्त्ववेदाओं ने इस युग में जैनविद्या के एक अत्येक परिपूर्ण आधार का उद्घाटन किया है। वे यह देखकर चकित हैं कि जैन-कला का एक क्रमबद्ध इतिहास है; इसे छुट-पुट रूप में देखना अपनी दृष्टि को सीमित कर लेना है। जैन कला भारतीय कला-इतिहास का अभिन्न ग्रंथ है, और इस कला ने प्रत्येक युग की कला को प्रभावित किया है तथा सब्द भी उसके प्रभाव को ग्रहण किया है। इस जैन कला का मूर्तरूप क्या है इसे प्रत्यक्ष देखने के लिए सारे देश के विभिन्न अंचलों की श्रमसाध्य यात्रा करनी पड़ती है। इसका रूप क्या है, इसे समझने और इसका विधिवत् अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले विद्वानों की और इस विषय में हचि रखनेवाले सामान्य पाठक की भी पहली आवश्यकता यह है कि उसे सार रूप में इस सब कला-निधि का परिचय पढ़ने को मिल जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही 'जैन कला और स्थापत्य' शीर्षक इस ग्रंथ की रचना तीन खण्डों में की गयी है (आशा के अनुरूप यह 'अद्भुत' प्रमाणित हो !)। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैन कला और स्थापत्य के विधिवत् अध्ययन में सहायक होने के उद्देश्य से भारतीय ज्ञानपीठ ने इस प्रकार की कलाकृतियों के लगभग दस हजार से अधिक छायांकन (फोटो) देश-विदेश के अनेक स्रोतों से संग्रहीत कर लिये हैं और यह संग्रह दिन-पर-दिन बढ़ता चला जा रहा है। हम श्री मधुसूदन नरहर देशपाण्डे, भारतीय पुरातत्त्व-सर्वोक्षण-विभाग के महानिदेशक, के आभारी हैं कि उन्होंने हमें इस कार्य में तथा हमारी अन्य गति-विधियों में सहायता दी, हमारा मार्ग-दर्शन किया।

इस ग्रंथ के भूल प्रेरणा-स्रोत भारत के शौद्धोगिक विकास के नेता, और भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक, श्री साहू शांतिप्रसाद जैन हैं। श्री साहूजी की बलवती इच्छा थी कि भगवान् महावीर की पञ्चीसवीं शती के पुण्य अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ अपनी प्रकाशन-योजनाओं में इस ग्रंथ को प्राथमिकता दे। भारतीय ज्ञानपीठ का नाम देश-विदेश के विद्वानों में एक साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थान के रूप में सुपरिचित है। भारतीय विद्या के विद्वान् ज्ञानपीठ के शोध-प्रकाशनों से प्रभावित हैं। भारतीय समसामाजिक साहित्य की प्रगति के लिए भारतीय ज्ञानपीठ ने नयी पीढ़ी के प्रतिभा-संपन्न लेखकों की कृतियों का प्रकाशन किया है तथा यह संस्था प्रतिवर्ष भारतीय साहित्य की सर्जनात्मक कृतियों में से सर्वश्रेष्ठ का वरण कर उसे पुरस्कृत करती है। ज्ञानपीठ-पुरस्कार भारत का सर्वोच्च साहित्य-पुरस्कार माना जाता है।

इस ग्रंथ की रूप-रेखा के निर्धारण में प्रारंभ में कुछ कठिनाई रही। पहले इसका एक विस्तृत रूप सोचा गया और अपेक्षा की गयी कि जैन पुरातत्त्व के जानकार विद्वानों का संपादक-मंडल उस

रूप-रेखा को क्रियान्वित करने में सहायक होगा। ऐसे विद्वान् बहुत ही जिने-चुने हैं और वे सब अनेक प्रकार के दायित्वों से पूर्ण-बद्ध हैं। अंत में हमारा सुखद निर्णय यह रहा कि हम कठिनाई के उत्ताप का समाधान श्री अमलानंद घोष जैसे बट-वृक्ष की छाया में प्राप्त करें। श्री घोष, भारत सरकार के पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग के महानिदेशक के पद से सेवा-निवृत्त हो चुके हैं। उन्होंने हमारे अनुरोध को भाना और ग्रंथ के संपादन का दायित्व स्वीकार किया। ग्रंथ की योजना को भली-भाँति देख-समझ कर श्री घोष ने परामर्श दिया कि चूंकि यह ग्रंथ अपने ढंग का पहला प्रयास है और भगवान् महावीर के निवरण-महोत्सव पर अवश्य प्रकाशित कर देना है, अतः योजना को अत्यधिक विस्तृत न बनाकर, इसे सारभूत और संक्षिप्त बनाना अधिक उचित और उपयोगी होगा। संक्षिप्त बनाते-बनाते भी यह रूप इतना बड़ा हो गया कि दो खण्डों की कल्पना करनी पड़ी और अब तो वह तीन खण्डों में क्रियान्वित हो रही है। योजना बनाए लेना एक बात थी, किन्तु उसे पूरा करने के दायित्व को संभालना दूसरी बात है। ग्रंथ के लेखकों को योजना भेजी गयी और उन्हें अपनी ओर से पर्याप्त समय भी दिया गया, किन्तु समय की सीमा ने उनका राम नहीं दिया। याद सौच लेने से कि लेख लिखना है, कलम नहीं चल पड़ती। इस पुस्तक के लेखक प्रायः सभी अपने-अपने इनिक दायित्वों से बंधे हैं, उनके पास समय का अभाव है। विषय की जानकारी होते हुए भी, सामग्री को सुचित ढंग से व्यवस्थित करना होता है, लिखते हुए अनेकानेक संदर्भ खोजने पड़ते हैं, और लेख के लिए उपयुक्त चित्रों को छाटना-जुटना तो कार्य को नितान दुःख्य बना देता है। लेखकों की कठिनाई ने हमारी कठिनाइयों को कही गुना बढ़ा दिया।

व्या पाठक कल्पना कर सकते हैं कि योजना को क्रियान्वित करने के लिए हमें लेखकों को, संश्लेषणों को, फोटोग्राफरों और कलाकारों को देश-विदेश में बार-बार किसने पत्र, स्मरण-पत्र और तार आदि देने पढ़े? यह संख्या है ४८६१! [स्मरण-पत्र वानेवालों की भुमिकाहट का अनुमान लगाया जा सकता है। भेजनेवालों का तो, खैर, कर्तव्य ही है; वह। यदि ये पत्र कहीं दुविनीत लगे हों, तो हम खमा-प्रार्थी हैं। यह सब लिखने का उद्देश्य केवल इतना है कि विद्वान्-पाठकों को यदि इस ग्रंथ में कहीं कोई त्रुटि या अधूरापन दिखे तो, हमारी अशक्यता समझें और हमें संशोधन-संबंधी सुभाव दें ताकि अगला संस्करण अधिक समुचित बनाया जा सके। दूसरा उद्देश्य यह है कि कला-पंथों की योजना बनानेवाले धीरज से काम लें। यह ग्रंथ तो एक मार्ग-दर्शक है। भविष्य में इस प्रकार के अनेक ग्रंथ प्रकाशित होंगे तब जैन कला का पूरा स्वरूप प्रत्यक्ष हो पायेगा।

भगवान् महावीर की पुण्य निवारण शाली के अवसर पर यह ग्रंथ प्रकाशित हो सका, यह भारतीय ज्ञानपीठ के लिए सौभाग्य की बात है। भारतीय ज्ञानपीठ श्री अमलानंद घोष के प्रति कृत-ज्ञान ज्ञापन करती है कि उन्होंने इस ग्रंथ के संपादन का दायित्व लिया; और इसी अवधि में एक वर्ष के इण्डोनेशिया के प्रवास से लौटने के उपरांत इस दायित्व का पुनर्ग्रहण किया। वह अब प्रवास पर गये तो स्पष्ट कह गये थे कि हम अन्य प्रबंध कर लें। हमने अपना काम जारी रखा, और उनके लौटने की प्रतीक्षा करते रहे। यह बहुत ठीक हुआ, कि सारे सूत्र ज्यों-के-त्यों जुड़ गये। श्री घोष के

साथ काम करने का सेरा अनुभव बहुत सुखद रहा है। इस दायित्व को उन्होंने जिस अध्यवसाय और निष्ठा से निभाया है, वह प्रेरणाप्रद है। कला और स्थापत्य के क्षेत्र में श्री घोष एक आदर्श संपादक माने जाते हैं। उनकी सहयोगी तत्परता के कारण इस ग्रंथ का मूल अंग्रेजी का प्रथम खण्ड निर्विण-महोत्सव वर्ष के शुभारंभ के अवसर पर प्रकाशित हो सका, जिसका विधिवत् विमोचन १७ नवम्बर, १९७४ की विशाल जनसभा में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के हाथों हुआ। श्री घोष की विद्वता, संस्कृत भाषा और साहित्य की व्यंजनाओं की उनकी सूक्ष्मदृष्टि और, सर्वोपरि, कला-प्रकाशनों के विस्तृत तकनीकी अनुभव ने इस प्रकाशन को सुंदर और निर्दोष बनाने की दिशा में योगदान दिया है, यद्यपि श्री घोष स्वयं भी जानते हैं कि इस संबंध में समय रहते और भी क्या-कुछ हो सकता था।

भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन से इस योजना के क्रियान्वयन में हमें सहज सहायता और मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ है। प्रत्येक कठिनाई के निराकरण की उनकी तत्परता और मानदण्डों की रक्षा का उनका आश्रह हमारी पूँजी है।

मूर्तिदेवी ग्रंथमाला की स्थापना के समय से ही इसके संपादक और अब ज्ञानपीठ के ट्रस्टी भी, डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपर्योग ने भूलपाठों के सम्पादकाण आदि ने वो सहायता दी है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

जैन इतिहास, कला और साहित्य के भर्मल विद्वान् डॉ० ज्योतिश्चसाद जैन, लखनऊ, ने प्रारंभ के अनेक अध्यायों का अध्ययन करके अपनी टिप्पणियाँ दीं, जिनका यथासंभव उपयोग हमने किया है। वे धन्यवाद के अधिकारी हैं।

मूल अंग्रेजी ग्रंथ के लिए जिन विद्वानों ने लेख भेजे, उनके प्रति हमारा आभार ! पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग के मित्रों ने अपने सहयोग द्वारा हमें उपकृत किया है।

यह ग्रंथ जो आपके हाथ में है, वास्तव में मूल अंग्रेजी ग्रंथ का अनुवाद है। अनुवाद सदा ही कठिन होता है, विशेषकर कला-विषयक ग्रंथ का जिसमें वाक्यों की गठन को सुलझाना, तकनीकी शब्दों के हिन्दी पर्यायों को खोजना, उनके अर्थ के प्रति आश्वस्त होना, भाषा को बोधगम्य बनाते हुए भी मूल के वाक्य-विन्यास और ध्वनि की सूक्ष्मता को सुरक्षित रखना आदि दुष्कर तत्त्वों को ध्यान में रखना पड़ता है। इस ग्रंथ के अनुवाद की दिशा में कितने व्यक्तियों के साथ सम्पर्क किया गया, कितने प्रयोग किये गये और अंततोगत्वा किस प्रकार संशोधन की प्रक्रिया में प्राप्त पूरे-पूरे अनुवाद के रूप को बदल देता पड़ा है। इसका अनुमान भुक्त-भोगी ही लगा सकते हैं। फिर भी संतोष कहीं होता है ? कला जैसा गूढ़ विषय और कलाकार द्वारा निरूपित कलाकृति की सूक्ष्म विशेषताओं को दाणी देनेवाली अंग्रेजी शब्दावली ने अनुवाद की प्रक्रिया को समय की सीमा की दृष्टि से और भी दुसराएँ बना दिया। रातदिन के श्रम, यत्किञ्चित् ज्ञान और संस्कार के अवदान के कारण ही वह

संभव हो पाया कि निवाण महोत्सव ग्रंथ की पुण्यदायिती महावीर जयन्ती पर यह ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशित हो गया। भिन्न-भिन्न अध्यार्थों का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने अनुवाद किया है, अतः संशोधन के सभी यथासंभव एकरूपता लाने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रंथ की पाद-टिप्पणियों का प्रस्तुतीकरण भारतीय मानक संस्था द्वारा निर्धारित नियमों (भानक संख्या IS : 2381—1963) के अनुसार किया गया है जो पुस्तकालय-विज्ञान की कुछ मिनी-चुनी पुस्तकों को छोड़कर भारतीय प्रकाशन-जगत में प्रथम प्रयास हैं।

अनुवादकों में श्री राजमल जैन, श्री गोपीलाल अमर और डॉ. जयदीश चन्द्रिकेश के नाम चिन्हित रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुवाद-कार्य में जिनका सहयोग आंशिक रूप से प्राप्त हुआ है, वे हैं—श्री रमेशचन्द्र शर्मा, श्री हीरा प्रसाद चिपाठी, श्री राधाकान्त भारती, और श्रीमती शोभिता जैन।

भारतीय ज्ञानपीठ के सहयोगियों में श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने कलान्तर के अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशन में तो सहयोग दिया ही, हिन्दी अनुवाद का मूल से भिलान और संशोधन की प्रक्रिया में भी हाथ बंटाया। उन्होंने ग्रंथ की अनुक्रमणिका तैयार की है जो ग्रंथ के तीसरे संड में जा रही है। उनकी कार्यक्षमता, गतिशीलता और निष्ठा सराहनीय है। प्रूफ-संचोधन वा अत्यंत कठिन काम ज्ञानपीठ के प्रकाशन-सहयोगी श्री भोलानाथ बिस्ब ने किया। अत्यल्प समय में प्रेस-कापी और प्रूफों के परिमार्जन का काम ज्ञानपीठ के सहयोगियों के सहारे संभव हो पाया है। व्यक्तिशः और सामूहिक रूप से वे सब सराहना और धन्यवाद के पात्र हैं। श्री गोपीलाल अमर और डॉ. गुलाबचन्द्र जैन निवाण-महोत्सव की अन्य प्रकाशन-योजनाओं में सहयोगी रहे हैं।

ग्रंथ के मुद्रक, कैक्सटन प्रेस के संचालक श्री ओमप्रकाश का प्रथम सराहनीय है कि उन्होंने इसने कभी सभी मुद्रण का इतना बड़ा दायित्व लेपरता के साथ निभाया। उन्हें तथा उनके सहयोगी संचालकों और प्रेस के कर्मचारी-बंग के प्रति हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करना मेरा कर्तव्य है।

यदि इस कलान्तर के तीनों खण्डों ने पाठकों को जैन कला के महत्व का दिखाना कराया, उनकी सांस्कृतिक रुचि में एक नया आयाम जोड़ा, और उन्हें मुख प्राप्त हुआ तो ज्ञानपीठ अपने इस प्रयास को सार्थक मानेगी। यों, भगवान् महावीर के पावन निवाण महोत्सव से श्रद्धांजलि के रूप में संबद्ध हो जाना, इस प्रकाशन के लिए कम-सौभाग्य की बात नहीं।

नई दिल्ली

महावीर जयन्ती, १९७५

लक्ष्मीचन्द्र जैन  
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ

## विषय-सूची

प्राक्कथन	...	...	...	...	पृष्ठ (७)
विषय-सूची	...	...	...	...	(१६)

### भाग ।

#### प्रास्ताविक

अध्याय ।	संपादक का अभियंता	...	...	...	...	3
	अमलानंद घोय					

अध्याय 2	पृष्ठभूमि और परंपरा	...	...	...	...	15
	मधुसुदन नरहर देशपाण्डे, महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली					

अध्याय 3	जैन धर्म का प्रसार	...	...	...	...	23
	डॉ० शांताराम भालचंद्र देव, अध्यक्ष, भारतीय आचेतिहास, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व विभाग, दक्षिण कॉलेज, पूर्वा					

अध्याय 4	जैन कला का उद्घास और उसकी आत्मा	...	...	...	...	37
	डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ					

अध्याय 5	जैन कला की अत्यारिक्त पृष्ठभूमि	...	...	...	...	43
	डॉ० अद्विनाथ नेमियाथ उपाध्ये, अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनविद्या स्नातिकोत्तर अध्ययन तथा लोक विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर					

### भाग 2

#### वास्तु-स्मारक एवं सूतिकला

300 ई० पू० से 300 ई०

अध्याय 6	मथुरा	...	...	...	...	51
	श्रीमती देवला मित्रा, निदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली					

## विषय-सूची

							पृष्ठ
अध्याय 7	पूर्व भारत	...	...	...	...	...	72
	श्रीमती देवला मिश्रा						
अध्याय 8	पश्चिम भारत	...	...	...	...	...	88
	डॉ० उमाकांत प्रेमानंद शाह, उप-निदेशक, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा						
अध्याय 9	दक्षिण भारत	...	...	...	...	...	96
	डॉ० र० चम्पकलक्ष्मी, असोशिएट प्रोफेसर, ऐतिहासिक अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली						

## भाग 3

### वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

300 से 600 रु०

अध्याय 10	पश्चिम भारत	...	...	...	...	...	111
	डॉ० नीलकण्ठ पुष्पबोतम जोशी, निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ						
अध्याय 11	पूर्व भारत	...	...	...	...	...	122
	डॉ० रमानाथ मिश्र, विडिटिंग फेलो, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एंडवांड स्टडीज, शिमला						
अध्याय 12	मध्य भारत	...	...	...	...	...	133
	डॉ० उमाकांत प्रेमानंद शाह						
अध्याय 13	पश्चिम भारत	...	...	...	...	...	139
	डॉ० उमाकांत प्रेमानंद शाह						

## भाग 4

### वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

600 से 1000 रु०

अध्याय 14	उत्तर भारत	...	...	...	...	...	149
	कृष्णदेव, भूतपूर्व निदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण; नई दिल्ली; तथा मुनीश्वरनगर जोशी, अधीक्षक पुरातत्त्व, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली						

**विषय-सूची**

		पृष्ठ
अध्याय 15	पूर्व भारत डा० प्रियतोष वल्ली, उप-निदेशक, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली	159
अध्याय 16	मध्य भारत कृष्णदेव	175
अध्याय 17	पश्चिम भारत कृष्णदेव	187
अध्याय 18	दक्षिणाध्य के. आर. श्रीविवासन, भूतपूर्व अधीक्षक पुरातत्व, मारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, मद्रास	191

\*

## चित्र-सूची

छायाचित्रों या रेखाचित्रों के शीर्षकों के आगे कोष्ठकों में कॉर्पोराइट के धारक का नाम दिया गया है। संग्रहालयों में कुछ छायाचित्र भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा बेजे हुए हैं। ऐसी सभी स्थितियों में कॉर्पोराइट का अधिकार संबंधित संग्रहालय तथा भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण का है। छायाचित्र के लिए केवल चित्र शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस सूची में शब्दों के निम्नलिखित संक्षिप्त रूप प्रयुक्त किये गये हैं :

पु सं म = पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा

भा पु स = भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली

रा सं ल = राष्ट्रीय संग्रहालय, लखनऊ

### छायाचित्र

#### अध्याय 6

- 1 मथुरा : आयाग-पट (पु सं म, क्यू-2) (भा पु स, सौजन्य पु सं म)
- 2 क मथुरा : स्तूप के प्रवेशद्वार का सरदल, (ए) पुरोभाग, (बी) पृष्ठभाग (रा सं ल, जे-535) (पु सं म)
- 3 व मथुरा : खण्डित आयाग-पट (रा सं ल, जे-255) (भा पु स, सौजन्य पु सं म)
- 3 मथुरा : शिल्पांकित किलापट्ट (रा सं ल, जे-250) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 4 मथुरा : वेदिका स्तंभ (रा सं ल, जे-283; बी, रा सं ल, जे-288; ती, रा सं ल, जे-282) (भा पु स, सौजन्य, रा सं ल)
- 5 मथुरा : वेदिका का कोण स्तंभ, चारों ओर का दृश्य (रा सं ल, जे-356) (भा पु स, सौजन्य, रा सं ल)
- 6 मथुरा : वेदिका सूचियाँ (तकिए) (ए, रा सं ल, जे-427; बी, रा सं ल, जे-422; सी, रा सं ल, जे-403; डी, रा सं ल, जे-365) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 7 मथुरा : वेदिका के उल्लेष (भा पु स, सौजन्य, रा सं ल)
- 8 मथुरा : वेदिका स्तंभ (ए, रा सं ल, जे-277; बी तथा सी, राष्ट्रीय संग्रहालय) ढी, पूष्ठ दृश्य (भा पु स, सौजन्य रा सं ल तथा राष्ट्रीय संग्रहालय)
- 9 क मथुरा : सोफान में प्रयुक्त एक वेदिका स्तंभ (पु सं म, 14.369) (पु सं म)
- 9 व मथुरा : खण्डित सरदल (ए, रा सं ल, जे-544; बी, रा सं ल, जे-547) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

त्रिवृत्सूची

- 10 क मधुरा : प्रवेशद्वार के टोड़े, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग (रा सं ल जे-593 ई) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- ख प्रवेशद्वार के टोड़े, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग (रा सं ल, जे-593 ई) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 11 क मधुरा : सरदल का टोड़ा (रा सं ल, जे-594) (रा सं ल)
- ख मधुरा : तोरण स्तंभ, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग (रा सं ल, जे-532) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 12 मधुरा : खण्डित तोरण शीर्ष, पुरोभाग (राष्ट्रीय संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य राष्ट्रीय संग्रहालय)
- 13 मधुरा : खण्डित तोरण शीर्ष, पृष्ठ भाग (राष्ट्रीय संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य राष्ट्रीय संग्रहालय)
- 14 मधुरा : आयाग-पट (रा सं ल, जे-250) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 15 मधुरा : आयाग-पट (पु सं स, 47.49) (गा पु स, सौजन्य पु सं म)
- 16 मधुरा : आयाग-पट (रा सं ल, जे-248) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 17 मधुरा : तीर्थकर-मूर्ति (रा सं ल, जे-15) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 18 मधुरा : सर्वतोभविका प्रतिमा, दो ओर का हस्त (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 19 मधुरा : आर्यवती वक्षी (रा सं ल, जे-1) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)
- 20 भधुरा : सरस्वती (रा सं ल, जे-24) (भा पु स, सौजन्य रा सं ल)

अध्याय 7

- 21 क लोहानीपुर : तीर्थकर-मूर्ति का धड़ (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)
- ख लोहानीपुर : तीर्थकर-मूर्ति का धड़ (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)
- 22 क चौसा : तीर्थकर कांस्य-मूर्ति (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)
- ख चौसा : क्रृष्णमताय, कांस्य-मूर्ति (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)
- ग चौसा : अकोक वृक्ष तथा धर्म-बाहु, कांस्य निर्मिति (भा पु स, सौजन्य पटना संग्रहालय)
- 23 उदयगिरि : गुफा सं० 9, बाहरी भाग (भा पु स)
- 24 उदयगिरि : गुफा सं० 9, निचला तल, उदयगि-निर्मिति, पूजा-हस्त (भा पु स)
- 25 उदयगिरि : गुफा सं० 1, बाहरी भाग (भा पु स)
- 26 उदयगिरि : गुफा सं० 3, बाहरी भाग (भा पु स)
- 27 उदयगिरि : गुफा सं० 3, तोरण शीर्ष स्थित (कल्प) वृक्ष-शूला (भा पु स)
- 28 उदयगिरि : गुफा सं० 3, तोरण शीर्ष पर मन-लक्ष्मी (भा पु स)
- 29 उदयगिरि : गुफा सं० 1, निचला तल, मुख्य भाग, द्वितीय भवन का शिल्पांकन (भा पु स)

### चिन्ह-सूची

- 30 उदयगिरि : गुफा सं० 1, निचला तल, दाहिना भाग, बरामदे की पिछली भित्ति, संगीतकारों से विरी नर्तकी (भा पु स)
- 31 उदयगिरि : गुफा सं० 1, निचला तल, दाहिना भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाङ्कियाँ (भा पु स)
- 32 क उदयगिरि : गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे को पिछली भित्ति की शिल्पाङ्कियाँ (भा पु स)
- ख उदयगिरि : गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे को पिछली भित्ति की शिल्पाङ्कियाँ (भा पु स)
- 33 क उदयगिरि : गुफा सं० 1, ऊपरी तल, मुख्य भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाङ्कियाँ (भा पु स)
- ख उदयगिरि : गुफा सं० 10, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाङ्कियाँ (भा पु स)
- 34 उदयगिरि : पर्वत जिल्हर पर आर्षवृत्ताकार मंदिर (भा पु स)
- 35 उदयगिरि : पास्त्र भित्ति से सधा हुआ ढलुबा नार्ग (भा पु स)
- 36 क उदयगिरि : यक्षी (भा पु स)
- ख उदयगिरि : यक्षी, पृष्ठ भाग (भा पु स)

### अध्याय 8

- 37 प्रिस ऑफ बेल्स संग्रहालय : पाल्बन्धनाथ, कांस्य मूर्ति (प्रिस ऑफ बेल्स संग्रहालय)
- 38 जूनागढ़ : बाबा प्यारा की गुफा (भा पु स)

### अध्याय 9

- 39 क मांगुलम : अभिलेख का एक अंश (भा पु स)
- ख शित्तन्धवासल : जैन मुनियों की आवास-गुफा (भा पु स)
- 40 शित्तन्धवासल : अभिलेखांकित प्रस्तररक्षण (भा पु स)
- 41 तेनिमलै : जैन मुनियों की आवास-गुफा, अलग पड़ी चट्टान पर उस्कीपैरकर्ती शिल्पांकन (भा पु स)
- 42 पुग्लूर : जैन मुनियों की आवास-गुफा (भा पु स)

### अध्याय 10

- 43 मधुरा : तीर्थकर मूर्ति (रा सं ल, जे-104) (रा सं ल)
- 44 मधुरा : तीर्थकर मूर्ति (रा सं ल, जे-118) (रा सं ल)
- 45 मधुरा : तीर्थकर मूर्ति (रा सं ल, ओ-181) (रा सं ल)
- 46 मधुरा : तीर्थकर कृष्णनाथ (पु सं भ, बी-7) (पु सं भ)

चित्र-मूर्ती

- 47 क भगुरा : तीर्थकर नेमिनाथ (रा स ल, जे-121) (रा सं ल)  
 ख भगुरा : तीर्थकर ऋषभनाथ (पु सं म, 12.268) (पु सं म)  
 48 भगुरा : तीर्थकर मूर्ति का शीर्ष (पु सं न, बी-44) (पु सं म)  
 49 भगुरा : तीर्थकर का क्षीर्ष (पु सं म, 33.2348) (पु सं म)  
 50 भगुरा : तीर्थकर मूर्ति का क्षीर्ष (रा सं ल, जे-164) (रा सं ल)

अध्याय 11

- 51 क राजगिर : सोनभण्डार, पश्चिमी गुफा, बाहरी भाग (भा पु स)  
 ख राजगिर : सोनभण्डार, पूर्वी गुफा, दक्षिणी भित्ति पर तीर्थकरों की उल्कीण मूर्तिर्धा (भा पु स)  
 52 राजगिर : सोनभण्डार, पश्चिमी गुफा, अन्तःभाग, फर्ने पर चौमूली, परबर्ती शिल्प (भा पु स)  
 53 राजगिर : बैभार पर्वत के नंदिर में तीर्थकर नेमिनाथ (भा पु स)  
 54 क चौसा : तीर्थकर चन्द्रप्रभ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)  
 ख चौसा : तीर्थकर चन्द्रप्रभ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)  
 55 क चौसा : तीर्थकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)  
 ख चौसा : तीर्थकर पाश्वर्नाथ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)  
 56 चौसा : तीर्थकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)

अध्याय 12

- 57 क दुर्जनपुर : तीर्थकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य विदिशा संग्रहालय)  
 ख दुर्जनपुर : ऊपर वाली मूर्ति के पादपीठ पर अभिलेख (भा पु स, सौजन्य विदिशा संग्रहालय)  
 58 दुर्जनपुर : तीर्थकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य विदिशा संग्रहालय)  
 59 दुर्जनपुर : तीर्थकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य विदिशा संग्रहालय)  
 60 क उदवगिरि : गुफा भित्ति पर उल्कीण तीर्थकर तथा इनके पास्वर्व में तीर्थकर पाश्वर्नाथ की एक पहचान-कालीन प्रतिमा (उ. प्र. शाह, चित्र राजकमल स्टूडियो, विदिशा)  
 ख घालियर : शैलोत्कीर्ण तीर्थकर मूर्तियाँ (पुरातत्त्व विभाग, मध्यप्रदेश)  
 61 विदिशा : तीर्थकर मूर्ति (घालियर संग्रहालय) (पुरातत्त्व विभाग, मध्य प्रदेश)  
 62 सीरा पहाड़ी : तीर्थकर महाक्षेत्र (भा पु स)  
 63 सीरा पहाड़ी : तीर्थकर ऋषभनाथ (भा पु स)  
 64 सीरा पहाड़ी : तीर्थकर पाश्वर्नाथ (भा पु स)

## चित्रसूची

### अध्याय 13

- 65 क अकोटा : तीर्थकर ऋषभनाथ, कांस्य मूर्ति (बड़ोदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)  
 ख अकोटा : जीवन्त स्वामी, कांस्य मूर्ति (बड़ोदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)
- 66 क अकोटा : ऋषभनाथ का शीर्ष, (बड़ोदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)  
 ख अकोटा : हीरेकर की कांस्य-मूर्ति का शीर्ष (बड़ोदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)
- 67 क बलभी : कांस्य तीर्थकर मूर्तियाँ (प्रिस आँफ वेल्स संग्रहालय) (भा. पु. स. सौजन्य प्रिस आँफ वेल्स संग्रहालय)  
 ख अकोटा : यक्ष और यक्षी के साथ तीर्थकर ऋषभनाथ की कांस्य मूर्ति (बड़ोदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)
- 68 अकोटा : जीवन्त स्वामी, कांस्य मूर्ति (बड़ोदा संग्रहालय) (उ. प्रे. शाह)

### अध्याय 14

- 69 धानेराव : महावीर मंदिर (भा. पु. स.)  
 70 धानेराव : महावीर मंदिर, बहिरांग, (उठान) (भा. पु. स.)  
 71 धानेराव : महावीर मंदिर, खरोखा (भा. पु. स.)  
 72 धानेराव : महावीर मंदिर, विलान (भा. पु. स.)  
 73 ओसिया : महावीर मंदिर, गर्भगृह का द्वार (भा. पु. स.)  
 74 ओसिया : महावीर मंदिर (भा. पु. स.)  
 75 ओसिया : महावीर मंदिर, खरोखा (भा. पु. स.)  
 76 नीलकण्ठ : तीर्थकर मूर्ति (भा. पु. स.)  
 77 क नीलकण्ठ : तीर्थकर मूर्ति (भा. पु. स.)  
 ख नीलकण्ठ : तीर्थकर मूर्ति (भा. पु. स.)  
 78 मथुरा संग्रहालय : चक्रेश्वरी यक्षी (पु. सं. म.)  
 79 मथुरा संग्रहालय : अम्बिका यक्षी (पु. सं. म.)  
 80 क लखनऊ संग्रहालय : तीर्थकर सुविभिन्नाथ (रा. सं. ल.)  
 ख लखनऊ संग्रहालय : तौरण शीर्ष का एक भाग (रा. सं. ल.)

### अध्याय 15

- 81 क सुरोहोर : तीर्थकर ऋषभनाथ (राष्ट्रीय संग्रहालय)  
 ख नालगोड़ा : अम्बिका यक्षी, कांस्य मूर्ति (राष्ट्रीय संग्रहालय)

- 82 क सात देउलिया : अष्टोपद-तीर्थ (स्टेट आर्क यॉलॉजिकल गैलरी, पश्चिम बंगाल)  
 ख सात देउलिया : मंदिर (शैक्षण्यनाथ सार्वज्ञ)
- 83 क अम्बिकानगर : तीर्थकर भृषभनाथ (भा पु स)  
 ख अम्बिकानगर : मंदिर (भा पु स)
- 84 क पाकबीरा : तीर्थकर शान्तिनाथ, अष्टोभाग (स्टेट आर्क यॉलॉजिकल गैलरी, पश्चिम बंगाल)  
 ख पाकबीरा : तीर्थकर पाइवनाथ, अष्टोभाग (स्टेट आर्क यॉलॉजिकल गैलरी, पश्चिम बंगाल)
- 85 क पोड़ासिंगढ़ी : तीर्थकर भृषभनाथ (राज्य ए रास्ट्रिक विभाग, उडीखा)  
 ख चरणपा : तीर्थकर ज्ञानिनाथ (भूदेश्वर संग्रहालय) (राज्य संग्रहालय भूदेश्वर) (भा पु स, सौभाग्य राज्य संग्रहालय, भूदेश्वर)
- 86 खण्डगिरि : गुफा सं० १, तीर्थकर पाइवनाथ और नेमिनाथ, अष्टोभाग में अंकित यक्षिणी (भा पु स)
- 87 खण्डगिरि : गुफा सं० ४, तीर्थकर अभिनन्दननाथ और सम्भवनाथ, अष्टोभाग में अंकित यक्षिणी (भा पु स)
- 88 मधूरभंज : तीर्थकर भृषभनाथ (राष्ट्रीय संग्रहालय)
- 89 क देवली : पंचायतन मंदिर (भा पु स)  
 ख राजगिर : दैभार पर्वत स्थित मंदिर (भा पु स)
- 90 क राजगिर : बहुरूपिणी यक्षी के साथ तीर्थकर मुनिसुग्रत (भा पु स)  
 ख राजगिर : दैभार पर्वत पर तीर्थकर भृषभनाथ (भा पु स)
- 91 क बिहार : अम्बिका यक्षी (नाहर संग्रह) (पी. सी. नाहर)  
 ख बिहार : यक्षी, काल्य मूर्ति (राष्ट्रीय संग्रहालय)
- 92 क बिहार : तीर्थकर चन्द्रप्रभ (भारतीय संग्रहालय)  
 ख सूरज गहाङ : शैलोत्कीर्ण तीर्थकर (भा पु स)

अध्याय 16

- 93 क कुण्डलपुर : मंदिर (भा पु स)  
 ख कुण्डलपुर : दो तीर्थकर मूर्तियाँ (नीरज जैन)
- 94 क कुण्डलपुर : तीर्थकर अभिनन्दननाथ (नीरज जैन)  
 ख कुण्डलपुर : तीर्थकर पाइवनाथ (नीरज जैन)
- 95 क पिथौरा : पतियानी देवी का मंदिर (तीरज जैन)  
 ख पिथौरा : पतियानी देवी के मंदिर का सरदाज (नीरज जैन)

चित्र-सूची

- 96 विश्वेश : पतियानी देवी का मंदिर, बारपाल (नीरज जैन)
- 97 क जबलपुर : तीर्थकर पर्मनाथ (नामपुर संग्रहालय) (भा पु स, सौजन्य नामपुर संग्रहालय)
- ख तेवर : तीर्थकर मूर्ति (वीरज जैन)
- 98 क तेवर : अभि-लेखांकित यक्षिणी (नीरज जैन)
- ख गंधाकल : तीर्थकर मूर्तियाँ (भा पु स)
- 99 रायपुर संग्रहालय : सहस्रकूट (भा पु स, सौजन्य रायपुर संग्रहालय)
- 100 क खारसपुर : तीर्थकर ओर यक्षिणी (भा पु स)
- ख खारसपुर : मालादेवी मंदिर, अलंकृत कीर्तिमूर्ति (भा पु स)
- 101 खारसपुर : मालादेवी मंदिर (भा पु स)
- 102 खारसपुर : मालादेवी मंदिर, मुख्यमण्डप (भा पु स)
- 103 खारसपुर : मालादेवी मंदिर, शिखर (भा पु स)
- 104 खारसपुर : मालादेवी मंदिर, जंघा (भा पु स)
- 105 देवगढ़ : मंदिर सं० 18 (भा पु स)
- 106 देवगढ़ : मंदिर सं० 21, आंतर-शिल्पाळिन (भा पु स)
- 107 देवगढ़ : मंदिर सं० 12, बायो भाग, प्राकार में जड़ दी गयी तीर्थकर मूर्तियाँ
- 108 देवगढ़ : मंदिर सं० 12, शिखर और परवर्ती छतरी (भा पु स)

अध्याय 17

- 109 अकोटा : अस्तिका यक्षी, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)
- 110 अकोटा : तीर्थकर पाश्चनाथ, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)
- 111 अकोटा : असुरिश्वति-कांस्य पट्ट (बड़ौदा संग्रहालय)
- 112 अकोटा : चमरधारिणी, कांस्य मूर्ति (बड़ौदा संग्रहालय)

अध्याय 18

- 113 क बादामी : जैन गुफा-मंदिर, बाहरी भाग (भा पु स)
- ख बादामी : जैन गुफा-मंदिर, अंतःभाग (भा पु स)
- 114 क बादामी : जैन गुफा-मंदिर, गोमटेश्वर (भा पु स)
- ख बादामी : जैन गुफा-मंदिर, तीर्थकर कृष्णभनाथ (भा पु स)

चिंत-सूची

- 115 बादामी : जैन गुफा-मंदिर, तीर्थकर पालवेत्ताश (भा पु स)
- 116 क ऐहोले : मैनाक्षित गुफा-मंदिर, बाहरी भाग (भा पु स)  
ख ऐहोले : जैन गुफा-मंदिर, बाहरी भाग (भा पु स)
- 117 एलोरा : इन्द्र सभा (गुफा सं० 32), बाहरी भाग (भा पु स).
- 118 क एलोरा : इन्द्र सभा (गुफा सं० 32), तीर्थकर विस्तीर्ण (भा पु स)  
ख एलोरा : सोमटेश्वर (गुफा सं० 32) (भा पु स)
- 119 : एलोरा : स्तंभ गुफा सं० 32 (भा पु स)
- 120 क एलोरा : गुफा सं० 33, बाहरी भाग (भा पु स)  
ख ऐहोले : मेगुटी मंदिर (भा पु स)
- 121 एलोरा : कुबेर गुफा सं० 33 (भा पु स)
- 122 एलोरा : अम्बिका यशी, गुफा सं० 33 (भा पु स)
- 123 एलोरा : तीर्थकर, गुफा सं० 33 (भा पु स)
- 124 एलोरा : अंतःभाग, गुफा सं० 33 (भा पु स)
- 125 एलोरा : विस्तार-मंदिर, गुफा सं० 33 (भा पु स)
- 126 पठडकल : जैन मंदिर (भा पु स)

## रेखा-चित्र

	पृष्ठ
1 मोहन-ओ-दड़ो : सेलखड़ी में उकेरी मुद्रा (भा पु स)	22
2 कंकाली टीसा : इट लिमिट स्टूप की रूपरेखा (स्थिथ के अनुसार) (भा पु स)	56
3 उदयगिरि एवं खण्डगिरि : गुफाओं की रूपरेखा (भा पु स)	78
4 उदयगिरि : पहाड़ी प्रधितथका पर अर्बन्दुस्ताकार भवन की रूपरेखा (भा पु स)	82
5 चूतागढ़ : बाधा व्यारा की गुफा, गुफा सं 'के' का प्रवेशद्वार (बजेस के अनुसार) (भा पु स)	93
6 वाराणसी : अनितनाथ की मूर्ति का तिर (रा सं ल . 49,199 (रा सं ल))	114
7 मथुरा : पादपीठों पर अंकित सिंह, 1-4, कुषाणकालीन (रा सं ल, जे-20, जे-30, जे-34, जे-26) ; 5-6 गुप्तकालीन (रा सं ल, जे-118, जे 121) (रा सं ल)	116
8 मथुरा : श्रीवस्त चित्त, 1-3 कुषाणकालीन (रा सं ल , जे-16, जे-36, जे-177); 4-6 गुप्तकालीन (रा सं ल, जे-188 ; पु सं भ, वी-6, वी-7) (रा सं ल)	121
9 देवगढ़ : मंदिरों की रूपरेखा (भा पु स)	184

## मुख्यपूर्ण चित्र

पन्ना, मध्यप्रदेश : शगवान् महाबीर, छठी शती ई० (नीरज जैन)

भाग ।

प्रास्ताविक

## अध्याय १

### संपादक का अभिमत

प्राच्यशोध के विकास और साहित्यिक प्रकाशनों में संलग्न सांस्कृतिक संस्था भारतीय झटन-पीठ के मंत्री ने सन् १९७१ के प्रारंभ में मुझसे यह अनुरोध किया कि मैं भगवान् महाबीर की पञ्चवीसवीं निर्वाण-शती के अवसर पर प्रकाशन के लिए प्रस्तावित ग्रंथ 'जैन कला और स्थापत्य' का संपादन करें। मैंने इस कार्य के लिए तुरंत ही अपनी स्वीकृति दे दी। यह इसलिए कि अब तक प्रकाशित ग्रंथों में यह अपने प्रकार का पहला ग्रंथ नियोजित था और कोई भी व्यक्ति इससे संबद्ध होकर प्रसन्नता का ही अनुभव करेगा। वैसे, भारतीय कला के इतिहास-ग्रंथों में जैन स्मारकों और मूर्तिकला को प्रमुख स्थान प्राप्त रहता है, और विभिन्न स्मारकों और मूर्तियों था इनके समूहों पर इक्के-दुक्के प्रबंध और लेख भी उपलब्ध हैं, किन्तु ऐसा कोई विस्तृत ग्रंथ कदाचित् ही हो जिसमें, अपने घर्म को सूर्त रूप देने के लिए जैन तत्त्वावधान में पहलविल, कला और स्थापत्य का ही पृथक् रूप से विवेचन हो। वर्तमान में, इस विषय से संबंधित जो सर्वेक्षण मिलते हैं, वे न केवल अपर्याप्त हैं अपितु कभी-कभी त्रुटिपूर्ण होने के साथ-ही-साथ उनका भुकाव किसी एक दृष्टिकोण के प्रति प्रकट होता है।

यद्यपि इस प्रकार के ग्रंथ के अधिकारी पर संदेह नहीं किया जा सकता, तदपि इसकी प्रतिपाद्य सामग्री की ऐकांतिक प्रकृति पर जोर देना बुद्धिमानी नहीं होगी। यह कल्पना करना कठिन है कि किसी भी जैन कलात्मक या वास्तुशिल्पीय कृति का संबंध भारतीय कला और स्थापत्य की मुख्य धारा से नहीं है या उसे इस धारा से अलग करके देखा जा सकता है। यह भी ठीक है कि जैन-घर्म की विशिष्ट धार्मिक और पौराणिक संकल्पनाओं ने ऐसे शिल्प-प्रकारों को जन्म दिया जो अन्य संप्रदायों की कलाकृतियों में नहीं पाये जाते; किन्तु तब भी, ये शिल्पांकन उस प्रदेश और काल की शैली के अनुरूप हैं जहाँ इनका निर्माण हुआ। इस प्रकार जहाँ एक और जैन पौराणिक धाराओं के विशिष्ट रूप — समवसरण, नंदीश्वर द्वीप, अष्टापद आदि की अनुकृतियाँ विशेष रूप से जैन हैं,

वहीं दूसरी ओर उनमें भी उस प्रदेश की तत्कालीन शैली को अपनाया गया है जहाँ इनका निर्माण हुआ।

सोहन-जो-दब्बो से प्राप्त मुहर (खड़िया मिही की मुद्रा) पर उकेरी कायोत्सर्वं मूर्ति पर यदि हम अभी विचार न करें तो भी लोहानीपुर की गौरेंगुलिं तीर्थकर प्रतिमाएँ (प्रध्याय ७) यह सूक्षित करती हैं कि इस बात की सर्वाधिक संभावना है कि जैनधर्म पूजा-हेतु प्रतिमाओं के निर्माण में बौद्ध और ब्राह्मणधर्म से आगे था। बौद्ध या ब्राह्मण धर्म से संबंधित देवताओं की इतनी प्राचीन प्रतिमाएँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं, यद्यपि इन धर्मों की समकालीन या लगभग समकालीन यथा-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनकी शैली पर लोहानीपुर की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। महावीर के समय में इस प्रकार की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा थी, इसका प्रमाण नहीं मिल सका है। स्वयं महावीर के समकालीन बीतभयपतन के नृपति उद्यान की रानी (जिसके बारे में अन्य किसी स्रोत से हमें जानकारी नहीं है) चन्दनकाष्ठ से निर्मित तीर्थकर (अध्याय ८) की पूजा करती थी। इस आख्यान का प्रतिरूप बुद्ध के समकालीन कौशाम्बी के उदयन संबंधी आख्यान में मिलता है कि उसने इसी सामग्री से निर्मित<sup>1</sup> बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की थी। यहाँ तक कि दोनों शासकों के नामों की साम्यता भी संभवतः आकस्मिक न हो।

मथुरा से प्राप्त तीर्थकरों और यक्षियों की परवर्ती मूर्तियाँ उत्कर्षशील मथुरा शैली की विशिष्ट कृतियाँ हैं। उनमें प्रतिमा-निर्माण विषयक जो भी साङ्गोपाङ्गता पायी जाती है, उसे छोड़कर उनमें ऐसी कोई भिन्न बात नहीं है जो उन्हें अन्य संप्रदायों की समकालीन मूर्तियों से, शैली की दृष्टि से, पृथक् सिद्ध करे। यही बात अन्य सभी प्रदेशों और परवर्ती शताब्दियों की कला पर भी लागू होती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि मथुरा में भी यक्षियों की मूर्तियों में हम प्रतिमा-निर्माण-विषयक सामान्य रूप-विन्यास-विवरण ही पाते हैं, किन्तु वे परवर्ती युगों में विकसित होते जाते हैं। तीर्थकरों की मूर्तियों में इस प्रकार के विवरण अधिकांशतः चिह्नों (लांछनों) और यक्ष-यक्षियों को सम्मिलित करने तक सीमित हैं। ये चिह्न पहचान के लिए होते हैं। इनके प्रयोग के संबंध में गुप्त-युग में भी विभिन्नता रही है। तीर्थकरों की परिकल्पना में उत्कट संयम का समावेश है अतः उनकी मूर्तियों के निर्माण में अलंकरण की गूजाइश नहीं रहती, किन्तु सारनी की यह बात सामान्यतः बुद्ध प्रतिमाओं के बारे में भी सही है। तो भी, अलंकरण की यह इच्छा महावीर की जीवन्तस्वामी प्रतिमा की एक नयी संकल्पना करके पूर्ण की गयी। इसी प्रकार की कल्पना का उदाहरण पूर्वी भारत की बुद्ध की मुकुटधारी मध्यकालीन प्रतिमा है।

1 वील (सेमुअल). बुद्धिस्त रिकार्ड्स ऑफ वेस्टर्न चल्ड. 1. 1884. सन्दर्भ. पृ 235. / ज्ही-ली. लाइफ ऑफ ह्येनसोन. 1882. लन्दन. पृ 91.

मूर्तिकला विषयक संकल्पनाओं का अन्य दिक्षाओं में भी पारस्परिक प्रभाव पड़ा। ऐसे धर्मचक्र की संकल्पना जैनधर्म और बौद्धधर्म<sup>1</sup> दोनों ही में समान रही होगी, किन्तु हिरन के पार्श्व में उसे प्रदर्शित करने का चलन केवल बीड़ों में ही विशेष रूप से था, जो कि मृगदाव में बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश के दृश्य का स्मरण दिलाता था। एवं अध्ययनीन तीर्थकर प्रतिमाओं में भी हम यह संयोग पाते हैं। खण्डगिरि की गुफा-द में गणेश मूर्ति से पहले सात यक्षियों का दृश्य ब्राह्मणधर्म की सप्तमातृका-तमूह का स्मरण करता है; और जिला पुरुलिया के पाकवीर नामक स्थान (अध्याय १५) में प्राप्त तीर्थकर के पाद-पीठ पर लिंग की किंवदनता धार्मिक और मूर्तिकला विषयक समन्वय की अपनी कहानी कहते हैं। और, न ही ऋषभनाथ और शिव का जटा और बैल से संबंधित होना विलकूल ही आकस्मिक है।

संभवतः लोहानीपुर की मीर्यकालीन तीर्थकर प्रतिमाएँ एक ऐसे इट-निर्मित जिनालय में प्रतिष्ठित की गयी थीं जिसके स्वरूप के बारे में हमें कुछ भी जात नहीं है। मथुरा के प्राचीन ऐतिहासिक जिनालय आज हमें अपने टूटे-फूटे भागों की विद्यमानता से ही जात हैं (अध्याय ६)। जिस काल से हमें पूर्ण रूप से निर्मित मंदिर मिलते हैं, उन्हें हम अन्य धर्मों के मंदिरों की आयोजना और शिल्प से भिन्न नहीं पाते। और, न ही शिल्पकास्त्रों में यह बताया गया है कि जैन मंदिरों की कौन-सी अपनी भवन-निर्माण संबंधी विशेषताएँ होती हैं, क्योंकि स्पष्टतः ऐसा विवरण देने की आवश्यकता ही नहीं थी।

यह ठीक है कि जैन, ब्राह्मण और बौद्ध मंदिरों में जो अंतर परिलक्षित होता है वह स्वभावतः मुख्य मंदिर में प्रतिष्ठित देवता, पार्श्वदर्ती देवी-देवता तथा अपनी-अपनी पौराणिक कथाओं के अनुसार मूर्तियों के तत्क्षण आदि के कारण होगा ही, किन्तु निर्माण संबंधी कोई वास्तविक अंतर नहीं है जो संप्रदाय विशेष की मान्यताओं एवं परंपराओं के कारण ही हो। उदाहरणार्थ, खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर की योजना वहाँ के ब्राह्मण मंदिरों से भिन्न ही सकती है, किन्तु वहाँ के ब्राह्मण मंदिर स्वयं भी एक दूसरे से भिन्न है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मंदिरों की योजनाओं में जो भिन्नता है, वह पूजा की विभिन्न पद्धतियों के कारण है, जैसा कि कुछ लोगों का मत है।<sup>2</sup> उक्त स्थान के सभी मंदिरों पर खजुराहो-कला की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

1 कहा जाता है कि ऋषभनाथ ने उक्तशिला में धर्मचक्र का प्रबन्धन किया था इसलिए कुछ विद्वानों के अनुसार यह मुख्यतः एक जैन प्रतीक है। [ कालिसागर, खजुराहो का वैभव, द्वितीय संस्करण, बनारस, 1959, पृ 59] किन्तु इस भार्यान का जिसमें यह कथा भी सम्मिलित है कि ऋषभवेद ने यवन देश (आयोनिया, पदिक्षमी एशिया का एक यूनानी देश) का ज्ञान किया था, पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक तथ्यों से खण्डन होता है क्योंकि पुरातात्त्विक दृष्टि से उक्तशिला छठी-पाँचवीं शती ई० पू० से पहले अस्तित्व में नहीं आया था और आयोनिया-राज्य आठवीं-सातवीं शती से पहले स्थापित नहीं हुआ था, जबकि अनुशुति यह है कि ऋषभनाथ अल्यम्भत प्राचीन युग में हुए थे।

2 जनास (एलिकी) तथा ओबोये (जीतीन), खजुराहोज़ यैवेम्‌हागे, 1960, पृ 147-48. लेखक स्वयं ही वह स्वीकार करते हैं कि खजुराहो में स्थित जैन मंदिरों में भी परस्पर शिल्पशत अंतर है।

धार्मिक भवनों के वास्तुशिल्पीय अलंकरण में किसी प्रकार का धर्मगत अंतर नहीं है। सभी धर्मों की मूर्तियों में जीवनानन्द की एक ही प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है, केवल उसको छोड़कर जिनकी प्रकृति नितान्त धार्मिक है। उनमें यक्षी, सेविका, नायिका, अप्सरा, सुर-सुन्दरी या अलस-कन्याएँ, जो भी उन्हें कहें, वे अकेली या मिथुनों के रूप में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं और किसी भी धर्म के संघर्षप्रेरक उपदेश तथा आचार-नियम देवालयों में उनकी विद्यमानता को रोक नहीं सके। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही वे सर्वत्र विद्यमान हैं, जैसा कि सांची के बौद्ध स्तूपों या मथुरा के अवशेषों और जैन स्तूपों की लघु अनुकृतियों से सिद्ध है। मथुरा में एक मूर्तियुक्त स्तूप पर तमन यक्षियाँ विद्यमान हैं और उन्हें वेदिका-स्तम्भों पर कर्मोद्दीपक भज्जीमाओं में देखा जा सकता है। वैसे अह सत्य है कि जैन प्रतिमा-विज्ञान किन्हीं तांत्रिक, ब्राह्मण और बौद्ध देवी-देवताओं के संदर्भ में चित्रित ब्रह्मण्ड-व्यापी कामशक्ति को अंकित करने की अनुमति नहीं देता, फिर भी खजुराहो तथा अन्य स्थानों के मध्ययुगीन जैन मंदिरों में कामुक-युग्म छवरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। छत्तीसगढ़<sup>1</sup> में आरंग नामक स्थान में पटियल के शिल्प पर तो वे अत्यन्त मुक्त रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इनसे सिद्ध होता है कि ऐसे चित्रणों पर तांत्रिकबाद या कौल पाशुपतवाद आदि का प्रभाव ढूँढ़ने का प्रयास निरर्थक परिश्रम ही है। कलाकार ने अपने आपको उस धर्म के कठोर नियमों से निरपेक्ष होकर, जिसकी सेवा में वह कार्यरत था, अपने युग के उस शिल्प-विधान को अपनाया, जिसे न केवल उसका युग पूरी मान्यता प्रदान करता था, अपितु जिसमें वह स्वयं भी अनन्द लेता था। उसी प्रकार एक और जहाँ धर्म-ग्रन्थ जैन भिक्षुओं को चित्रित आवासों में रहने का निषेध करते थे,<sup>2</sup> वहीं दूसरी ओर साथु लोग अपने गुफा-मंदिरों में आनन्दप्रद चित्रकारी भी सह लेते थे। इस प्रकार की थी कलात्मक अलंकरण की प्रेरणा !

बहुधा अलंकृत और अपने शिखर में चारों ओर एक ही तीर्थकर की प्रतिमाओं से युक्त मानस्तम्भ जैन मंदिरों के सम्मुख, प्रायः पाये जाते हैं। विशेष रूप से दक्षिण भारत में, इनमें ब्राह्मण्ड भवित्वों के सामने स्थित और गर्भगृह में प्रतिष्ठित देवता के प्रतीक से युक्त व्यज-स्तम्भों का प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। इस प्रकार का एक प्राचीन उदाहरण ई० पू० द्वूसरी शती का बेसनगर (विदिशा) का प्रसिद्ध गरुड़ स्तम्भ है।<sup>3</sup> वस्तुतः, यह अनुमान किया जाता है कि सब्राद् अशोक द्वारा निर्मित धार्मिक भवनों के सामने अशोक-स्तम्भ आवश्यक रूप से बनाये गये थे।<sup>4</sup>

1. जनास तथा ओबोये, पूर्वोक्त, पृ. 151. / भारती, रिसर्च बुलेटिन ऑफ द कॉलेज ऑफ इण्डियालॉजी, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, 3; 1959-60; पृ. 48 में एल. के. किशाणी. / कान्तिसागर, पूर्वोक्त, पृ. 125.

2. कान्तिसागर, पूर्वोक्त, पृ. 24-25.

3. हाल के उत्तरदान से एक ही पंक्ति में अन्य स्तंभों की नींव और उनके पास ही में एक मंदिर के पुरावशेष मिले हैं। इष्टिवृत्त आर्कियालॉजी-ए रिव्यू, 1964-65, 1965, नई दिल्ली, पृ. 19. / वही, 1965-66, 1966, पृ. 23.

4. थोष (ए), पिलर्स इरॉक अशोक, बैयर एण्ड एसेज, ईस्ट एण्ड वेस्ट, न्यू सीरीज, 17, 1967, रोम, पृ. 273-75.

एक विशिष्ट प्रकार की जैन मूर्ति सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के रूप में निर्मित होती है जिसे सामान्यतः चौमुखी कहा जाता है और जिसका सबसे प्राचीन रूप भग्नुरा से प्राप्त हुआ है। इसमें साधारणतः एक चौकोर स्तंभ पर चारों ओर जिन-प्रतिमा उत्कीर्ण की जाती है। चौमुखी की एक प्रकार की संकल्पना बौद्धों को भी जात थी; लघु बौद्ध स्तूपों पर कभी-कभी बुद्ध की प्रतिमा का और बौद्ध देवताओं का अंकन स्तूपों के चारों ओर के आलों में पाया जाता है, यद्यपि उनका मूर्त्तन एक और भी हुआ है।<sup>1</sup> यहाँ तक कि सांची के विस्थात स्तूप को भी चुप्त-युग में प्रत्येक कोने में एक-एक बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना द्वारा चौमुखी का-सा स्वरूप प्रदान किया गया था।

जैन साहित्य में स्तूपों का बहुतता से उल्लेख मिलता है, किन्तु अभी तक केवल ईसा के तत्काल पहले और बाद की शतियों के मधुरा स्थित कंकाली टीके या एकाधिक स्तूपों के ही पुरावशेष मिले हैं। इन स्तूपों के विभिन्न रूप और स्तूप-रूप के त्वारे कर्त्तव्य ही होई ऐसी विशेषता प्रदर्शित करते हैं जो समकालीन बौद्ध स्तूपों में परिलक्षित न हो। इसी प्रकार स्वरूप और समय की दृष्टि से जैन स्तूपों की उत्पत्ति बौद्ध स्तूपों से भिन्न नहीं रही होगी। प्राचीन जैन स्तूपों के उल्लेख (थथा, वैशाली का एक स्तूप जो कि राम के समकालीन माने जानेवाले बीसवें तीर्थकर मुनिसुन्नत को समर्पित था) के समान ही बौद्ध साहित्य में भी स्तूपों के उल्लेख पाये जाते हैं। नेपाल की तराई के निगिलवा स्थान में बुद्ध के पूर्ववितार कनकमुनि के स्तूप का प्रमाण अशोक के शिलालेख से मिलता है। भग्नुरा के जैन स्तूप (अध्याय ६) के लिए प्रयुक्त 'देवनिर्मित' विशेषण हमें शायद बहुत अधिक प्राचीनकाल तक न ले जाये। इस बाब्द से केवल यही जात होता है कि यह प्राचीन स्तूप भक्तों द्वारा बड़ी श्रद्धा से देखा-माना जाता था।

ऊपर की पंक्तियों में बहुत कुछ यह दर्शाया जा चुका है (यदि इसकी कोई आवश्यकता रही हो तो) कि जैन मूर्तिकला और स्थारकों को भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की प्रमुख निधि से न तो अलग ही किया जा सकता है और न ही ऐसा किया जाना चाहिए, क्योंकि वे इस निधि का एक आवश्यक और अभिन्न अंग हैं। अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को दृश्य रूप देने की पूर्ति के लिए जैन धर्मावलंबियों ने भी विकास के उसी पथ का सभी युगों में अनुगमन किया जिसका अन्य धर्मों के अनुयायियों ने। ही, अपनी पीराणिक कथाओं और धार्मिक विश्वासों में जो कुछ भी विशेष था, उसे भी उन्होंने मूर्त रूप दिया। किन्तु इस परिप्रेक्ष्य में भी वे भारतीय कला और स्थापत्य के विकास के मुख्य मार्ग को छोड़कर अलग नहीं गये। पश्चिम भारत में निर्मित जैन मंदिर मध्ययुगीन मंदिरों में

1. पहाड़पुर मंदिर की दूसरी वेदिका पर चार विस्तृत वेदकुलिकाएँ हैं, जिनमें कभी प्रतिमाएँ स्थापित रही होंगी। इनकी विद्यमानता के आधार पर इस मंदिर का सांस्कृत चौमुखी से किया गया है। सरस्वती (इस के), स्टूगेस्ट फॉर एस्पायर, सम्पा : आर सी गजूमदार तथा ए डी पुसालकर, 1957, अम्बई, पृ 637-38. लेकिन इसमें वेदिकायुक्त भाग के क्षीर्ण की मूर्त्य बेदी पर व्याप्त नहीं दिया गया है जिसकी विद्यमानता का सरलता से अनुगमन इटों के चबूतरे को घेरनेवाली पर्याप्त रूप से भोटी दीवारों की इटों की बौकोर रेखा से होता है। दीक्षित (के एव), एक्सकोवेशन्स एट पहाड़पुर, नेमोथर्स ऑफ द आर्यासामिकम सर्व अॅफ इण्डिया, 55, 1936, दिल्ली, पृ 15.

सर्वोत्कृष्ट एवं अद्भुत अलंकरण-बहुल्य के कारण अन्य मंदिरों से आगे निकल जाने पर भी तत्कालीन भारतीय आदर्श की सीमारेखा में ही रहे।

अगर अगले पृष्ठों से यह स्पष्ट हो सके कि जैनधर्म की भारतीय संस्कृति को कितनी प्रचुर भूति देन है (आध्यात्मिक देव को छोड़कर जो प्रायः विदित है) तो प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य बहुत कुछ पुरा हो सकेगा।

भारत के बाहर जैन पुरावशेषों के प्रमाण नहीं मिलते। श्रीलंका के बौद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ महावंश में उल्लेख मिलता है कि राजा पाण्डुकारभय ने अपनी राजधानी में एक निर्गम्य विहार का निर्माण कराया था।<sup>1</sup> चौथी शती ई० पू० में श्रीलंका में जैनों की विद्यमानता आदर्शर्यजनक नहीं है, क्योंकि उस समय तक जैनधर्म उडीसा, और संभवतः दक्षिण भारत में पहले से ही फैल चुका था। किन्तु उसके विहार के कोई अवशेष अभी तक पहचाने नहीं जा सके। न ही दक्षिण-पूर्व एशिया में जैनधर्म के प्रसार का कोई विश्वसनीय प्रमाण है, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि पश्चिमी भारत के वणिकों (उनमें से कुछ जैन भी होने चाहिए) ने इन प्रदेशों का अभ्यास किया था, किन्तु बौद्ध और ज्ञान्युग धर्मों के विपरीत यह मत वहाँ दृढ़ता से स्थापित न हो सका;<sup>2</sup> यही बात यंत्रार प्रदेश और उसके समीपवर्ती उत्तर-पश्चिम क्षेत्र पर लागू होती है।<sup>3</sup>

★

★

★

अब हम प्रस्तुत ग्रंथ पर विचार करें। श्री कलम्बूर शिवराममूर्ति, निदेशक, राष्ट्रीय संग्रहालय, श्री भग्नसूदन नरहर देशपाण्डे, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के महानिदेशक और सर्वेक्षण के कुछ अन्य अधिकारियों तथा विशेष रूप से मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, के साथ हुए मेरे विचार-विमर्श-

1. महावंशों संबंधी : एन के भगत, देवनामसी पालि टेक्स्ट सीरीज, 12. द्वितीय संस्करण, 1959. बम्बई, पृ 74। जैन (हीटलाल), भारतीय संस्कृत में जैनधर्म का योगदान, 1962. भोपाल, पृ 35.

2. कुछ विद्वान् इण्डोनेशिया में प्राचीनत के शिव मंदिर में जैन प्रभाव देखते हैं। तुलनात्मक : जैन, पूर्वोक्त, पृ 14। फर्गुसन के आधार पर यह किती पुष्ट प्रधान पर आधारित नहीं है, मुख्य मंदिर में प्रधान प्रतिमा शिव की है (जिसे बौद्ध विद्वान् किसी मृत शासक का शब्द बलाते हैं) और मंदिर में तीन तरफ गौण देवताएँ, पाश्ववर्ती देवताओं की संकल्पना।

3. यद्यार प्रदेश में जैन अवश्य विद्यमान रहे होंगे (झेनसांग ने उन्हें वहाँ सातवीं शती में देखा था), फिर भी साशंक की इस संदेहास्पद मान्यता का कोई ग्रीष्मित्य नहीं है कि तक्षशिला के दूसरे नगर सिरकप के कुछ स्तूप जैनों से संबंधित हैं। मार्याल (जॉन), गाइड टू तक्षशिला, कैम्ब्रिज, 1960, 72-74, पृ 69; आगे देखिए अध्याय ४, यह परंपरा कि तीर्थंकरों ने उत्तर पश्चिम का अभ्यास किया था: संदिग्ध है ठीक उसी प्रकार जैसे यह आरण्य कि बुद्ध भी वहाँ पहुंचे थे, बील, पूर्वोक्त, I, 1884, पृष्ठ 30 (झाहियान) और 67 आदि (झेनसांग).

के परिणामस्वरूप इस ग्रंथ की रूप-रेखा तैयार हुई। इस ग्रंथ के अध्यायों को लिखने के लिए सक्षम विद्वानों से निवेदन किया गया और एक निश्चित समय भी निर्धारित कर दिया गया। इस प्रकार के सहकारी प्रबल्ल के साथ जैसा साधारणतः होता है, कुछ विद्वानों ने कुछ भी लिखने में अपनी असमर्थता बताई, यहुलीं ने अपने ऐसे समय ८८ दिन दिये और कुछ ने अंतिम क्षणों में। कुछ अध्याय, जो बहुत देर से प्राप्त हुए थे, संक्षिप्त और अपूर्ण पाये गये, और जब इस तथ्य की ओर संबंधित विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया तो उन्होंने कभी पूरी करने के लिए और समय माँगा। उन्हें समय देने का तात्पर्य या, प्रकाशन में अनिश्चित विलम्ब और मेरा इसी ग्रंथ से अनिश्चित काल तक संबद्ध रहना। चित्रात्मक सामग्री के साथ भी यही बात हुई। इस संबंध में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के समृद्ध चित्र-खोजों और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा संग्रह किये जा रहे जैन पुरावशेषों के चित्रों के विशाल संग्रह ने कभी पूरी की। तो भी, कुछ कभी अब भी है।

इन सब बातों से इस ग्रंथ के गुण और दोष स्पष्ट हो सकेंगे। किन्तु इनका निर्णय पाठ्य स्वयं ही करेंगे। ग्रंथ के जो अंश आलोच्य हैं उनका तीक्ष्ण भान मेरे सिवा अन्य किसी व्यक्ति को नहीं हो सकता क्योंकि मुझे तो इसके एक-एक अध्याय को अनेक स्थितियों में पढ़ना पड़ा है तथा चित्रों को सजाना-सँवारना पड़ा है।

जब इस ग्रंथ की सामग्री संग्रहीत करने का काम कुछ आगे बढ़ा, तब फरवरी १९७३ में मुझे एकवर्षीय अनुबंध पर इण्डोनेशिया जाना पड़ा। भारतीय ज्ञानपीठ के साथ न्याय करने की दृष्टि से मैंने सम्पादकीय कार्य से बिना शर्त त्यागपत्र दे दिया ताकि मेरी अनुपस्थिति से ग्रंथ की प्रगति में बाधा न पड़े और भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री को मैंने यह स्पष्ट सलाह दी कि वे यह कार्य किसी ऐसे अन्य व्यक्ति को सौंप दें जो इसे अच्छी तरह कर सके। किन्तु जब गतवर्ष फरवरी में मैं भारत लौटा तब मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि ग्रंथ मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। भारतीय ज्ञानपीठ के अधिकारियों द्वारा मुझमें व्यक्त विश्वास ने मुझे प्रभावित किया और मैं टूटी शूलकला को तत्परता से जोड़ने में लग गया। ऐसा नहीं था कि मेरी अनुपस्थिति में कोई प्रगति न हुई हो। कुछ और अध्याय प्राप्त हुए थे और यह भी निर्णय लिया गया था कि भारत के, और जहाँ तक संभव हो सके, विदेशों के संग्रहालयों में उपलब्ध जैन कलाकृतियों पर अध्याय जोड़े जायें। सक्षम विद्वानों से पहले ही अनुरोध किया गया था कि वे अपने अधिकारागत संग्रहों पर लिखें। वह सब प्राप्त सामग्री समाविष्ट की गयी है। किन्तु ऊपर दिये गये कारणों से वह भी अपूर्ण रह गयी है। कुछ संग्रहालय, यथा पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा, और राजकीय संग्रहालय, लखनऊ, जानवृक्षकार छोड़ दिये गये हैं क्योंकि उनकी विषयवस्तु का अधिकांश स्मारकों और सूतिकला संबंधी अध्यायों में था गया है। यहाँ यह सूचना देना उचित होगा कि निर्वाण महोत्सव के अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा जैन कलाकृतियों की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया जा रहा है और ज्ञानपीठ उनका एक सूचीपत्र भी प्रकाशित करेगा।

इस ग्रंथ की योजना के बारे में भी मुझे कुछ कहना है। कुछ परिचयात्मक अध्यायों के पश्चात् ग्रंथ का मूलभाय अर्थात् स्मारक और मूर्तिकला का विवेचन प्रारम्भ होता है, जिसका विभाजन निम्नलिखित कालों में किया गया है: (१) ₹० पू० ३०० से ३०० ₹०, (२) ३०० ₹० से ६०० ₹०, (३) ६०० ₹० से १००० ₹०, (४) १००० से १३०० ₹०, और (५) १३०० ₹० से १८०० ₹० तक। यह काल-विभाजन बहुत कुछ परंपरागत है जो कि क्रमशः आद्य ऐतिहासिक युग, आर्ष युग (बलासिकल—कम से कम जहाँ तक उत्तर भारत का संबंध है), पूर्व-मध्य युग और उत्तर-मध्य युग, कहे जानेवाले युगों से मिलता-जुलता है। इस विभाजन को बनाये रखना सदैव ही सरल नहीं रहा। उदाहरणार्थ, जब किसी मूर्ति की तिथि उसकी शैली के आधार पर निश्चित की जानी हो, तब एकाधिक विद्वान् उसे अपने अध्याय में सम्मिलित करना चाहेंगे क्योंकि ऐसे मामलों में कुछ मत-विभिन्नता अनिवार्य है। इस प्रकार की सामग्री को एक अध्याय में रखने और दूसरे से उसे निकालने में संपादक ने स्वयं निर्णय लिया है। इसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव स्मारकों के संबंध में भी हुआ है, बल्कि यहाँ यह कठिनाई इस कारण और बढ़ गयी है कि भविरों में परिवर्द्धनों और परिवर्तनों के कारण संशिलष्ट-समूह (कॉम्प्लेक्स) का विभाजन एक से अधिक युग में कर सकता कठिन प्रतीत हुआ है क्योंकि संशिलष्ट के विभाजन के बिना यह कार्य संभव नहीं। यहाँ भी मुझे अपना ही निर्णय लेना पड़ा; कुछ मामलों में एक संशिलष्ट को किसी विशेष युग के अंतर्गत रखा गया है जबकि उसके उछ भाग दूसरे उछ से संबंधित हैं।

ऊपर दिये गये अधिकांश युगों को निम्न प्रकार प्रदेशों में विभक्त किया गया है: (१) उत्तर भारत, (२) पूर्व भारत, (३) मध्य भारत, (४) पश्चिम भारत, (५) दक्षिणापथ, और (६) दक्षिण भारत। यहाँ भी यह विभाजन पूर्णतः संतोषजनक सिद्ध नहीं हुआ। तो भी, काम चलाने के लिए उत्तर की परिभाषा यह की गयी है कि उसमें दक्षिण-पूर्व राजस्थान (जो पश्चिमी भारत के अंतर्गत रखा गया है) और उत्तर प्रदेश के एक भाग, बुद्धेलखण्ड (जो मध्य भारत के अंतर्गत आया है) को छोड़कर शेष उत्तर भारत में सम्मिलित हैं। ऐसा करते समय सामान्यतः प्राचीन सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भों को ध्यान में रखा गया है। पूर्वी भारत में विहार, पश्चिम-बंगाल, असम और उडीसा सम्मिलित माने गये हैं (एक या दो अध्यायों में बांग्लादेश को भी सम्मिलित किया गया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह व्यक्तिस्थल नहीं है और आशा करता हूँ कि इसे राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित नहीं माना जायेगा, क्योंकि वहाँ प्राप्त बहुत थोड़े जैन पुरावशेषों के लिए अलग से प्रदेश बनाना उचित प्रतीत नहीं हुआ)। गध्य भारत से तात्पर्य मध्य प्रदेश और बुद्धेलखण्ड से है। पश्चिम भारत में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गुजरात और दक्षिण-पूर्व राजस्थान सम्मिलित हैं। दक्षिणापथ स्वतः स्पष्ट है। दक्षिण भारत में कनटिक के दक्षिणी जिले और निःसदैह, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश और केरल सम्मिलित हैं। इन सीमाओं का कभी-कभी अतिक्रमण हुआ है किन्तु वह क्षम्य है।

यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना उचित होगा कि ३०० ₹० से ३०० ₹० और ३०० ₹० से ६०० ₹० की अवधियों के अल्पगत 'उत्तर भारत' का स्थान मधुरा ने ले लिया है। यह उचित ही

है क्योंकि इन अवधियों की लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारतीय जैन सामग्री मथुरा<sup>1</sup> से प्राप्त हुई है।

इसापूर्व ३०० से ३०० ई० तक की अवधि में मध्य भारत का वर्णन नहीं आता है। इसका सीधा-सा कारण यह है कि इस प्रदेश और इससे संबंधित अवधि में जैन पुरावशेषों का अभाव है, अद्यषि इनके संबंध में विक्रमादित्य, कालकाचार्य, गर्दभिल, सातवाहन से संबंधित घटनाचक्रों के आख्यानों का बहुल्य है।<sup>2</sup> सरगुजा जिले की रामगढ़ पहाड़ी पर स्थित जोगीमारा-सीताबेंग गुफाओं के कुछ चित्रों की जैनों से संबद्धता बतायी गयी है<sup>3</sup> किन्तु इन चित्रों के और अधिक अध्ययन की आवश्यकता है।

इसी प्रकार दक्षिणापथ में ३०० ई० पू० से ३०० ई० और ३०० ई० से ६०० ई०<sup>4</sup> की अवधियों के बीच, और दक्षिण भारत में उक्त अंतिम अवधि में कोई जैन पुरावशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। अतएव उक्त अवधियों से संबंधित कोई अध्याय ग्रंथ में सम्मिलित नहीं किया गया है।

1. इसापूर्व ३०० से ३०० ई० की अवधि के अंतर्गत जिस संभव कमी की वहाँ पूर्ति की जा सकती है वह है इलाहाबाद जिले में कौशाम्बी के निकट पभोला की एक कृतिम गुफा। जैसा कि १० फुटर ने भानुपेट्टस एण्टिक्विटीज ऐ०४४ इण्डिकेशन्स इन द नार्थ बेट्वर्च एवंस्ट ऐ०३ अवधि, आक्यौलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू सीरीज, २. (न्यू इण्डीरियल सीरीज, १२) १८९१। इलाहाबाद पृष्ठ १४३-४४ में वर्णन किया है—वह गुफा के पहाड़ी भूख-भाग के ऊपर है। इसका आकार  $2.7 \times 1.4$  मीटर और लंबाई १ मीटर है। इसका दरवाजा  $0.66 \times 0.53$  मीटर और इसकी दो लिङ्गकिर्णी  $0.48 \times 0.43$  मीटर हैं। भीतर, दक्षिण पार्श्व में तकिया सहित एक प्रस्तर शिथा है। उक्त लिंग में कुछ शिलालेखों के अतिरिक्त दो शिलालेख और हैं जिनमें कहा गया है कि इस गुफा का निर्माण आषाढ़सेन ने कराया था जो अपने अन्य आनुवंशिक संवंधों के अतिरिक्त राजा वहसतिमित्र का सामा था। इस वहसतिमित्र (वृहस्पतिमित्र) की पहचान सामान्य रूप से उसी नाम के मन्दिर-नाम से की जाती है जिसे उड़ीसा के खारबेल द्वारा इसा से पहली वा दूसरी (जिसकी संभावना कम है) शती में परिचित किया गया था। इस गुफा का निर्माण काश्यपीय अर्हतों के लिए किया गया था। क्योंकि महावीर काश्यप गोत्र के थे, अतः वह कहा जाता है कि जिन अर्हतों के लिए इस गुफा का निर्माण हुआ था वे जैन थे। हीरालाल जैन, पूर्वोक्त पृ ३०९.

2. उमाकान्त प्रेसानन्द शाह ने वेरा छ्यान अपने लेख मुख्य भूमि में कालकाचार्य (विवरण उपलब्ध नहीं) की और आकृषित किया है जिसमें उन्होंने कालकाचार्य को ऐतिहासिक रूपक्रित माना है।

3. रायकृष्णदास, भारत की चित्रकला, १९६२, इलाहाबाद, पृ २, देखिए इलाज (टी)। आर्यौलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुग्रह रिपोर्ट, १९०३-०४, १९०६, कलकत्ता, पृ १२ एवं पर्याती, / एम० वैक्टरमैया द्वारा १९६१ ई० में गुफाओं के संबंध में एक सम्पूर्ण तथा सचित्र रिपोर्ट तैयार की गयी थी जो भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अभिलेखागार में उपलब्ध है।

4. जैन, पूर्वोक्त, पृ ३११, / कर्मसन (जैम्स) तथा वर्जेस (जैम्स), केब क्लैपल्स ऑफ इण्डिया, १८८०, लन्दन, पृ ४९। के आधार पर कहते हैं कि वाराण्सिव गुफाओं का समूह जो उस्मानाबाद से अद्यक्ष दूर नहीं है, जैन है; क्योंकि उसमें लीर्येकर प्रतिमाएँ हैं। किन्तु, इस बात की अधिक संभावना है कि मूलरूप से वे थीरु थीं और कालातर में जैनों द्वारा प्रयोग में लायी गयीं। इन गुफाओं का निर्माण ५०० ई० और ६२० ई० के बीच हुआ।

यह पूरा ग्रंथ कई भागों में विभक्त है। उनमें से कुछ इतने विस्तृत नहीं हैं कि वे भाग कहे जा सकें, किन्तु अध्यायों का वर्गीकरण इस विधि से सुविधाजनक हो गया है। यह ग्रंथ तीन खण्डों में प्रकाशित होगा। पहले खण्ड में परिचयात्मक अध्याय (भाग १), और ईसा-पूर्व ३०० से ३०० ई० के स्मारक और मूर्तिकला संबंधी सामग्री (भाग २); ३०० ई० से ६०० ई० (भाग ३); ६०० ई० से १००० ई० (भाग ४)<sup>१</sup> सम्मिलित किये गये हैं। इसके बाद के दो खण्डों में निम्न-लिखित सामग्री होती; स्मारकों और मूर्तिकला संबंधी शेष दो अध्याय, क्रमशः १००० ई० से १३०० ई० (भाग ५); और १३००-१८०० ई० (भाग ६); चित्रकला : भित्तिचित्र और लघुचित्र ; विविध अध्याय; देश-विदेश के संग्रहालयों में जैन पुरावशेषों संबंधी अध्याय; तकनीकी शब्दों की सूची (अदि आवश्यक समझि गयी) और सभी खण्डों की संपूर्ण अनुक्रमणिका।

यहाँ मुझे अपने संपादकीय उत्तरदायित्व का भी उल्लेख कर देना चाहिए। लेखों में कहीं-कहीं मैंने शास्त्रिक परिवर्तन किये हैं और यहाँ तक कि तुलना करने और मत-विभिन्नता की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रति-संदर्भ जोड़कर सामग्री को फिर से अवस्थित किया है। किसी विशेष प्रश्न पर मत-वैभिन्न्य की स्थिति में मैंने अपनी राय व्यक्त की है, किन्तु ऐसी स्थिति बहुत कम आयी है।

कहीं-कहीं मैंने स्वयं ही किसी अध्याय के कुछ भाग निकाल दिये हैं क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सामग्री अन्य अध्यायों के उपयुक्त है। कुछ अन्य विषयों में मैंने उन्हें वहीं रहने दिया है, यद्यपि वे अन्य किसी अध्याय के योग्य नहीं हैं। कहीं-कहीं मैंने लेखकों द्वारा प्रेषित चित्रों को नहीं रखा है और उनके स्थान पर ऐसे चित्रों का प्रयोग किया है जो उनकी इच्छा के अनुरूप नहीं हैं<sup>२</sup> किन्तु ऐसा बहुत कम हुआ है। स्वविवेक से लिये गये इन सभी निर्णयों के तथा (अंग्रेजी संस्करण में) छपाई की जो भी वलतियाँ रह गयी हों उनका मैं उत्तरदायित्व लेता हूँ। किन्तु यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं उन सभी विचारों से सहमत होने का या उनके सही होने का उत्तरदायित्व नहीं लेता जो विभिन्न लेखकों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। लेखक ही अपने विवरण और विचारों के लिए उत्तरदायी हैं। न ही मेरा इस ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद से सम्बन्ध है जिसे भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशित कर रहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन और छपाई में मुझे अनेक व्यक्तियों से मिश्रवत् सहायता मिली है। इस सूची में सबसे पहला नाम श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, का है जिन्होंने यह कार्य मुझे सौंपा (यद्यपि इसमें विशेष रूप से समापन के समय अनेक समस्याएँ आयीं और अनेक चितापूर्ण

१ छपाई की आवश्यकताओं को देखते हुए इस पुस्तक के छपते-छपते यह निश्चय किया गया कि ६०० ई० से १००० ई० की अवधि में दक्षिण भारत संबंधी अध्याय पहले खण्ड से निकालकर दूसरे खण्ड में छापा जाये।

२ पहले तो अध्यायों की दाढ़प की हुई प्रति संबंधित लेखक को अनुदोदन के लिए भेजी जाती रही किन्तु बाव में सभी की कारण ऐसा करने रहना संभव नहीं हो सका।

परिस्थितियों भी आयी)। मुझे इस बात की ओर भी प्रशंसन है कि उन्होंने सदा ही सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया और मेरी कठिनाइयों को समझा। उनके साथ काम करना मेरे लिए सदा ही आनन्द का विषय रहा; जिसके लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

ज्ञानपीठ के शोध-विभाग के श्री गोपीलाल अमर और श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने पश्च-व्यवहार में हाथ बँटाने, आवश्यक चित्रों को तुरंत छाटने और आवश्यकता होने पर विभिन्न स्थानों पर तत्परता-पूर्वक आ-जाकर मुझे अत्यधिक सहयोग दिया है। संस्कृत, प्राकृत और जैन विद्या के विद्वान् होने के कारण श्री अमर ने मुझे कुछ तकनीकी सहायता भी दी है। मैं इन दोनों को तथा ज्ञानपीठ के सहायकों एवं टाइपकारों को धन्यवाद देता हूँ क्योंकि उन्होंने सदैव ही मेरी सहायता की है।

यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि उन लेखकों के सहयोग के बिना, उन्होंने हमारे अनुरोध पर अपने लेख भेजे, इस ग्रंथ का प्रकाशन भी संभव नहीं था। उनके सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मेरे इण्डोनेशिया चले जाने पर कुछ अध्याय जैन इतिहास के विद्वान् डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन को समालोचना के लिए भेजे गये थे। उन्होंने जो समालोचनाएँ कृपापूर्वक की थीं उनमें से अनेक का उपयोग आभार-प्रदर्शन के साथ किया गया है। उनकी महत्वपूर्ण राय के लिए मैं उनका कृतश्च हूँ।

श्री कलम्बुर शिवराममूर्ति, भिदेशक, राष्ट्रीय संग्रहालय, और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अधिकारियों से मेरे पुराने संबंध इस कार्य को गति देने में सहायक हुए हैं। श्री शिवराममूर्ति और सर्वेक्षण के महानिदेशक श्री मधुसूदन नरहर देशपाण्डे ने प्रारंभ से ही प्रस्तुत ग्रंथ में गहरी रुचि प्रदर्शित की है। सर्वेक्षण के दो नवयुवक अधिकारियों, श्री मुनीशाचल जोशी, अधीक्षक, पुरातत्व, और श्री ब्रजमोहन पाण्डे, उपअधीक्षक, पुरातत्व, ने सदैव सहयोग दिया है। श्री जोशी ने मुझे अनेक तकनीकी समस्याओं में सहायता दी और श्री पाण्डे ने संदर्भों का परीक्षण किया और यथासंभव एकरूपता लाने के अतिरिक्त अपूर्ण विवरण पूर्ण किये हैं। सभी संदर्भों का परीक्षण करना उनके लिए संभव नहीं हो सका क्योंकि केन्द्रीय पुरातत्व पुस्तकालय में संबंधित शोध पत्रिकाएँ और पुस्तकें, विशेषतः जैन ग्रंथ, उपलब्ध नहीं थे। श्री पाण्डे की सहायता यहीं तक सीमित नहीं रही। मेरे ढारा थोड़ा-सा संकेत करने पर उन्होंने तत्परता से प्रूफ-संशोधन-कार्य का दायित्व ले लिया और इस प्रकार के ग्रंथ के अमर्साध्य प्रूफ-संशोधन-कार्य को भी सफलतापूर्वक कर दिया। सर्वेक्षण के फोटोग्राफर और माननिकारों ने सदैव मेरी सहर्ष सहायता की और उनसे जो अपेक्षा की गयी वह उन्होंने पूरी की। वे सभी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं विशेष रूप से डॉ० आर० चम्पकलक्ष्मी, असोशियेट-प्रोफेसर, सेण्टर ऑफ हिस्टोरिकल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, का उल्लेख करना चाहता हूँ जो इस ग्रंथ से बाद में संबद्ध

हुईं। दक्षिण भारत में जैनधर्म संबंधी अपने विशिष्ट ज्ञान के कारण उन्होंने अत्यन्त अल्प समय में प्रस्तुत ग्रंथ के लिए कुछ अध्याय दक्षिणापथ और दक्षिण भारत संबंधी लिखा दिये जो कि उनके नाम से छपे हैं। अध्याय-संपादन और इन अध्यायों के लिए उपयुक्त चित्र हूँड निकालने में सहयोग देने के लिए वे न केवल तत्परता से तैयार हो गयीं अपितु उन्होंने इसमें मेरी सहायता भी की। मैं उनका आभारी हूँ। उक्त केन्द्र के असोशियेट-प्रोफेसर डॉ० बी० डी० चट्टोपाध्याय ने प्रूफ-संशोधन में सहर्ष मेरा हाथ बँटाया। उन्हें भी मेरा धन्यवाद।

इस प्रस्तावना के अंत में मैं यह नहीं भूलूँगा कि मुझे भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक श्री शान्तिप्रसाद जैन, और उनकी वर्षपत्नी श्रीमती रमा जैन, अध्यक्षा, ज्ञानपीठ न्यासधारी मण्डल, को विशेष धन्यवाद देना है। यद्यपि उनसे मेरा व्यक्तिगत संपर्क कम ही रहा है, तो भी मैंने सदा ही यह अनुभव किया है कि इस योजना के मार्ग-दर्शक और प्रेरणा-स्रोत वे ही हैं। इन्हीं के कारण यह प्रकाशन संभव हो सका है।

मंवम्बर १, १९७४

अमलायन्द घोष



## अध्याय 2

### पृष्ठभूमि और परंपरा

जैनधर्म की गणना भारत के प्राचीनतम धर्मों में है। जैन परंपरा के अनुसार यह धर्म शास्त्रित है और चौबीस तीर्थकरों द्वारा<sup>1</sup> अपने-अपने युगों में प्रतिपादित होता रहा है। प्रथम तीर्थकर ऋषभनाथ थे और चौबीसवें अर्धांत् अंतिम थे, वर्षमान महाबीर। उनके नाम, वर्ण, चिह्न (लांचन), अनुचर, यथा एवं यक्षियाँ और जन्म तथा निवास के स्थान यथाक्रम अग्रलिखित हैं:<sup>2</sup>

१. ऋषभनाथ या आदिनाथ; स्वर्णम, वृषभ, गोमुख, चक्रेवरी, विनीतनगर (दिगंबर) कैलास या (श्वेतांबर) अष्टापद।

२. अजितनाथ; स्वर्णम, गज, महायक्ष, (दि०) रोहिणी या (श्व०) अजितवला, अयोध्या, सम्मेदशिखर।

३. संभवनाथ; स्वर्णम, अश्व, त्रिमुख, (दि०) प्रज्ञप्ति या (श्व०) दुरितारि, श्रावस्ती, सम्मेदशिखर।

४. अभिनन्दननाथ, स्वर्णम, बानर, (दि०) यक्षेश्वर या (श्व०) यक्षनायक, (दि०); अज्ञशृंखला या (श्व०) कालिका, अयोध्या, सम्मेदशिखर।

1. प्रथम तीर्थकर के अंतराल की जैन परंपरानुसार जो अवधि निर्दिष्ट है वह प्रायः अविश्वसनीय समझी है, विशेष रूप से तब जब कोई पल्य और सामर के आपदण्डों पर विचार करे, वह सब लिखने का उद्देश्य इस धर्म की निरान्त प्राचीनता की ओर ध्यान दिलाना है।

2. यहाँ कि इस तालिका से प्रकट होगा, ये विद्वा अतीक अविकल्प प्राणिवर्ग और वनस्पति-वगत् से सिये गये हैं, परंपरानुसार भारतीय महत्व के स्वलितक, श्रीदर्स और नन्दावर्त भी निताल प्राचीन हैं, वज्र एकमात्र ऐसी वस्तु है जो दून्द्र के साथ निकटता से संबद्ध होने के साथ-साथ युद्ध के उपयोग में अनेकाला एक ग्रस्त्र भी है, इन प्रतीकों से सवर्तिभवाद की मान्यता का, और इनमें घुने गये प्राणियों और वनस्पतियों की विशेषताओं को रेखांकित करने का सकेत मिलता प्रतीत होता है, इनमें से ये कुछ प्रतीक हड्डिया की मृदाओं पर भी अंकित हैं, पर इतनी-सी समानता से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। जन्म के स्थानों में से, अवतक हो सकी उसकी पहचान के अनुसार, सबसे पदिकम में मधुरा है, और सबसे पूर्व में चम्पा। ऐसा कोई स्थान नहीं जो निरिष्ट रूप से मध्य भारत में, दक्षिण भारत में स्थित हो। निवास का स्थान अधिकतर सम्मेदशिखर (हजारीबाग जिले में पासनाथ पहाड़ी) है, तेमिनाथ का निवास काठियावाड़ के गिरिनगर में हुआ, क्योंकि वे उस यादव राजवंश के थे जो मधुरा से पश्चिम भारत तक फैला हुआ था।

५. सुमतिनाथ; स्वर्णिम, चक्रवाक, तुम्बुरु, (दि०) पुरुषदत्ता या (श्वे०) महाकाली, अयोध्या, सम्मेदशिखर ।

६. पद्मप्रभ; रक्षितम, कमलपुष्प, कुसुम, (दि०) मनोवेगा या मनोगुप्ता या (श्वे०) श्यामा अच्युता, कौशास्त्री, सम्मेदशिखर ।

७. सुपाश्वनाथ; स्वर्णिम, (दि०) स्वस्तिक या (श्वे०) नन्दावर्त, (दि०) वरजन्दिन् या (श्वे०) मातंग, (दि०) काली या (श्वे०) शान्ता, वाराणसी, सम्मेदशिखर ।

८. चन्द्रप्रभ; धवल, अर्द्धचन्द्र, (दि०) विजय या श्याम या (श्वे०) विजय, (दि०) ज्वरलामालिनी या (श्वे०) भृकुटि, चन्द्रपुरी, सम्मेदशिखर ।

९. सुविधिनाथ या पुष्पदत्त; धवल, मकर, अजित, (दि०) महाकाली या (श्वे०) सुतारका, काकण्डीनगर, सम्मेदशिखर ।

१०. शीतलनाथ; स्वर्णिम, (दि०) कल्पवृक्ष या (श्वे०) श्रीबत्स, ब्रह्मा या ब्रह्मेश्वर, (दि०) मानवी या (श्वे०) अशोका, भद्रपुर, सम्मेदशिखर ।

११. श्रेयांसनाथ; स्वर्णिम, गेंडा, (दि०) ईश्वर या (श्वे०) यक्षेश; (दि०) गौरी या (श्वे०) मानवी, सिंहपुर, सम्मेदशिखर ।

१२. वासुपूज्य; रक्षितम, भैसा, कुमार, (दि०) गान्धारी या (श्वे०) चण्डा, चम्पापुरी, अस्पापुरी ।

१३. विमलनाथ; स्वर्णिम, सूकर, घण्मुख, (दि०) वैरोटी या (श्वे०) विदिता, कार्मिल्यपुर, सम्मेदशिखर ।

१४. अनन्तनाथ; स्वर्णिम, सेही, माताल, (दि०) अनन्तमती या (श्वे०) अंकुशा, अयोध्या, सम्मेदशिखर ।

१५. धर्मनाथ; स्वर्णिम, वज्र, किन्नर, (दि०) मानसी या (श्वे०) कन्दर्पी, रत्नपुरी सम्मेदशिखर ।

१६. शान्तिनाथ; स्वर्णिम, हरिण, (दि०) किष्मुख या (श्वे०) गहड़, (दि०) महामातसी या (श्वे०) निवणी, (दि०) हस्तिनापुर या (श्वे०) गजपुर, सम्मेदशिखर ।

१७. कुन्तुनाथ; स्वर्णिम, वकरा, गन्धर्व, (दि०) विजया या (श्वे०) बला, (दि०) हस्तिनापुर या (श्वे०) गजपुर, सम्मेदशिखर ।

१८. अरनाथ; पीत या स्वर्णिम, (दि०) तगरपुष्प या मत्स्य या (श्वे०) नन्दावर्त, (दि०) केन्द्र या (श्वे०) यक्षेन्द्र, (दि०) अजिता या (श्वे०) धना, (दि०) हस्तिनापुर या (श्वे०) गजपुर, सम्मेदशिखर ।

१९. (दि०) मल्लिनाथ या (इवे०) मल्ली<sup>१</sup>; नारी, नीला, कलश, कुबेर, (दि०) अपराजिता या (इवे०) वरणप्रिया, मिथिला, सम्मेदशिखर।

२०. मुनिसुव्रत; श्याम, कच्छप, बहुण, (दि०) बहुरूपिणी या (इवे०) नरदत्ता, राजगृह, सम्मेदशिखर।

२१. नमिनाथ; स्वर्णम, नीलकमल, भृकुटि, (दि०) चामुण्डी या (इवे०) गाम्भारी, मिथिला, सम्मेदशिखर।

२२. अरिष्टनेमि या नेमिनाथ; श्याम, शंख, (दि०) सर्वाह्ल या (इवे०) गोमेघ, (दि०) कूष्माणिङ्गनी या (इवे०) अम्बिका, शीरियपुर, गिरिनगर।

२३. पाश्वनाथ; श्याम, सर्प, धरणेश्वर, पद्मावती, वाराणसी, सम्मेदशिखर।

२४. वर्धमान महावीर; स्वर्णम, सिंह, मातंग, सिद्धायिका, कुण्डग्राम, पावापुरी।

चौबीस तीर्थकरों में अतिथि और नातपुत (नातपुत्र) के नाम से भी प्रसिद्ध वर्धमान महावीर के पूर्ववर्ती पाश्वनाथ थे जिनका निर्वाण महावीर के निवाण प्रथात् ५२७ ई० पू० से दो सौ फ्चास वर्ष पूर्व, सी वर्ष की परिपक्व अवस्था में हुआ माना जाता है। वास्तव में, महावीर के माता-पिता पाश्वनाथ के अनुयायी थे (महावीरस्स अम्माँपियरो पासावच्छज्जा—आचारांमसूत्र) और कल्पसूत्र में उल्लेख है कि महावीर ने ठीक उसी मार्ग का अनुसरण किया जिसका उपदेश उनके पूर्ववर्ती तीर्थकरों ने किया था। प्राचीनतम जैन आगमों में उत्तराध्ययन-सूत्र के तेईसवें अध्याय में उल्लिखित पाश्वनाथ के अनुयायी केरी और महावीर के अनुयायी गौतम के संबाद से पाश्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रायः पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है। चातुर्याम धर्म (चाउज्जाम धर्म) और महावीर के पंच महाव्रत (पंच सिक्खियो) की मौलिक एकता पर भी बल दिया गया है। इस प्रकार, तेईसवें तीर्थकर पाश्वनाथ के ५० पू० द९७७ से ७७७ ई० पू० तक के जीवनकाल के विषय में हमें निर्दिख्त आधार मिल जाते हैं। पाश्वनाथ का जन्म वाराणसी में, और सब तीर्थकरों की भाँति, क्षत्रिय राजपरिवार में हुआ माना जाता है। पाश्वनाथ के जीवन वृत्तान्त से हमें जात होता है कि उन्होंने अहिच्छत (वरेली जिले में अहिच्छत), आमलकप्प (वैशाली जिले में वैशाली के निकट), हत्यिणाउर (मेरठ जिले में हस्तिनापुर), कम्पिलपुर (फर्खाबाद जिले में कम्पिल), कोसंबी (इलाहाबाद के निकट कोशाम्बी), रायगिर (नालंदा जिले में राजगिर), सागेय और सावत्थी (गोडा-बहराइच जिलों में सहेठ-महेठ) नगरों की यात्रा की थी। पाश्वनाथ का निर्वाण सम्मेदशिखर (हजारीबाग जिले में स्थित पारसनाथ पहाड़ी) पर हुआ। जहाँ व्यवस्थित रूप से पुरातात्त्विक उत्खनन हुआ है उन वाराणसी (राजघाट), अहिच्छत, हस्तिनापुर और कोशाम्बी नगरों का इतिहास, वहाँ से प्राप्त मृतिका-भाण्डों तथा भूरे रंग के चित्रित गिट्टी के बड़े बरतनों के आधार पर छठी शती ५० पू० से कुछ शती पूर्व तक निर्दिख्त रूप

१ इतेतांबर परंपरा के अनुसार मल्ली को नारी तीर्थकर माना गया है। दिगंबर भूमि अस्तीकार करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार कोई भी नारी मुक्ति के लिए सक्षम नहीं है, वे इस तीर्थकर का नाम मल्लिनाथ मानते हैं।

से जा पहुँचा है। इसलिए यह संभावना बन पड़ती है कि ये स्थान पाश्वनाथ के कियाकलापों से संबद्ध रहे हैं। तथापि, जब हम पाश्वनाथ से पहले के समय की बात करते हैं तब एक-एक तीर्थकर के समयांतराल और उनके चरित्र-वर्णन के संबंध में आख्यानों के एक साम्राज्य में ही पहुँच जाते हैं।

परिष्ट परंपरा के अनुसार, बाह्सवे तीर्थकर अरिष्टनेमि या नेमिनाथ का जन्म अन्धकवृष्णि के ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय के शौरियपुर (आगरा ज़िले में बटेश्वर के निकट, सौरीपुर के स्वामीय नाम से प्रसिद्ध) के यादव परिवार में हुआ था। उनका उल्लेख महाभारत के नायक कृष्ण के चर्चेरे भाई के रूप में हुआ है। इन तीर्थकर राजकुमार का विवाह गिरिनगर (आधुनिक जूनागढ़) के शासक उद्योग की पुत्री राजकुमारी राजुलमती के साथ होनेवाला था। किन्तु राजकुमार नेमि ने विवाह की बरंगाचा के समय, विवाह-भोज हेतु काटे जाने के लिए लाये गये पशुओं को देखा। इस घटना ने उनके हृदय को संताप से भर दिया और उन्होंने सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया। माना जाता है कि उन्होंने गिरनार पर्वत पर तपश्चरण किया, केवल-ज्ञान प्राप्त किया और कई वर्ष पश्चात् निवाण प्राप्त किया। प्रतीत होता है कि इन्होंने जैन धर्म के प्रथम मौलिक सिद्धांत अहिंसा पर विशेष रूप से बल दिया। यद्यपि अनुश्रुति यही है कि इनका संबंध महाभारत आख्यान के कृष्ण<sup>1</sup> के चर्चेरे भाई के रूप में था, तथापि इस आख्यानात्मक संदर्भ को एक निश्चित भाषा में कह पाना और इसकी ऐतिहासिकता सिद्ध कर पाना कठिन है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि यदि इस परंपरा का कोई भी आधार है तो नेमिनाथ का समय पाश्वनाथ के समय से पहले था।

इससे पूर्व-स्थिति का विचार करने पर हमें जात होता है कि इन्हींसवे तीर्थकर नेमिनाथ थे। ये मिथिला के राजा थे और उपनिषद्कालीन दार्शनिक राजा जनक के परिवार के थे। डॉ० हीरालाल जैन<sup>2</sup> ने यह सुझाव दिया है कि इस आख्यानात्मक संबंध का कुछ अस्पष्ट ऐतिहासिक आवार रहा होना चाहिए। इनका तर्क अग्रलिखित तथ्य पर आधारित है: उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्याय में नेमिनाथ के वैराग्य का कथानक आता है। उसी में एक ऐसी महत्वपूर्ण मात्रा (६) है जिससे मिलते-जुलते पद बौद्ध महाजनक जातक में और महाभारत के शान्तिपर्व में भी है:

- (१) सुहं वसामो जीवामो जैसि मे णत्य किचन ।  
मिहिलाए दजभमाणाए न मे दजभहि किचन ॥ (उत्तराध्ययन)
- (२) सुमुखनत जीवामो वैसं नो नत्य किचन ।  
मिहिलाए दहमानाए न मे किचि अदहुते ॥ (जातक)
- (३) मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किचन दहुते । (महाभारत)

तथापि, विचार और अभिव्यक्ति की समानता का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं हो सकता और जो तर्कसंगत निर्णय निकल सकता है वह यह है कि ये तीनों उद्घरण एक सामान्य स्रोत पर आधारित

1. तथापि, यह उल्लेख किया जा सकता है कि कृष्ण की गणना वेसठ शमाका पुरुषों में से नीं कासुदेवीं में की गयी है,

2. जैन (हीरालाल). भारतीय संस्कृति में जैनवर्म का योगदान. 1962. भोपाल, पृ. 19.

हैं तथा उनसे एक ऐसे राजा का परिचय मिलता है जो त्याग (वैराग्य) का जीवन उदाहरण था।

प्रथम तीर्थकर ऋषभनाथ के संबंध में परंपराओं पर विचार करते हुए डॉ० हीरालाल जैन वैदिक और पौराणिक दोनों संदर्भों का उल्लेख करते हैं।<sup>1</sup> वैदिक परंपरा का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल (२-३) में मिलता है जिसमें बातरशन मुनियों को मलिन (पिङंग) वस्त्र पहने हुए बताया यथा है [या फिर उनका शरीर घूलि-धूसरित होने से लभता था कि मानो उनका रंग ही पीला (पिङंग) था]। इन मुनियों के विषय में आगे कहा यथा है कि वे उन्मादित मनःस्थिति में रहते थे और मौन का अभ्यास करते थे। आगे की ऋचा में उन मुनियों को केशी (जटाजूटवाले) कहा गया है।

बातरशन या केशी मुनियों के इस विवरण से, डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार, साधुओं के एक ऐसे वर्ग का संकेत मिलता है जिनमें ऋषभनाथ कदाचित् सर्वाधिक महान् थे। वेद और भागवत पुराण में वर्णित इन मुनियों का विवरण जैन मुनिव्यों को विशिष्ट प्रकृति और प्राचीनता को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

भारतीय रहस्यवाद के विकास की रूपरेखा देते हुए आर० डी० रानाडे ने<sup>2</sup> भागवत पुराण स्कंद ५ इलाक ५-६ से एक अन्य प्रकार के योगी का भनोरंजक प्रसंग उद्धृत किया है जिसकी परम विदेहता ही उसकी आत्मानुभूति का स्पष्टतम प्रमाण था। उद्धरण यह है: 'हम पढ़ते हैं कि अपने पुत्र भरत को पृथ्वी का राज्य सीपिकर किस प्रकार उन्होंने संसार से निलिप्त और एकांत जीवन विताने का निश्चय किया; कैसे उन्होंने एक अंघे, बहरे या गूंगे मनुष्य का जीवन विताना आरंभ किया; किस प्रकार वे नगरों और ग्रामों में, सानों और उद्यानों में, बनों और पर्वतों में समान मनोभाव से रहने लगे; किस प्रकार उन्होंने उन लोगों से घोर अपमानित होकर भी मन में विकार न आने दिया जिन्होंने उनपर पत्थर और गोबर फेंका या उनपर मूळ-त्याग किया या उन्हें सभी प्रकार से तिरस्कार का पात्र बनाया; यह सब होते हुए भी किस प्रकार उनका दीप्त सुखमण्डल और पुष्ट-सुगठित शरीर, उनके सबल हस्त और मुस्कराते होंठ राजकीय अन्तःपुर की महिलाओं को आकृष्ट करते थे; वे अपने शरीर से किस सीमा तक निर्भौह थे कि वे उसी स्थान पर मलत्याग कर देते जहाँ वे भोजन करते, तथापि, उनका मल कितना सुर्योदित था कि उसके दस सील आसास का धोत्र उससे सुबासित हो जाता; कितना श्रटल अधिकार था उनका उपनिषदों में वर्णित सुख की सभी अवस्थाओं पर; कैसे उन्होंने अंतरोगत्वा संकल्प किया शरीर पर विजय पाने का; जब उन्होंने भौतिक शरीर में अपने सूक्ष्म शरीर को विलीन करने का निश्चय किया उस समय वे कन्टटिक तथा अन्य प्रदेशों में अमण कर रहे थे; कहाँ दिनांवर, एकाकी और उन्मत्तदत् अमण करते समय वे बांस के झुरमुट से

1. जैन, पूर्वोक्त, पृ 13-17.

2. रानाडे (आर० डी०). इन्डियन मिस्टिसिक्स : मिस्टिसिक्स इन सहाराष्ट्र, 1933. पृना. पृ 9.

उत्पन्न भीषण दावानल की लपटों में जा कर्से थे और तब किस प्रकार उन्होंने अपने शरीर का अंतिम समर्पण अग्निदेव को कर दिया था ।' यह विवरण वस्तुतः जैन परंपरा के अनुरूप है जिसमें उनके आरंभिक जीवन के अन्य विवरण भी विच्छान हैं । कहा गया है कि उनकी दो पत्नियाँ थीं—सुमंगला और सुनंदा; पहली ने भरत और ब्राह्मी को जन्म दिया और दूसरी ने बाहुबली और सुन्दरी को । सुनंदा ने और भी अद्धानबें पुत्रों को जन्म दिया । इस परंपरा से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ऋषभदेव वचपन में जब एक बार पिता की गोद में बैठे थे तभी हाथ में इक्षु (गश्ता) लिये वहाँ इन्द्र आया । गन्ते को देखते ही ऋषभदेव ने उसे लेने के लिए अपना मांगलिक लक्षणों से युक्त हाथ फैला दिया । बालक की इक्षु के प्रति अभिश्चिदेखकर इन्द्र ने उस परिवार का नाम इद्वाकु रख दिया ।

इस परंपरा से यह भी ज्ञात होता है कि विवाह-संस्था का आरंभ सर्वप्रथम ऋषभदेव ने किया था । कहा गया है कि असि और मसी का प्रचलन भी उन्होंने किया । कृषि के प्रथम जनक भी वही बताये गये हैं । ब्राह्मी लिपि और स्थाही (मसी) द्वारा लेखन की कला भी उन्हीं के द्वारा प्रचलित की गयी । यह संभव नहीं कि जैन सिद्धांतों के इस पारंपरिक नियमिता के व्यक्तित्व को आख्यानों का कुहासा दूर करके प्रकाश में लाया जाये । एक बात पूर्णतया निश्चित है कि भारत में साधुवृत्ति अत्यंत पुरातनकाल से चली आ रही है और जैन मुनिचर्या के जो आदर्श ऋषभदेव ने प्रस्तुत किये वे ब्राह्मण परंपरा से अत्यधिक भिन्न हैं । यह भिन्नता उपनिषद्काल में और भी मुखर हो उठती है, यद्यपि साधुवृत्ति की विभिन्न शास्त्राओं के विकास का तर्कसंगत प्रस्तुतीकरण सरल बात नहीं है । रानाडे का कथन है<sup>1</sup> कि 'इस मान्यता के प्रमाण हैं कि उपनिषद्कालीन दार्शनिक विवाहधारा पर इस विलक्षण और रहस्यधारी आचार का पालन करनेवाले भ्रमणशील साधुओं और उपदेशकों का व्यापक प्रभाव था.... जैसा कि कहा जा चुका है, उपनिषदों की मूल भावना की संतोषजनक व्याख्या केवल तभी संभव है जब इस प्रकार सांसारिक बंधनों के परित्याग और गृहविरत भ्रमणशील जीवन को अपनाने वाली मुनिचर्या के अतिरिक्त प्रभाव को स्वीकार कर लिया जाये । ऐसे डेविड्स का अनुमान है कि जिन वैदिक अध्येताओं या ब्रह्मचारियों ने भ्रमणशील साधु का जीवन विलाने के लिए गृहस्थ जीवन का परित्याग किया उनके द्वारा साधुचर्या उतने उदार मानदण्डों पर गठित नहीं की जा सकी होगी जो मानदण्ड जैन मुनिचर्या के थे । इयसन के मतानुसार परंपरा का विकास इससे भी कम स्तर पर इस प्रकार के प्रथत्व द्वारा हुआ होगा जिसमें कि व्यावहारिक परिधान को आत्मज्ञान जैसे आध्यात्मिक सिद्धांत से जोड़ा गया हो और जिसका उद्देश्य था—(१) सभी वासनाओं और उनके कलस्वरूप सब प्रकार के नीतिविरुद्ध आचार का संभावित निराकरण जिसके लिए संघास या परित्याग ही सर्वाधिक उपयोगी साधन था, और (२) प्राणायाम और ध्यान-योग के यथाविधि परिपालन से उत्पन्न निरोध शक्ति के द्वारा द्वैत की भावना का निराकरण । नियमित आश्रम या जीवन के सर्वमान्य व्यवहार के रूप में जो

<sup>1</sup> रानाडे (आर डी) तथा बेलवलकर (एस के), हिन्दू और इण्डियन फिलोसोफी : द इण्डियन पौराण, पृष्ठा. पृ 400.

प्रवर्ज्या (गृहविरत अमण) और साधुत्व का विधान है उसके परिपालन के लिए एक साधक हारा अपनाये गये अभ्यासों और आदर्शों में सर्वथा परिवर्तन के बल तत्कालीन आध्यात्मिक उपदेश के फल-स्वरूप या अनिवार्य तक्संगत परिणाम के कारण नहीं आ सकता। इसके साथ-ही-साथ — संबहुला नानादिट्ठका नानाखंतिका नानाहचिका नानादिट्ठ-निस्सयनिस्ति — (बड़े गणों में चलनेवाले, विभिन्न उपदेष्टाओं का अनुगमन करनेवाले... विभिन्न मान्यताएँ रखनेवाले, विभिन्न आचारों का पालन करनेवाले, विभिन्न रुचियोंवाले और विभिन्न आध्यात्मिक मान्यताओं पर दृढ़ विश्वास रखनेवाले) साधुगणों के तत्कालीन साहृदय में जो बहुत-से निश्चित और निरंतर उल्लेख आये हैं उन्हें देखते हुए यह सीखना उचित होगा कि इस विशेषता के अकस्मात् सामने आने के कुछ जानेपहचाने वहिरंग कारण भी है। इनमें से एक यह है कि आर्य संस्कृति के भार्गदर्शक सामूहिक रूप से जब पूर्व दिशा में बढ़े, तब वे किन्हीं ऐसी जातियों के संपर्क में आये जो किसी दूसरे ही सोयान पर खड़ी थीं। इस दूसरे माध्यम से प्राप्त की गयी अमणशील साधुओं की संस्था में, स्वभावतः इस कारण से कुछ परिवर्तन आया होगा कि वह आयों की आचार संहिता और अनुशासन के शेष भाग में घुल-मिल सके, किन्तु इस नवोदित संस्था की उत्तराधिकार में प्राप्त प्रवृत्ति कालांतर में प्रतिष्ठापित मानदण्डों को नकारने के लिए विवश हुई। यहाँ तक कि ऐसे समय जब यह संस्था समाज से अलग-अलग बन-प्राप्तरों या पर्वत-कंदराओं में रह रही थी, उसने दर्शन का उपदेश धर-धर जाकर देना आरंभ कर दिया और परंपरा से परिचित शिक्षित वर्य से अपना संपर्क न्यूनतर कर लिया, जिसके फलस्वरूप विभिन्न मान्यताओं और रुचियोंवाले बुद्धिजीवियों भी निश्चित रूप से अभीष्ट परिवर्तन आया। उपनिषदुत्तरकाल के अध्ययन के स्रोत के रूप में मान्य ग्रंथों अर्थात् जैन और बौद्ध आदमों तथा आंशिक रूप से महाभारत में ऐसे विभिन्न चैत्यवासियों, साधिवियों और श्रमणों के विशद प्रसंग भरे पड़े हैं जो सब प्रकार के विषयों पर बौद्धिक विचार-विमर्श तथा आत्मिक अनुसंधान में संलग्न रहते थे, प्रत्येक मुख्य उपदेष्टा या गणाचार्य अधिकातम गणों या शिष्यों को आकृष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहता था क्योंकि उनकी संस्था उस उपदेष्टा की घोग्यता की सूचक भानी जाती थी।

ब्राह्मण-साधुवृत्ति से सर्वथा भिन्न भैन मुनिसंघ की स्वतंत्र प्रकृति और उद्भव को भली भाँति समझने में इस लंबे कथानक से पर्याप्त सहायता मिलती है। श्रमणों का यह मार्ग सम्पूर्ण निवृत्ति (सांसारिक जीवन से पूर्णतया पराङ्मुखता) और समस्त अनमार्त्व (गृहत्यागी की अवस्था) तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य और क्रहाचर्य का समन्वित रूप है। मन (मनस्), शरीर (काय), और वाच् (वाच्) के सब प्रकार से निरोग अर्थात् त्रिगुप्ति की धारणा से साधुत्व का आदर्श इस सीमा तक अधिक निखर उठता है कि वह निरंतर उपवास (संखेखना) में प्रतिक्षिप्त हो जाता है, जिसका विधान इस धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म में नहीं है। जैन साधुत्व के ऐसे ही अद्वितीय आचारों में आलोचना अर्थात् अपने पापों की स्वीकारोक्ति और प्रतिक्रमण अर्थात् पापों के परिशोधन का नित्यकर्म उल्लेखनीय है।

जैन साधुत्व का एक और अद्वितीय आचार है, कायोत्सर्ग मुद्रा में उपश्चरण—जिसमें साधु इस प्रकार खड़ा रहता है कि उसके हाथ या भुजाएँ शारीरिक अनुभूति से असंपूर्ण हो जाते हैं। यह मुद्रा,

कुछ विद्वानों के अनुसार, हड्ड्या से प्राप्त एक मुद्रा (रेखाचित्र १), पर अंकित है, जिसपर लघर की पंक्ति में एक साधु बन में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा है और एक बैल के पास बैठा एक गृहस्थ-शावक उसकी पूजा कर रहा है, और नीचे की पंक्ति में सात आकृतियाँ, तथोक्त कायोत्सर्ग मुद्रा में



रेखाचित्र १. पोहन-जै-हड़ी : सेलखड़ी में उकेरी मुद्रा

खड़ी हैं। इस समीकरण से हड्ड्याकाल में जैन धर्म के अस्तित्व का संकेत मिलता है। अन्य विद्वानों ने तथाकथित पशुपतिकाली प्रसिद्ध मुद्रा का एक तीर्थकर (कदाचित् ऋषभनाथ) से समीकरण होने का संकेत किया है। इस प्रकार के 'समीकरण' अंतिम नहीं माने जा सकते जबतक कि इन मुद्राओं पर अंकित लिपि को पढ़ नहीं सिया जाता।

अंत में यह कहा जा सकता है कि पाश्वनाथ और महावीर द्वारा उपदिष्ट साधुत्व की परंपरा निस्तंदेह अत्यन्त प्राचीन है किन्तु अन्य अनेक भगवानील साधुओं के भतों से भिन्न जैन भत की व्यवस्थित आचार-संहिता पाश्वनाथ और महावीर की ही देन है। जैन पुराणों में चौकीस तीर्थकरों के विवान से यह अभीष्ट है कि तपश्चरण के इस सिद्धांत के आरंभिक या समकालीन भाष्यकारों का स्मरण रहे और उनकी महिमा वडे तथा साथ ही जैन धर्म की सनातनता स्थापित रहे। इसलिए पार्वीनाथ से पहले के तीर्थकरों की समय-सीमा की यथावत् भाव्यतार या उनकी ऐतिहासिकता, हमारे वर्तमान ज्ञान की परिसीमा के कारण अव्यवहार्य होगी।

मधुसूदन मरहर देशपांडे

### अध्याय ३

## जैन धर्म का प्रसार

### महावीर

तीर्थकर पाश्वनाथ और महावीर के निर्वाण के मध्य ढाई सौ वर्ष लंबे अंतराल में जैन धर्म के प्रसार अथवा उसकी स्थिति के विषय में प्रायः कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। 'सूत्रकृतांग'<sup>1</sup> से यह प्रतीत होता है कि इस अवधि में ३६३ भूत-भूतांतरों का उदय हुआ था परंतु यह स्पष्ट नहीं है कि इन विचारधाराओं का जैन धर्म के साथ कितना और क्या संबंध था। ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्वनाथ के निर्वाणोपरांत उस काल में ऐसा कोई उल्लेखनीय व्यक्तित्व सामने नहीं आया जो जैन-धर्म को पुनःसंभासित कर उसका प्रसार कर पाता।

किन्तु, महावीर ने इस परिस्थिति में परिवर्तन ला दिया और अपने चरित्र, दूरदर्शिता एवं क्रियाशीलता के बल पर जैन धर्म को संगठित कर उन्होंने उसका प्रसार किया। महावीर का जन्म वैशाली के एक उपनगर कुण्डग्राम में हुआ था जो अब बसुकुण्ड कहलाता है। उनकी माता प्रसिद्ध वैशाली समर (उत्तर विहार के वैशाली जिले में आधुनिक ब्राह्म) में जन्मी थीं। महावीर का निर्वाण पावा में हुआ, जिसकी पहचान वर्तमान फटना जिलांतर्गत पावापुरी के साथ की जाती है। इससे प्रतीत होता है कि महावीर विहार से उन्निष्ठतम रूप से संबद्ध रहे।

महावीर का जीवनवृत्त सुविदित है। उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में गृहत्याग किया था। उसके उपरांत बारह वर्ष तक तपस्या की और तत्परज्ञात् तीस वर्ष फर्यत विहार करके धर्म-प्रचार किया। उसके निर्वाण की परंपरामान्य तिथि ईसापूर्व ५२७ है। वैसे कुछ विद्वान् इस तिथि को ईसापूर्व ४६७ मानने के पक्ष में हैं।

महावीर ने तीस वर्ष के अपने धर्म-प्रचारनकाल में एक स्थान से दूसरे स्थान पर निरंतर अभ्यास किया। कहा जाता है कि उन्होंने अनेक स्थानों का अभ्यास करके धर्म का प्रचार किया, जो इस बात का भी सूचक है कि उनका प्रभाव कितने ओओं में व्याप्त था। ये स्थान हैं : आलवी

1. जैन सूत्रांग, सूत्रकृतांग सूत्र, भाग 2- अनु: हरगत जेकोवी, मेक्सेड बूक्स शॉफ द इस्ट, 45, 1895, ग्रॉसफोर्ड, पृ 315, दीका पृ 208 तथा परवर्ती।

अथवा आलंभिक (श्रावस्ती और राजगृह के मध्य), अस्थिकशाम (बैशाली से पावा जानेवाले मार्ग पर), भट्टिक (बर्तमान मुगेर), शोणपुर (पावा और बैशाली के मध्य), चंपा (भागलपुर के निकट चंपानगर अथवा चंपापुर), चौरगांगनिवेश (बंगाल स्थित छोरेय), ददभूमि (सिंहभूम जिले में दल भूम), जंदुसङ्घ (पावापुरी के निकट), कजंगल (संथाल परम्परा में कंकबोर), कौशांबी (इलाहाबाद के निकट कोसल), राढा (पश्चिम बंगाल), लोहगला (रांची जिले में लोहारडागा), मध्यम-पावा (पावापुरी), मलय (निर्गंय-बिहार), शिथिला (मेपाल की तराई स्थित जनकपुर), नालंदा (नालंदा जिला), पुरिमताल (बिहार का पुरुलिया स्थान, अन्य मतानुसार उत्तर प्रदेश का प्रयाग, इलाहाबाद), राजगृह (नालंदा जिले में राजगिर), श्रावस्ती (गोडा-बहराइच जिलों में सहेठ-महेठ), सेयदिया (सहेठ-महेठ के निकट), सिद्धार्थपुर (झीरझूम जिले का सिद्धार्थगढ़), सुकभूमि (दक्षिण-पश्चिमी बंगाल का सुहम), सुसुमारपुर (मिरजापुर जिले में चुनार के निकट), लोसलि (पुरी जिले में बीली), वाराणसी एवं बैशाली (वसाढ़)। कतिपय अनुश्रुतियों के अनुसार महावीर ने और भी कुछ शुद्ध स्थानों में विहार किया था।

उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त, जिनकी पहचान संभव है, महावीर से संबद्ध ऐसे भी कुछ स्थान हैं जिनकी स्थिति निश्चित नहीं की जा सकती। इससे इतना तो स्पष्ट है कि महावीर ने बिहार, पश्चिम बंगाल के पश्चिमी जिलों तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में जैन धर्म-प्रचार का प्रयास किया था। अतएव ऐसा लगता है कि पाश्वनाथ और महावीर दोनों के प्रभाव-क्षेत्र प्रायः अभिन्न रहे हैं। यह भी संभव है कि पाश्वनाथ और महावीर के अंतराल में किसी प्रकार की कोई धार्मिक अपराजकता रही हो जिसके कारण महावीर ने अपना जीवन उसी क्षेत्र में जैन धर्म को पुनर्गठित करने में व्यतीत कर दिया जहाँ पहले पाश्वनाथ द्वारा धर्म-प्रसार किया जा चुका था।

महावीर के अनुयायी पर्याप्त संख्या में रहे होंगे, यथा— चौदह हजार मुनि, छत्तीस हजार आधिकार्ण तथा पांच लाख के लगभग श्रावक-श्राविकाएँ। अनेक राजा और रानियाँ, राजकुमार और राजकुमारियाँ उनके भक्त थे, किन्तु उन सब की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना संभव नहीं है। इस संबंध में कुछ विचार तो यहाँ तक कहते हैं कि उस काल के प्रायः सोलह महाजनपद महावीर के प्रभाव-क्षेत्र में थे, जबकि श्री घटगे का कथन है कि परंवर्ती जैन अनुश्रुति जिसे पर्याप्त ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त नहीं है, तत्कालीन उत्तर-भारत के प्रायः सभी राजाओं से महावीर का पारिवारिक संबंध बताती है क्योंकि उनकी रानियाँ उन महाराजा चेटक की पुत्रियाँ बतायी जाती हैं जो महावीर के मामा थे।<sup>1</sup>

महावीर के कतिपय प्रतिद्वंद्वी भी रहे प्रतीत होते हैं जिनमें से एक प्रबल प्रतिद्वंद्वी आजीविक संप्रदाय का संस्थापक गोसाल मंकसलिपुत था। वह श्रावस्ती का निवासी था। परंतु उसके सुनिश्चित

1 घटगे (१८ एम). एस आंक इम्पोरियल प्रूफिटो. संग : भार सी मजूमदार तथा ए डी पुसालकर. 1960. बंबई. पृ 415. एक अन्य परंपरा के अनुसार चेटक महावीर के नाना थे.

**पर्याय 3 ]**

जैन धर्म का प्रसार

प्रभाव-क्षेत्र का निर्णय करना दुष्कर है। यह तो सुविदित है कि आजीविकों का अस्तित्व अशोक के समय में और उसके भी उपरान्त रहा।

महावीर के स्थारह मुख्य शिष्य या गणधर थे जिन्हें जैन संघ को उपयुक्त रूप में अनुशासित रखा था। ये सभी गणधर आहुण थे जो बिहार की छोटी-छोटी बस्तियों से आये प्रतीत होते हैं। उनमें मात्र दो गणधर राजगृह और मिथिला – जैसे नगरों से आये थे। इससे यह पुनः प्रमाणित होता है कि महावीर के जीवनकाल में जैन धर्म का प्रसार, विस्तार पश्चिम-बंगाल और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों तक ही सीमित रहा।

\* महावीर के संघठन-क्रीशल तथा उनके गणधरों की निष्ठा ने जैन संघ को सुव्यवस्थित बनाये रखा। किन्तु महावीर के जीवनकाल में ही बहुरथ तथा जीवपरस्पर नामक दो पृथक् संघ गठित हुए बताये जाते हैं। यद्यपि उन्हें कोई विशेष समर्थन प्राप्त हुआ नहीं लगता। अंत में दिगंबर-श्वेतांबर नामक संघभेद ही ऐसा हुआ जिसने जैन धर्म के विकास-क्रम, प्रसार-क्षेत्र, मुनिचर्या और प्रतिमानविज्ञान को प्रभावित किया।<sup>1</sup>

### महावीरोपरांत का सहस्राब्द

दिगंबर-श्वेतांबर संघभेद के प्रसंग में ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रसार का उल्लेख मिलता है। परंतु इसपर चर्चा करते के पूर्व हम महावीर के निवणोपरांत तथा मौर्यों से पूर्व के युग में उत्तर भारत में जैन धर्म के प्रसार का लेखा-जोखा ले लें।

ईसा-पूर्व की चौथी शताब्दी में हुए नन्दों के कतिपय पूर्वजों का महावीर के साथ कुछ संबंध रहा प्रतीत होता है। अनुश्रुति है कि महाराज सेणिय बन्धसार (विभिसार) और उसका पुत्र कूणिया या अजातशत्रु (अजातशत्रु) महावीर के भक्त थे। अजातशत्रु के शासनकाल में ही गौतम बुद्ध और महावीर के निवण हुए। किन्तु यदि महावीर का निवाण ईसा-पूर्व ५२७ श्रीरंबुद्ध का ४८७ या ४८३ में हुआ मानें तो इस कथन को सिद्ध करने में कठिनाई आती है। बीढ़ ग्रंथों में इस नरेश के प्रति की गयी निन्दा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका भुकाव जैन धर्म की ओर था। यही बात उसके उत्तराधिकारी उदायी के विषय में कही जा सकती है, जिसके द्वारा पाटलिपुत्र में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया गया बताया जाता है तथा जिसके राजमहल में जैन साधुओं का निवास रूप से आना-जाना था। यद्यपि पाटलिपुत्र में उत्तर मंदिर के अस्तित्व का कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है तथापि यह संभावना है कि इस नरेश के समय में यह प्रसिद्ध राजधानी जैन धर्म का केन्द्र बन गयी थी।

उसके उत्तराधिकारी नन्द राजाओं ने भी जैन धर्म को अत्याधिक संरक्षण प्रदान किया प्रतीत होता है। एक अनुश्रुति के अनुसार नन्द का जैन मंत्री सगडाल सुप्रसिद्ध जैनाचार्य स्थूलभद्र का

1. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य: देव (एस बी), हिन्दू और जैन मौनकित्तम्, 1956, पृ. 80 तथा परवतीं.

पिता था। मुद्राराजस नाटक में वर्णन मिलता है कि जैन साधुओं को राजा नन्द का विश्वास प्राप्त था। संभवतः इसीलिए चारणकथा नन्द को राजपद से हटाने के लिए एक जैन साधु की सेवाओं का उपयोग किया था।

साहित्यिक साक्षों से कही अधिक विश्वसनीय ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी (कुछ विद्वानों के अनुसार द्वितीय शताब्दी) में हुए कलिंग के शासक चेतिवंशीय महाराजा खारवेल के शिलालेख का साक्ष्य उपलब्ध है। इस अभिलेख के अनुसार यह नरेश अपने शासन के बारहवें वर्ष में कलिंग की तीर्थकर प्रतिमा को जिसे मण्ड का नन्दराज नूडलर ले गया था, शान्त इलिंग ले भाग था। इससे स्पष्ट है कि नन्दों के समय तक जैन धर्म का प्रसार कलिंग देश पर्यंत ही चुका था। व्यवहारभाष्य में भी राजा तोसलिक का उल्लेख प्राप्त होता है जो तोसलि नगर में विराजमान एक तीर्थकर-प्रतिमा की मनोयोगपूर्वक रक्षा में दत्तचित्त था।

नन्दों के उत्तराधिकारी मौर्यवंशीय राजाओं में से कई जैन धर्म के प्रशंशदाता रहे प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ एक अविच्छिन्न जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन धर्म की ओर दृढ़ भुकाव था। अनुश्रुति है कि भद्रबाहु नामक सुप्रसिद्ध जैनाचार्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में मण्ड में द्वादश वर्षीय दुष्मिक की भविष्यवाणी की थी और वह अपने परम शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत की ओर विहार कर चुके थे तथा यह भी कि साम्राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य ने सल्लेखना व्रत-पूर्वक समाधिमरण किया था। यह कहा जा सकता है कि इस प्रसंग से संबंधित शिलालेखीय साक्ष्य अन् ६५० जितना प्राचीन है।<sup>1</sup> चन्द्रगुप्त के समय में जैन मुनियों की उपस्थिति के समर्थन में कुछ विद्वान् चन्द्रगुप्त की राजसभा में आये युनानी राजदूत मेगस्थनीज द्वारा किये गये श्रमणों के उल्लेख को प्रस्तुत करते हैं। यदि हम शिलालेख में उल्लिखित अनुश्रुति को, हठनी परवर्ती होने पर भी, स्वीकार करते हैं तो उससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिण भारत में चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व में ही जैन धर्म का प्रसार हो चुका था।

चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी बिन्दुसार के विषय में जैन लोत मौन हैं। बिन्दुसार के उत्तराधिकारी अशोक के विषय में तो यह सुविदित ही है कि वह बौद्ध धर्म का प्रबल पक्षधर था। कदाचित् इसीलिए जैन लोत अशोक के विषय में पूर्णतया मौन हैं। कुछ विद्वान् अशोक की अहिंसापालन विषयक विज्ञप्तियों और सर्वधर्म-सम्भाव की घोषणा में आवश्यकता से अधिक धर्म निकालने की चेष्टा करते हैं। ये तो मात्र अशोक की नैतिक उदारता और सहिष्णुता की भावना के परिचायक हैं, क्योंकि उसने ये आदेश प्रसारित किये थे कि ब्राह्मणों, श्रमणों, निर्ग्रन्थों और आजीविकों को उचित सम्मान और सुरक्षा प्रदान की जाये।

किन्तु, जैन ग्रंथ अशोक के गुप्त कुण्डल के विषय में, जो उज्ज्यविनी प्रदेश का राज्यपाल था, अधिक विशद विवरण देते हैं। बाद के वर्षों में उसने अपने पिता अशोक को प्रसन्न करके उनसे यह

1. ऐपीप्राक्तिका कन्दितिका, 2. संशोधित संस्करण, 1923, पृ 6-7, इतिवाचन 31.

प्रार्थना की थी कि राज्य उसे दे दिया जाये। कहा जाता है कि अशोक ने कुणाल के पुत्र सम्प्रति को मध्य भारत स्थित उज्जैन में अपने प्रतिनिधि के रूप में राजा नियुक्त किया था और कुणाल ने कालांतर में समूचे दक्षिणाधय को विजित कर लिया था। अशोक की मृत्यु के उपरांत सम्प्रति उज्जैन पर और दक्षरथ फटलियुत्र पर शासनारूढ़ रहे प्रतीत होते हैं।

सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रसार में प्रभूत योग दिया। साहित्यिक साक्षों के अनुसार वह आर्य मुहसित का शिष्य था और जैन साधुओं को भोजन एवं वस्त्र प्रदान करता था। यदि यह सत्य है तो इसका अर्थ है कि ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी के अंत तक जैन धर्म मध्य प्रदेश में प्रसार पा चुका था। सम्प्रति को उज्जैन प्रांत में जैन पर्वों के मानने तथा जिन-प्रसिमा-पूजोत्सव करने का श्रेय दिया जाता है। बृहत्-कल्पसूत्र-भाष्य<sup>1</sup> के अनुसार उसने अन्द (आंत्र), दमिल (द्रविड़), महरू (महाराष्ट्र) और कुडुक (कोडगु) प्रदेशों को जैन साधुओं के विहार के लिए सुरक्षित बना दिया था।

मौर्यकाल में जैन धर्म का जल-साधारण पर प्रभाव था, इसका समर्थन पटना के निकटवर्ती लोहानीपुर से प्राप्त जिन-बिम्ब के धड़ से भी होता है। यद्यपि सम्प्रति को अनेक जैन मंदिरों के निर्माण कराने का श्रेय दिया जाता है परंतु आज इन मंदिरों का कोई भी अवशेष प्राप्त नहीं है जो इस तथा की पुष्टि कर सके।

प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व के कलिंग-नरेश चेतिवंशीय खारवेल का उल्लेख हम पहले (पृष्ठ 2३) कर चुके हैं, जो उस कलिंग-जिन-द्विम्ब को पुनः अपनी राजधानी (कलिंग) में ले आया था जिसे लूटकर नन्दराज मगध ले गया था। उड़ीसा में भुवनेश्वर की निकटवर्ती पहाड़ियों में स्थित हाथीगुफा में प्राप्त खारवेल का शिलालेख जैन धर्म के विषय में भी प्रसंगतः रोचक विवरण प्रस्तुत करता है। यह शिलालेख अहंतों एवं सिद्धों की वंदना से प्रारंभ होता है और यह भी सूचित करता है कि खारवेल ने चौसठ-अक्षरी सप्तांगों को संकलित कराया था जो मौर्यकाल में नष्ट हो गये थे। इससे स्पष्ट है कि खारवेल जैन धर्म के साथ सक्रिय रूप से संबद्ध था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है (पृष्ठ 2५), जैन धर्म के समस्त नित्यों (भिन्न मत-संप्रदाय) में दिगंबर-श्वेतांबर मतभेद ही मंभीरतम था क्योंकि इसी के कारण जैन धर्म स्थायी रूप से दो आम्नायों में विभक्त हो गया। उक्त मतभेद के जन्म के विषय में दिगंबर एवं श्वेतांबरों द्वारा दिये गये कथानकों के विस्तार में जाना यहाँ अधिक समीक्षीय नहीं है, मात्र इतना कहना पर्याप्त होगा कि दिगंबर-आम्नाय के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षा ने जैन मुनिसंघ के एक भाग को आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण-भारत की ओर विहार कर जाने के लिए विवश किया और जो मुनि मगध में ही रह गये थे उन्हें खण्डवस्त्र धारण करने की छूट दे दी गयी। ये अद्व-फालक मुनि ही श्वेतांबरों के पूर्व रूप थे। इसके विपरीत श्वेतांबरों का कहना है कि शिव-

1. बृहत्-कल्पसूत्र-भाष्य, 3, 3275-89.

भूति नामक साधु ने कोध के आवेश में नग्नत्व स्वीकार किया था। अतएव इन संप्रदायिक कथनों को स्वीकार करने की अपेक्षा यह कहना अधिक निरापद होगा कि उस काल में ऐसे दो वर्गों का अस्तित्व था, जिनमें से एक स्थितिगालक या शुद्धाचारी था जो नग्नता पर बल देता था और दूसरा शारीरिक रूप से कृद्ध तथा अक्षम जैन साधुओं का वर्ग था जो पहले वर्ग के दिगंबरत्व का समर्थक नहीं था। कालान्तर में यही शुद्धाचारी (जिनकल्पी) और शिथिलाचारी (स्थविरकल्पी) साधु क्रमशः दिगंबर और श्वेतोबर संप्रदायों के रूप में प्रतिफलित हो गये होंगे। जो भी हो, यह बात युक्तियुक्त प्रतीत होती है कि इन दोनों संप्रदायों के मध्य भत्तभेद वीरे-वीरे बढ़ते गये, जो ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग अंत तक रुद्ध हो गये।

उज्जैन से आगे के भारत के पश्चिमी भाग ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में ही जैन धर्म के प्रभाव में आ गये प्रतीत होते हैं। साहित्यिक अनुश्रुतियों के अनुसार सम्प्रति मौर्य के भाई सालियुक ने सौराष्ट्र<sup>1</sup> में जैन धर्म के प्रसार में योग दिया। गुजरात-काठियावाड़ के साथ जैन धर्म का परंपरागत संबंध वाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ के समय तक पहुँचता है जिन्होंने काठियावाड़ में मुनिदीक्षा ली थी।<sup>2</sup> इस प्रकार प्रायः ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक कल्पित, अवन्ति और सौराष्ट्र जैन धर्म के प्रभाव में आ गये प्रतीत होते हैं।

उत्तरकालीन जैन साहित्य में प्रतिष्ठान – उत्तरी दक्षिणापद में स्थित वर्तमान पठन – में शतसन करनेवाले सातवाहनवंशी नरेश सालाहण या शालिवाहन से संबंधित कथानक प्रचूर मात्रा में प्राप्त होते हैं। कालकाचार्य ने, जिनका पौराणिक संबंध पश्चिमी भारत के शक शासक के साथ रहा था, शालिवाहन से भी संपर्क किया बताया जाता है। हाल ही में प्रो० सांकलिया ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के लगभग के एक शिलालेख को प्रकाश में लाये हैं, जिसका प्रारंभ, उनके अनुसार, एक जैन मंत्र के साथ होता है।<sup>3</sup> तथापि, सातवाहनों के साथ जैनों के व्यापक संबंधों के प्रमाण अत्यल्प ही हैं।

सुदूर दक्षिण में सिंहलन्दिन् द्वारा ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग गंग राज्य की स्थापना के साथ-साथ जैन धर्म ने बस्तुतः राष्ट्र-धर्म का रूप प्राप्त कर लिया था। कोणूणिवर्भन, अविनीत तथा शिवमार जैसे राजा तथा उनके उत्तराधिकारी भी जैन धर्म के परम उपासक थे, जिन्होंने जैन मंदिरों, मठों तथा अन्य प्रतिष्ठानों के लिए अनुदान दिये थे।<sup>4</sup>

1. जन्मल अर्णव द बिहार एवं उडीका इतिहास शोसाइटी, 16; 1930; 29-31.

2. शृण्डियन् हिस्टोरिकल एवाउल्यै. 16; 1940; 314.

3. स्वाध्याय (गुजराती जन्मल), बड़ीका, 7,4; 419 तथा फरवरी।

4. अवंगर (के) तथा राव (एव). स्टडीज इन साउथ हिंडियन जैमिल, 1922. मद्रास, पृ 110-11. / विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : कृष्णराव(एम वी). गंगाज अर्णव तलकाड़, 1936. मद्रास, पृ 204-05.

गंग राजाओं की भाँति कदम्ब राजा (चौथी शती ई० से) भी जैन धर्म के संरक्षक थे। काकुत्स्थवर्मन, मृगेशवर्मन, रघिवर्मन एवम् देववर्मन के शासनकालों के शिलालेख कदम्ब राज्य में जैन धर्म की लोकप्रियता के साक्षी हैं।<sup>1</sup> इन अभिलेखों में श्वेतपटों, निर्णयों तथा कूचकों (नम तपस्वियों) के उल्लेख हैं जो कि विभिन्न सावुसंघों में संगठित रहे प्रतीत होते हैं। ये अभिलेख देव-प्रतिमाओं की घृत-मूजा जैसी कतिपय प्रथाओं का भी उल्लेख करते हैं।

ऐसे भी कुछ साक्ष्य मिले हैं जिनसे विदित होता है कि सुदूर दक्षिण के कतिपय चेरवंशीय नरेश भी जैन आचारों के संरक्षक रहे थे।<sup>2</sup> गुएरिनॉट ने चोल शासनकाल के कुछ शिलालेखों का विवरण दिया है जिनमें जैन सम्प्राणों के लिए मूर्म प्रदान किये जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>3</sup>

अब हम पुनः मध्य एवं उत्तर भारत में जैन धर्म के प्रसार की स्थिति पर विचार करेंगे। ऐसी अनुश्रुति है कि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के ब्रह्मण उज्जीन में सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य का उदय हुआ था जिसे प्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जैन धर्म में दीक्षित किया था।<sup>4</sup> प्रसिद्ध कालकाचार्य कथानक से विदित होता है कि किस प्रकार उक्त आचार्य ने परिचम और मध्यभारत में शकराज का प्रवेश कराया था। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि मध्य भारत और दक्षिणापथ में, जहाँ जैन धर्म का प्रथम संपर्क संभवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में हुआ था, जैन धर्म की प्रवृत्ति किन्हीं अंशों में बनी रही। इसका समर्थन हाल ही में पूना जिले में प्राप्त ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी के एक जैन गुफा-शिलालेख से होता है।<sup>5</sup>

उत्तर भारत में मथुरा जैन धर्म का महान् केन्द्र था। जैन स्तूप के अवशेष तथा साथ में प्राप्त शिलालेख, जिनमें से कुछ ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी तक के हैं, मथुरा क्षेत्र में जैन धर्म की संपन्न स्थिति की सूचना देते हैं। मथुरा स्थित कंकाली टीले के उत्तरानन से इट-निर्मित स्तूप के अवशेष, तीर्थकरों की प्रतिमाएँ, उनके जीवन की घटनाओं के अंकन से बुक्त मूर्तिखंड, आयागपट, लोरण तथा वेदिका-स्तंभ आदि प्रकाश में आये हैं जो अधिकांशतः कुषाणकालीन हैं। व्यवहारभाष्य (५, २७) के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मथुरा में एक रत्नजटित स्तूप था तथा मथुरानिवासी जैन धर्म के अनुयायी थे और वे अपने घरों में तीर्थकर प्रतिमाओं की पूजा करते थे।

मथुरा से प्राप्त ये साक्ष्य जैन धर्म के विकास के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। अनेकानेक शिलालेख यह तथ्य प्रकाश करते हैं कि तत्कालीन समाज के व्यापारी तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति बहुत

1 विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : शोरें (जॉर्ज ईम), कदम्बकुल, 1931, वर्ष १, पृ 254-55.

2 जैन एष्ट्रोक्येरी, 12, 2; 1946-47; 74.

3 गुएरिनॉट (ए). रिपरदॉयर द ऐण्ट्राइल जैन, 1908, फैल्स, संख्या 167, 171 तथा 478.

4 कलाट (जोहन्स). इष्टियन एष्ट्रोक्येरी, 11; 1882; 247 और 251.

5 यह सूचना प्रोफेसर एच डी सांकलिया के सौजन्य से प्राप्त हुई है।

बड़ी संख्या में जैन धर्मनियायी थे, क्योंकि दान देनेवालों में कोषाभ्यक्ष, गंधी, धातुकर्मी (लुहार, ठठेरे आदि), शोषियों के सदस्य, ग्राम-प्रमुख, सार्थवाहों की पत्तियाँ, व्यापारी, नर्तकों की पत्तियाँ, स्वर्णकार तथा गणिका जैसे वर्गों के व्यक्ति संमिलित थे।<sup>1</sup> इन शिलालेखों में विभिन्न गणों, कुलों शाखाओं तथा संभागों का भी उल्लेख है जिनसे ज्ञात होता है कि जैनसंघ सुगठित एवं सुव्यवस्थित था। तीर्थकरों की अनेक प्रतिमाओं की प्राप्ति से यह भी सिद्ध होता है कि इस काल तक मूर्तिपूजा पूर्णरूपेण स्थापित एवं प्रचलित हो चुकी थी।

इस सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में सीराष्ट्र में जैन धर्म की प्रवृत्ति का अनुमान, कुछ विद्वानों के अनुसार, जूनागढ़ के निकट बाबा-प्यारा मठ में पाये गये जैन-प्रतीकों से लगाया जा सकता है।<sup>2</sup> किन्तु यह साक्ष्य पूर्णतया विश्वासप्रद नहीं है। क्षत्रप शासक जयदामन के पीत्र के जूनागढ़वाले शिलालेख में 'देवलज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है,<sup>3</sup> जो वस्तुतः एक जैन पारिभाषिक शब्द है। इससे विदित होता है कि काठियावाड़ में जैन धर्म का अस्तित्व कम से कम इसा सन् की प्रारंभिक शताब्दियों से रहा है। प्रोफेसर सांकलिया ने इस संबंध में वर्तमान राजकोट जिलांतर्गत घोड़ल से प्राप्त तीर्थकर-प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। जिनका समय वह सन् ३०० के लगभग निर्धारित करते हैं।<sup>4</sup> इससे आगे की शताब्दियों में मुजरात में जैन धर्म का प्रबल प्रभाव रहा, यह इस बात से स्पष्ट है कि बलभी में दो सम्मेलन (संगीतियाँ) आयोजित हुए थे, जिनमें से प्रथम चौथी शताब्दी में तथा द्वितीय पाँचवीं शताब्दी में हुए बताये जाते हैं, किन्तु इन सम्मेलनों की तिथियों के विषय में मतेक्ष्य नहीं है।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि इसा सन् के आरंभ होने तक तथा उसकी प्रारंभिक शताब्दियों में जैन धर्म का कार्यक्षेत्र पूर्वी भारत से मध्य एवं पश्चिम भारत की ओर स्थानांतरित हो गया था।

उत्तर भारत में कुषाणों के पतनोपरांत गुप्त-शासकों ने ब्राह्मण धर्म को पुनरुज्जीवित एवं संगठित करने में सहायता दी। तथापि यह मानना सदृष्ट होगा कि उस काल में जैन धर्म का गत्य-वरोध हुआ। यद्यपि गुप्त-शासक मूलतः बैष्णव थे तथापि उन्होंने उल्लेखनीय धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। अब यह विदित है कि प्रारंभिक गुप्त-शासक रामगुप्त के समय में तीर्थकर-प्रतिमाओं

1. देव, पूर्वोंत्त, पृ. 101.

2. बर्जेस (जेम्स). रियोर्ड ऑफ दि एंटीक्वरीज ऑफ काठियावाड़ ऐड कच्छ, आर्क-पॉलॉनिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया, न्यू इंपीरियल सीरीज, 1876, लंदन. / सांकलिया (एच डी). आर्क-पॉलॉन्जी ऑफ गुजरात, 1941. बम्बई, पृ. 47-53.

3. ऐवीग्रामिया इष्टिका, 16; 1921-22; 239.

4. सांकलिया, पूर्वोंत्त, 1941, पृ. 233.

की प्रतिष्ठा हुई थी। कुमारगुप्त के शासनकाल में उत्कीर्ण उदयगिरि गुफा के शिलालेख में पाश्वनाथ की प्रतिष्ठापना का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> मथुरा के एक शिलालेख में एक शाविका द्वारा कोट्टियगण के अपने गुरु के उपदेश से एक प्रतिमा की स्थापना कराये जाने का उल्लेख है।<sup>२</sup> कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कंदगुप्त के शासनकाल से भी संबंधित इस प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है। कहाँ स्तंभ के लेख में, जो कि सन् ४६०-६१ का है, मद्र नामक व्यक्ति द्वारा पाँच तीर्थकर मूर्तियों की प्रतिष्ठापना का वर्णन है।<sup>३</sup> इन यत्र-तत्र विखरे साक्ष्यों में उस विवरण को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो कि बौद्धादेश में पहाड़पुर से प्राप्त ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है और बुधगुप्त के शासनकाल का है। उसमें एक आहारण दंपति द्वारा एक जैन विहार की आवश्यकताओं की संपूर्ति के लिए भूमि-दान का उल्लेख है।<sup>४</sup>

इस संदर्भ में हैवेल का यह कथन उद्धरणीय है कि : 'गुप्त सम्राटों की राजधानी ब्राह्मण संस्कृति का केन्द्र बन गयी थी, किन्तु जन-सामान्य अपने पूर्वजों की धार्मिक परंपराओं का ही पालन करता था, और भारत के अधिकांश भागों में बौद्ध एवं जैन विहार सार्वजनिक विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के रूप में कार्य कर रहे थे।'<sup>५</sup>

### परवर्ती इतिहास

उत्तर भारत में गुप्त-साम्राज्य के पतनोपरांत हर्षवर्धन के राज्यारंभ तक का इतिहास धूमिल-सा है। यद्यपि हर्ष का बौद्ध धर्म से धनिष्ठ संबंध था, तथापि जैसा कि जैन गृहस्थों द्वारा विहार के जैन संस्थानों को दिये गये दानों से ज्ञात होता है, जैन धर्म ने इस काल में अपना अस्तित्व बनाये रखा। यों उसकी स्थिति दुर्बल ही रही।<sup>६</sup> हर्ष के परवर्ती काल में जैन धर्म ने राजपूताना, गुजरात और मध्य भारत में प्रसार पाया।

देवगढ़ से प्राप्त प्रतीहारकालीन कतिपय शिलालेख सन् ८६२ के लगभग वहाँ एक स्तंभ के स्थापित किये जाने का उल्लेख करते हैं। देवगढ़ में जैन मंदिरों के एक समूह के अवशेष तथा बड़ी

१. फ्लीट (जे एफ). इंडिपेंसेंस ग्रॉफ वि अल्टी गुप्ता किंस. कोर्ट्स इंस्प्रिलन्स इण्डिकेरम. ३, १८८८. कलकत्ता, पृ. २५८.

२. ऐपीसारफिया इण्डिका. २; १८९४; २१०.

३. फ्लीट, पूर्वोक्त, पृ. ६६-६७.

४. ऐपीसारफिया इण्डिका, २०; १९२९-३०; ५९.

५. उद्धरण : देव, पूर्वोक्त, पृ. १०४.

६. ग्लासेनेप (एच बी). डैर जैनिकमस (गुजराती अनुवाद), पृ. ४६.

संख्या में तीर्थकरों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।<sup>1</sup> जोधपुर के निकट ओसिया स प्राप्त बत्सराज (७७८-८१२) के शासनकाल के एक अन्य शिलालेख में एक जैन मंदिर के निर्माण का विवरण है।<sup>2</sup> इससे ज्ञात होता है कि प्रतीहारों के शासनकाल में जैन धर्म सक्रिय रहा, यद्यपि उसके वैभव के दिन बीत चुके थे।

नौवीं शताब्दी से बुद्धेलखण्ड क्षेत्र के शासक चंदेल राजाओं के समय में जैन धर्म अपने लुप्त वैभव को पुनः प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है। लजुराही में आदिनाथ, और पाशवंनाथ के भव्य मंदिर तथा घटाई मंदिर के अवशेष इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि इस क्षेत्र में जैन धर्म के अनुयायी विशाल संख्या में थे। बंगराज, मदनवर्मन और परमार्हित के शासनकालों के भी जैन धार्मिक शिलालेख उपलब्ध हैं। बास्तु-स्मारकों तथा मूर्तियों के अवशेष तथा शिलालेख यह सिद्ध करते हैं कि नौवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य महोवा, लजुराही, तथा अन्य स्थान जैन धर्म के महान् केन्द्र थे।

हैहयों (नौवीं से बारहवीं शताब्दी) परमारों (लगभग दसवीं से तेरहवीं शताब्दी), कच्छपधातों, (लगभग सन् ८५० से ११२५) और गाहड़वाल राजाओं के (लगभग १०७५ से सन् १२००) के शासनकालों में मालवा, गुजरात, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के अमरों में जैन धर्म का विद्यालय प्रभाव रहा जैसा कि इन क्षेत्रों में स्थान-स्थान पर पाये गये अनेकानेक शिलालेखों, प्रतिमाओं और भग्न मंदिरों से समर्थित होता है। दसवीं और बारहवीं शताब्दियों में मालवा के कुछ परमार राजाओं, यथा सिधुराज, मुञ्ज, भोज और जयसिंह ने अनेकानेक प्रसिद्ध जैन विद्वानों एवं साहित्यकारों को प्रथम प्रदान किया था। आशाधर जैसे कुछ अन्य लब्धप्रतिष्ठ जैन विद्वान् इसी वंश के तरेज अर्जुन वर्मन के प्रथम में पल्लवित हुए। परमारों के राज्य में कई जैन उच्च पदों पर भी आसीन थे।

मध्यकालीन गुजरात में राष्ट्रकूटों (सन् ७३३-८७५) के, और विशेषकर चौलुक्यों (सन् ८४०-१२६६) के शासनकालों में जैन धर्म को प्रभूत उत्कर्ष प्राप्त हुआ। राष्ट्रकूट-कालीन कुछ तांत्र-पत्रों में जैन संघ के कई समुदायों के अस्तित्व का उल्लेख है; उदाहरणार्थ, कर्कराज सुवर्णवर्ण के सन् ८२१ के एक तांत्र-पत्र-लेख में सेनसंघ और सूलसंघ की विद्यमानता का तथा नागसारिका (वर्तमान नवसारी) में स्थित एक जैन मंदिर एवं जैन विहार का उल्लेख है।<sup>3</sup>

चौलुक्य नरेशों के शासनकाल में श्वेतांबर जैन संप्रदाय ने गुजरात में अपना दृढ़ प्रभाव स्थापित कर लिया था। इस वंश का शासक भीमदेव उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रश्नदाता था।

1. आर्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट्स, 10. संसा : एलेक्झेंडर कनिंघम, 1880. कलकत्ता, पृ 100-01.

2. आर्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐस्टम स्किल, प्रोग्रेस रिपोर्ट, 1906-07, पृ 15. संसा : आर्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1908-9, पृ 108.

3. एथीशाफिया इण्डिका, 21; 1931-32; 136-144.

यत्पि वद् जैन मतावलंबी था तथापि उसने भंकी विमल को आदू पर्वत पर प्रसिद्ध विमलवसही मंदिर के निर्माण कराने की अनुमति प्रदान की थी। विश्वास किया जाता है कि राजा जयसिंह की सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र से बनिष्ठ मैत्री थी। इस काल में इवेतावर और दिगंबर आचार्यों के मध्य शास्त्रार्थ भी होते थे।

जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने पालिताना, गिरनार और तारंगा में जैन मंदिरों का निर्माण कराया था तथा विशेष दिनों में पशु-बव पर भी प्रतिबंध लगाया था। यह कहना अतिक्योक्ति न होगा कि कुमारपाल के प्रयास के फलस्वरूप गुजरात के निवासी आज पर्वत भी शाकाहारी हैं।

कुमारपाल के उपरांत जैन धर्म के प्रति तीक्ष्ण प्रतिक्रिया हुई और कहा जाता है कि उसके उत्तराधिकारी ने कुछ जैन मंदिरों को भी छवस्त करा दिया था। किन्तु राजकीय संरक्षण के समाप्त हो जाने पर भी प्रतीत होता है कि जैन धर्म को जैन मंत्रियों, व्यापारियों एवं जन-साधारण का बहुत संपोषण और समर्थन मिलता रहा। आदू, गिरनार और शशुजय पर्वतों के मंदिरों का निर्माण बघेले राजाओं के मंत्रियों द्वारा कराया गया था। इस काल के अनेक अभिलेख साक्षी हैं कि इस समय जैन धर्म को व्यापक लोकप्रिय समर्थन प्राप्त था।

मध्यकालीन राजपूताने के शासक वंशों द्वारा जैन धर्म को प्रदत्त राज्याश्रय का साक्ष्य इस काल के जैनों की दान-प्रशस्तियों से प्राप्त होता है। मध्यकाल में पश्चिम भारत में जैन धर्म को जो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ उसने एक स्थायी प्रभाव छोड़ा। जिसके परिणामस्वरूप गुजरात और राजस्थान में आज भी पर्याप्त संख्या में जैन धर्मनियायी विद्वानात हैं।

पूर्ववर्ती शताव्दियों में दक्षिणाधर्थ में जैन धर्म के प्रसार का जो अर्थ एवं अस्पष्ट साक्ष्य प्राप्त है, उसकी अपेक्षा बादामी के चालुक्यों (सन् ५३५-७५७) के काल में जैनधर्म की स्थिति में व्यापक परिवर्तन हुआ। सातवीं शताब्दी में यहाँ जैन धर्म की समृद्ध स्थिति का परिचय अनेक शिलालेखीय साक्ष्यों से प्राप्त होता है। कोलहापुर से प्राप्त ताम्र-पत्रों और बोजापुर जिलांतर्गत ऐहोले, वारवाड़ जिलांतर्गत लक्ष्मेश्वर और अदूर से प्राप्त शिलालेखों में जैन मंदिरों के निर्माण तथा उनकी व्यवस्था के लिए सूमि के अनुदान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त इस अवधि में बादामी, ऐहोले एवं वाराशिव की गुफाओं में पायी गयी जैन प्रतिमाएँ और प्रतीक दक्षिणाधर्थ में जैन धर्म की उपस्थिति की सूचक हैं।

मान्यलेट के राष्ट्रकूटों (सन् ७३३-८७५) के शासनकाल में जैन धर्म को राज्याश्रय भी प्राप्त रहा प्रतीत होता है। इस वंश के कई राजाओं का जैन धर्म के प्रति अत्यंत भक्ताव रहा।<sup>2</sup> यह

1. देव, पूर्वोक्त, पृ. 116-17.

2. अलेकर (अनन्त सदाशिव), राष्ट्रकूट एवं वेयर टाइम्स, 1934, पुना, पृ. 272-74

भी कहा जाता है कि जिमसेन, अमोघवर्ष (सन् ८१४-७८) के सुह थे। उसके उत्तराधिकारियों कृष्ण-द्वितीय (सन् ८७८-८१४), इंद्र-तृतीय (लगभग सन् ८१४-२२) तथा इंद्र-चतुर्थ (लगभग सन् ८७३-८२) ने जैन धर्म को अपना प्रधान दिया तथा जैन मंदिरों के लिए अनुदान दिये थे। यह भी प्रतीत होता है कि राष्ट्रदूर्घटों के साथौर, यथा सौदत्ति के रट्ट, भी जैन धर्म के प्रश्नदाता थे। एलोरा की जैन मुफारं, जिनके निर्माण का समय राष्ट्रकूट-काल निर्धारित किया जा सकता है, दक्षिणापथ में जैन धर्म की संपन्न स्थिति के साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं।

आगे चलकर जैन धर्म को कल्याणी के चालुक्यों (सन् ६७३-१२००), देवगिरि के यादवों (सन् ११८७-१३१८) तथा शिलाहारों (सन् ११०-१२८०) के शासनकालों में और अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। इस तथ्य का समर्थन महाराष्ट्र के दक्षिणवर्ती जिलों तथा कर्नाटक के विभिन्न भागों से प्राप्त अनेक अभिलेखों से होता है। कल्याणी के चालुक्यों के बीस से अधिक अभिलेख उपलब्ध हैं जो दसवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के हैं और अधिकांशतः बेलगांव, घारवाड़ और बीजापुर जिलों में पाये गये हैं। ये अभिलेख इस क्षेत्र में जैन धर्म के अस्तित्व का साक्ष्य प्रस्तुत करने के अतिरिक्त कुछ अन्य रोचक विवरण भी प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, ये अभिलेख सिद्ध करते हैं कि इस क्षेत्र में दिगंबर जैन धर्म का उत्कर्ष था; केवल शासकवर्ग ही नहीं, अपितु जनसाधारण भी जैन धर्म के प्रति उदार थे; और विभिन्न संस्थानों को दिये गये विपुल भूमि-अनुदानों ने मठपतियों की परंपरा को जन्म देने की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

कलचुरियों के शासनकाल में (ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक), विशेषकर विज्जल (सन् ११५६-११६८) के समय में, जैन धर्म को दुर्दिनों का सामना करना पड़ा। तथापि कतिपय शिलालेखों से ज्ञात होता है कि शैवों द्वारा किये गये उत्पीड़न के होते हुए भी जैन धर्म किसी प्रकार अपने को जीवित बनाये रख सका और यादवों के शासनकाल (सन् ११८७-१३१८) में अपने अस्तित्व की समुचित रक्षा में सफल रहा। कोलहापुर से प्राप्त कुछ शिलालेखों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म की ऐसी ही स्थिति शिलाहारों<sup>1</sup> के शासनकाल में भी रही।

जैन आचार्यों को दिये गये दानों का उल्लेख करनेवाले कतिपय राज्यादेशों से यह प्रमाणित होता है कि पूर्वी चालुक्यों (सन् ६२४-१२७१) के राज्य में जैन धर्म प्रचलित था। वैकटरमनम्या का कथन है कि जैन साधु अत्यंत सक्रिय थे। देश भर की व्यस्त वस्तियों में प्राप्त परित्यक्त प्रतिमाएँ सूचित करती हैं कि वहाँ कभी अनमिनत जैन संस्थान रहे थे। पूर्वी चालुक्य राजाओं और उनके प्रजाजनों के अनेक अभिलेखों में बसदियों एवं मंदिरों के निर्माण कराये जाने तथा उनके परिपालन के लिए भूमि एवं धन-दान के विवरण प्राप्त हैं।<sup>2</sup>

1 देव, पूर्वोक्त, पृ 121-22.

2 वैकटरमनम्या (एन). ईर्ष्ण चालुक्याङ्क छाँफ बैंगी, 1950. मद्रास, पृ 288-89.

यही स्थिति होयसलों (सन् ११०६-१३४३) के शासनकाल में थी। इस राजवंश की स्थापना का थ्रेय ही एक जैन मुनि को दिया जाता है। बताया जाता है कि जैन धर्म एक लंबी अवधि तक निष्क्रिय रहा था, उसे आचार्य गोपीनंदि ने उसी प्रकार संपन्न एवं प्रतिष्ठित बना दिया था जैसा वह गंगों के शासनकाल में था।<sup>1</sup> यह माना जाता है कि इस वंश के बीर बल्लाल-प्रथम (सन् ११०१-०६) तथा नरसिंह-तृतीय (सन् १२६३-६१) जैसे कई राजाओं के जैन धर्म के साथ घनिष्ठ संबंध थे।

मुद्रर दक्षिण में कुमारिल, शंकराचार्य तथा भागिकक वाचकार जैसे ब्राह्मण धर्म के नेताओं का उदय होने पर भी काँची और मदुरा जैनों के सुदृढ़ गढ़ बने रहे। उत्थान-पतन की इस परिवर्तनशील प्रक्रिया में भी मुद्रर दक्षिण और दक्षिणापथ सदैव दिगंबर जैन धर्म के गढ़ रहे। परंतु इसमें सदैव नहीं कि शैव धर्म के प्रबल विरोध का सामना करने के कारण आठवीं शताब्दी के लगभग जैन धर्म का प्रभाव शिथिल हो गया था। अप्पर और संवन्दार नामक शैव संतों के प्रभावाधीन पल्लव (चौथी से दसवीं शताब्दी), तथा पाण्ड्य (लगभग तीसरी शताब्दी से ६२० ईसवी) राजाओं ने जैनों का उत्पीड़न किया। शीर्षक लोगरांड विजयनगर और नायक शासकों के काल में जैनों का शैवों एवं वैष्णवों के साथ समझौता हुआ, उदाहरणार्थ, बैलूर के बेकटाद्वि नायक के शासनकाल के सन् १६३३ ई० के एक शिलालेख में हलेबिडु में एक जैन द्वारा शिवलिंग का उच्छेद करने का उल्लेख है। परिणामस्वरूप एक सांप्रदायिक उपदेश हुआ, जिसका निपटारा इस प्रकार हुआ कि वहाँ पहले शैवविधि से पूजा होयी, तदनंतर जैनविधि से।<sup>2</sup>

मुसलमानों के आगमन के फलस्वरूप भारत के सभी धर्मों को आधात सहना पड़ा। इसमें जैन धर्म अंगबाद नहीं था। तथापि कई ऐसे उदाहरण हैं जब किन्हीं-किन्हीं जैन आचार्यों ने व्यक्तिगत रूप से किसी-किसी मुसलमान शासक को प्रभावित किया, यद्यपि ऐसे उदाहरण मिनेचुने ही हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि मुहम्मद गौरी ने एक दिगंबर मुनि का सम्मान किया था। यह भी कहा जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रबल प्रतापी शासक ने भी जैन आचार्यों के प्रति सम्मान व्यक्त किया था। मुगल सम्राट् अकबर को आचार्य हीरदिंज़ख ने प्रभावित किया था और उन्हीं के उपदेश से उसने कई जैन तीर्थों के निकट पश्चु-बध पर प्रतिबंध लगा दिया था तथा उन तीर्थों को कर से भी भुक्त कर दिया था। कुछ ऐसे भी साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जहाँगीर ने भी कुछ जैन आचार्यों को प्रश्न दिया था यद्यपि उसके द्वारा एक जैन अधिकारी को दंडित भी होना

1. एपीयाफिया कर्माटिका, 2, 1923, इस्कॉन 69, पृ 31 और 34. इस वंश की स्थापना का थ्रेय कहीं-कहीं सुदूर धर्मान्वयन नामक जैन मुनि को दिया गया है : सालेतोरे (बी ४), मिडोवल जैनिज्म विद सेशन रेफरेंस टू द विजयनगर एम्पायर, बंबई, पृ 64-68.

2. एपीयाफिया कर्माटिका, 5, 1902, बैलूर लालुक, इस्कॉन 128, पृ 192.

बड़ा था ।<sup>1</sup>

भारत में मुस्लिम शासन के संभावित परिणामस्वरूप पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग गुजरात के श्वेतांबर जैनों में स्थानकवासी<sup>2</sup> संप्रदाय का उदय हुआ था । उसी अवधि में दिगंबर जैनों में तेरापंथ<sup>3</sup> नाम का वैसा ही संप्रदाय अस्तित्व में आया ।

बत्तमान में भारत के अन्य भागों की अपेक्षा पश्चिम भारत, दक्षिणापथ और कर्नाटक में जैन धर्मनुयायियों की संख्या सर्वाधिक है । जहाँ दक्षिणी महाराष्ट्र और कर्नाटक में दिगंबर जैनों की बहुलता है, वहाँ गुजरात में श्वेतांबर मूर्ति-मूजक और पंजाम में स्थानकवासियों का प्रावल्य है । जैन धर्मनुयायियों में अविकांशतः व्यापारी एवं व्यवसायी हैं, अतः यह समाज आर्थिक दृष्टि से सुसंपन्न है । इस समाज की आर्थिक संपन्नता उसके पर्व एवं पूजा-उत्सवों तथा मंदिरों के निर्माणों में प्रतिदिवित होती है । ये प्रवृत्तियाँ आज भी विशाल रूपर पर चलती हैं ।

जैन धर्म के प्रसार के उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म अपने जन्मस्थान विहार से बाहर की ओर फैलता तो यदा किन्तु एक अविच्छिन्न मति के साथ नहीं, विविध कारणों से उसका प्रतिफलन धाराओं या तंरगों के रूप में हुआ । जैन धर्म ने राज्याश्रय तथा व्यापारी वर्ग के संरक्षण पर मुख्यतया निर्भर रहने के कारण अपने दीक्षे मंदिरों, मंदिर-बहुल-नगरों, सचित्र पाण्डुलिपियों, अनगिनत मूर्तियों, तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में सर्वाधिक उल्लेखनीय अहिंसा के सिद्धांत की अद्भुत बरोहर छोड़ी है ।

शांताराम भालचंद्र वेघ

1 विस्तृत विवरण के लिए देख : देव, पूर्वोक्त, पृ 135-36.

2-3 [जैन अ-मूर्तिमूजक संप्रदाय — संपर्क]



## अध्याय 4

### जैन कला का उद्गम और उसकी आत्मा

जैन धर्म का उद्देश्य है मनुष्य की परिपूर्णता अर्थात् संसारी आत्मा की स्वयं परमात्मत्व में परिणति। व्यक्ति में जो अन्तर्निहित दिव्यत्व है उसे स्वात्मानुभूति द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए यह धर्म प्रेरणा देता है और सहायक होता है। सामान्यतः इस मार्ग में कठोर अनुशासन, आत्मसंयम, त्याग और तपस्या की प्रधानता है। किन्तु, एक प्रकार से कला भी 'दिव्यत्व की प्राप्ति' का और उसके साथ एकाकार हो जाने का पवित्रतम साधन है,' और कदाचित् यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि 'धर्म के व्यार्थ स्वरूप की उपलब्धि में व्यार्थ कलाबोध जितना अधिक सहायक है उतना अन्य कुछ नहीं।' संभवतया यही कारण है कि जैनों ने सदैव ललित कलाओं के विभिन्न रूपों और शैलियों को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया। कलाएँ, निष्पत्तेह, मूलतः धर्म की अनुगामिनी रहीं किन्तु उन्होंने इसकी साधना की कठोरता को मृदुल बनाने में भी सहायता की। धर्म के भावनात्मक, भवित्व-परक एवं लोकधिय रूपों के पललवन के लिए भी कला और स्थापत्य की विविध कृतियों के निर्माण की आवश्यकता हुई, अतः उन्हें वस्तुतः सुन्दर बनाने में श्रम और धन की कठोरी कमी नहीं की गयी। जैन धर्म की आत्मा उसकी कला में स्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित है, वह यद्यपि बहुत विविधतापूर्ण और वैभवशाली है परन्तु उसमें जो सांसारिकता, अद्वीलता या सतहीपन का अभाव है, वह अलग ही स्पष्ट हो जाता है। वह सौंदर्यबोध के आनंद की सृष्टि करती है पर उससे कहीं अधिक, संतुलित, सशक्त, उत्त्रेक और उत्साहवर्धक है और आत्मोत्सर्ग, शांति और समत्व की भावनाओं को उभारती है। उसके साथ जो एक प्रकार की अलौकिकता जुड़ी है, वह आध्यात्मिक चितन एवं उच्च आत्मानुभूति की प्राप्ति में निमित्त है।

विभिन्न शैलियों और युगों की कला एवं स्थापत्य की कृतियाँ समूचे देश में विस्तरी हैं, परन्तु जैन तीर्थस्थल विशेष रूप से, सही अर्थों में कला के भण्डार हैं। और, एक जैन मुमुक्षु का आदर्श ठीक वही है, जो 'तीर्थयात्री' शब्द से व्यक्त होता है, जिसका अर्थ है 'ऐसा प्राणी जो सांसारिक जीवन में अजनबी की भाँति यात्रा करता रहता है। वह सांसारिक जीवन जीता है, अपने कर्तव्यों का पालन और दायित्वों का निवाहि सावधानीपूर्वक करता है, तथापि उसकी मनोवृत्ति एक अजनबी द्रष्टा या पर्यवेक्षक की बनी रहती है। वह ब्राह्म दृश्यों से अपना एकत्व नहीं जोड़ता और न ही सांसारिक संबंधों और पदार्थों में अपने आप को मोहग्रस्त होने देता है। वह एक ऐसा यात्री है जो सम्यगदर्शन

सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र के विविध मार्ग का अवलम्बन लेकर अपनी जीवनयात्रा करता है, और अपनी आव्यातिमिक प्रणति के पथ पर तबतक बहुता चला जाता है। जबतक कि वह अपने लक्ष्य अर्थात् निर्णय की प्राप्ति नहीं कर लेता। वास्तव में, जैन धर्म में पूजनीय या पवित्र स्थान को तीर्थ (चाट) कहते हैं क्योंकि वह दुखों और कष्टों से पूर्ण संसार को पार करने में मुमुक्षु के लिए सहायक होता है और निरंतर जन्म-मरण के उस भ्रमण से मुक्त होने में भी सहायता देता है जो इस सहायता के बिना कभी मिट नहीं सकता। यही कारण है कि जैन तीर्थयात्रा का वास्तविक उद्देश्य आत्मोत्कर्ष है। कदाचित् इसीलिए जैनों ने अपने तीर्थक्षेत्रों के लिए जिन स्थानों को चुना, वे पर्वतों की चोटियों पर या निर्जन और एकांत घाटियों में जो जनपदों और भौतिकता से ग्रसित सांसारिक जीवन की आपाधापी से भी दूर, हरे-भरे प्राकृतिक दृश्यों तथा शात मैदानों के मध्य स्थित हैं, और जो एकाग्र ध्यान और आत्मिक चित्तन में सहायक एवं उत्प्रेरक होते हैं। ऐसे स्थान के निरंतर पुनीत संसर्ग से एक अतिरिक्त निर्मलता का संचार होता है और वातावरण आव्यातिमिकता, अलौकिकता, पवित्रता और लोकोत्तर शांति से पुनर्जीवित हो उठता है। वहाँ, वास्तु-स्मारकों (मंदिर-देवालयों आदि) की स्थापत्य कला और सबसे अधिक मूर्तिमान तीर्थकर प्रतिमाएँ अपनी अवंत शांति, वीतरागता और एकाग्रता, से भक्त तीर्थयात्री को स्वयं 'परमात्मत्व' के सन्निधान की अनुभूति करा देती है। आश्चर्य नहीं यदि वह पारमार्थिक भावातिरेक में फूट पड़ता है :

‘चला जा रहा तीर्थक्षेत्र में अपनाए भगवान को।

पुनरता की खोज में, मैं अपनाए भगवान को।’

तीर्थक्षेत्रों की यात्रा भक्त-जीवन की एक अभिलाषा है। ये स्थान, उनके कलात्मक मंदिर, मूर्तियाँ आदि जीवंत स्मारक हैं मुक्तात्माओं के, महापुरुषों के, धार्मिक तथा स्मरणीय घटनाओं के; इनकी यात्रा पुष्पवर्षक और आत्मशोषक होती है, यह एक ऐसी सचाई है जिसका समर्थन तीर्थयात्रियों द्वारा वहाँ बिताये जीवन से होता है। नियम, संयम, उपवास, पूजन, ध्यान, शास्त्र-स्वाध्याय, धार्मिक प्रवचनों का श्रवण, भजन-कीर्तन, दान और आहारदान आदि विविध धार्मिक कृत्यों में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होता है। विभिन्न व्यवसायों और देश के विभिन्न प्रदेशों से आये आवाल-वृद्ध-नर-नारी वहाँ पूर्ण शांति और वात्सल्य से पुनीत विचारों में मन रहते हैं।

यह एक तथ्य है कि भारत की सांस्कृतिक धरोहर को समृद्ध करनेवालों में जैन अगणी रहे हैं। देश के सांस्कृतिक-भण्डार को उन्होंने कला और स्थापत्य की अगणित विविध कृतियों से संपन्न किया जिनमें से अनेकों की भव्यता और कला-गरिमा इतनी उत्कृष्ट बन पड़ी है कि उनकी उपमा नहीं मिलती और उनपर ईर्ष्या की जा सकती है।

यह भी एक तथ्य है कि जैन कला प्रधानतः धर्मोन्मुख रही, और, जैन जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू की भाँति कला और स्थापत्य के क्षेत्र में भी उनकी विश्लेषात्मक दृष्टि और यहाँ तक कि वैराग्य की भावना भी इतनी अधिक परिलक्षित है कि परंपरागत जैन कला में नीतिपरक अंकन

अन्य शंकनों पर छा गया दिखता है, इसीलिए किसी-किसी को कभी यह खटक सकता है कि जैन कला में उसके विकास के साथक विशुद्ध सौदर्य को उभारनेवाले लेखों का अभाव है। उदाहरणार्थ, मानसार आदि ग्रंथों में ऐसी सूक्ष्म व्याख्याएँ मिलती हैं जिनमें मूर्ति-शिल्प और भवन-निर्माण की एक रुढ़ पद्धति दीख पड़ती है और कलाकार से उसी का कठोरता से पालन करने की आपेक्षा की जाती थी। किन्तु, यही बात बौद्ध और आहुण धर्मों की कला में भी विद्यमान है, यदि कोई अंतर है तो वह श्रेष्ठी का है।

जैन मूर्तियों में जिनों या तीर्थकरों की मूर्तियाँ निसदेह सर्वाधिक हैं और इस कारण यह आलोचना तर्कसंगत लगती है कि उनके प्रायः एक-जैसी होने के कारण कलाकार को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर कभी मिल सका। पर इसमें भी अनेक मूर्तियाँ अद्वितीय बन पड़ी हैं, यथा—कन्टिक के श्रवणबेलगोल की विश्वविख्यात विशालाकार गोम्मट-प्रतिभा, जिसके विषय में हैनरिख जिभमर ने लिखा है : 'वह आकार-प्रकार में मानवीय है, किन्तु हिमस्खण्ड के सदृश मानवोत्तर भी, तभी तो वह जन्म-मरण के चक्र, शारीरिक चिताओं, व्यक्तिगत नियति, वासनाओं, कष्टों और होनी-अनहोनी के सफल परित्याग की भावना को भलीभांति आरेत्य करती है।' एक अन्य तीर्थकर-मूर्ति की प्रशंसा में वह कहता है : 'मुक्त पुरुष की मूर्ति न सजीव लगती है न निर्जीव, वह तो अपूर्व, अनंत शांति से ओतप्रोत लगती है।' एक अन्य द्रष्टा कायोत्सर्ग तीर्थकर-मूर्ति के विषय में कहता है कि 'अपराजित बल और शक्ति शक्ति मानो जीवत हो उठे हैं, वह शालवृक्ष (शाल-प्रांशु) की भाँति उन्नत और विशाल है।' अन्य प्रशंसकों के शब्द हैं 'विशालकाय शांति', 'सहज भव्यता', या परिपूर्ण काय-निरोध की सूचक कायोत्सर्ग मुद्रा जिससे ऐसे महापुरुष का संकेत मिलता है जो अनंत, अद्वितीय केवल-ज्ञानगम्य सुख का अनुभव करता है और ऐसे अनुभव से वह उसी प्रकार अविचलित रहता है जिस प्रकार वायु-विहीन स्थान में अवेंकल दीप-शिखा।' इससे ज्ञात होता है कि तीर्थकर मूर्तियाँ

। तुलनीय :

जितात्मनः प्रवान्तस्य परमात्मा समाहितः  
ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।  
समं काय-शिरो-ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरं  
संप्रेक्ष्य तासिकायं स्वं दिक्षाद्यानवलोक्यन् ।  
यथा दीपो निवातस्यो नेङ्गले सोऽमा स्मृता  
योनिनो वृत्त-चित्तस्य पुञ्जतो दोषमात्मनः ।

( भगवद्गीता, अध्याय 6, श्लोक 7, 8, 13 और 19. )

आजानु-लाल्ल-वाहुः श्रीकृष्ण-कः प्रवान्त-मूर्तिश्च  
दिव्यासास्तरणो रूपवान्देवं कर्वैर्हृतां देवः ।

( वराहमिहिर कृत वृहत्संहिता, बंगलोर, 1947, 58, 45. )

शान्त-प्रसन्न-प्रध्यस्य-नासाग्रस्थाविकार-द्रुक्  
सम्पूर्ण-भाव-लभानुविद्वाऽस्मि लभणान्वितम् ।  
रीद्रादिन्दोष-निर्मुक्तं प्रातिहायकिक-पक्ष-नुक्  
निर्मिष्य विचिना यीठे जिन-विष्वं निवेदयेत् ।

( आशाघर कृत प्रतिष्ठासारोद्धार, 63, 64; मानसार तथा अन्य ग्रंथ भी इष्टव्यः )

उन दिजेताओं की प्रतिविम्ब हैं जो, जिम्मर के शब्दों में 'लोकाग्र' में सर्वोच्च स्थान पर स्थिर हैं और क्योंकि वे रायभाव से अतीत हैं अतः संभावना नहीं कि उस सर्वोच्च और प्रकाशमय स्थान से सखलित होकर उनका सहयोग मानवीय गतिविधियों के इस मेघाच्छन्न वातावरण में आ पड़े। तीर्थ-सेतु के कर्ता विश्व की घटनाओं और जैविक समस्याओं से भी निलिप्त हैं, वे अतीन्द्रिय, निश्चल, सर्वज्ञ, निष्कर्म और ज्ञानवत् शांत हैं।<sup>1</sup> यह तो एक आदर्श है जिसकी उपासना की जाये, प्राप्ति की जाये; यह कोई देवता नहीं जिसे प्रसन्न किया जाये, तृप्ति या संतुष्टि किया जाये। स्वभावतः इसी भावना से जैन कला और स्थापत्य की विषय-वस्तु ओतप्रीत है।

किन्तु, दूसरी ओर, इन्द्र और इङ्गाणी, तीर्थंकरों के अनुचर यक्ष और यक्षी, देवी सरस्वती, नवद्युह, क्षेत्रपाल और सामान्य भक्त नरनारी, जैन देव-निकाय के अपेक्षाकृत कम महत्व के देवताओं या देवतुल्य मनुष्यों के मूर्त्तन में, तीर्थंकरों और अतीत के अन्य सुविष्वात पुरुषों के जीवन चरित्र के दृश्यांकनों में, और विविध अलंकरण प्रतीकों के प्रयोग में कलाकार किन्हीं कठोर सिद्धांतों से हृशा न था, बल्कि उसे अधिकतर उत्तमता थी। इसके अतिरिक्त भी कलाकार को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर था, प्राकृतिक दृश्यों तथा समकालीन जीवन की धर्म-निरपेक्ष गतिविधियों के शिल्पांकन या चित्रांकन द्वारा जो कभी-कभी विलक्षण बन पड़े, जिनसे विपुल ज्ञातव्य तत्त्व प्राप्त होते हैं और जिनमें कलात्मक सौदर्य समाया हुआ है। पर, इन सबमें भी कलाकार को जैन धर्म की शुद्धाचार नीति को ध्यान में रखना था, इसीलिए उसे शृंगार, अदलीलता और अनैतिक दृश्यों की उपेक्षा करती पड़ी।

जहाँ तक स्थापत्य का प्रश्न है, आरंभ में जैन साधु क्योंकि अधिकतर वनों में रहते थे और अमण्डील होते थे, अतः जनपदों से दूर पर्वतों के पाहर्वंभाग में या चोटियों पर स्थित प्राकृतिक गुफाएँ उनके अस्थायी आश्रय तथा आवास के उपयोग में आयीं। यहाँ तक कि आरंभ में निर्मित गुफाएँ सादी थीं और सल्लेखना वारण करनेवालों के लिए उनमें पालिशादार प्रस्तर-शय्याएँ प्रायः बना दी जाती थीं। तीसरी / चौथी शती ईसवी से, जनपथों से हटकर बने मंदिरों या अधिष्ठानों में लगभग स्थायी रूप से रहने की प्रवृत्ति जैन साधुओं के एक बड़े समूह में चल पड़ी, इससे शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिरों के निर्माण को शोत्साहन मिला। जैसा कि सिंधु ने लिखा है : 'इस धर्म की विविध व्यावहारिक आवश्यकताओं ने, निस्सदिह, विशेष कार्यों के लिए अपेक्षित भक्तों की प्रकृति को भी प्रभावित किया।'<sup>2</sup> तथापि, जैन साधु अपने जीवन से संयम-धर्म को कभी अलग न कर सके। संभवतया यही कारण है कि अजंता और एलोरा के युगों में भी, थोड़ी संख्या में ही जैन गुफाओं का निर्माण हुआ, और पांचवीं साताविंशीयों के मध्य ऐसे लगभग तीन दर्जन भाव गुफा-मंदिर ही निर्मित किये गये, वे भी केवल दिगंबर आम्नाय द्वारा; एवेताम्बर साधुओं ने पहले ही जनपदों में या उनके समीप रहना आरंभ कर दिया था।

1. जिम्मर( हैनरिक ), फिलासफीक औफ इण्डिया, 1951, न्यूयार्क, पृ 181-82.

2. सिंधु (वी ए), हिन्दू औफ फाइन आर्ट्स हन इण्डिया एण्ड सीलोन, 1930, आक्सफोर्ड, पृ 9.

मंदिर-स्थापत्य-कला का विकास प्रत्यक्षतः मूर्ति-पूजा के परिणामस्वरूप हुआ जो जैनों में कम से कम इतिहास-काल के आरंभ से प्रचलित रही है। बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख है कि वज्ज्ञ देश और वैशाली में अर्हत-चंत्यों का अस्तित्व था जो बुद्ध-पूर्व अर्थात् महावीर-पूर्व काल से विद्यमान थे, (तुलनीय : महा-परिनिवान-सुत्तन्त)। चौथी शती ईसा-पूर्व से हमें जैन मूर्तियों, गुफा-मंदिरों और निर्मित देवालयों या मंदिरों के अस्तित्व के प्रत्यक्ष प्रभाण मिलने लगते हैं।

अपने मंदिरों के निर्माण में जैनों ने विभिन्न क्षेत्रों और कालों की प्रचलित शैलियों को तो अपनाया, किन्तु उन्होंने अपनी स्वयं की संस्कृति और सिद्धांतों की दृष्टि से कुछ लाक्षणिक विशेषताओं को भी प्रस्तुत किया। जिनके कारण जैनकला को एक अलग ही स्वरूप मिल गया। कुछ स्थानों पर उन्होंने समूचे 'मंदिर-नगर' ही लड़े कर दिये।

मानवीय मूर्तियों के अतिरिक्त, आलंकारिक मूर्तियों के निर्माण में भी जैनों ने अपनी ही शैली अपनायी, और स्थापत्य के क्षेत्र में अपनी विशेष रुचि के अनुरूप स्तंभाधारित भवनों के निर्माण में उच्च कोटि का कौशल प्रदर्शित किया। इनमें से कुछ कला-समृद्ध भवनों की विख्यात कला-मर्मज्ञों ने ग्राचीन और आरंभिक मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की सुन्दरतम् कृतियों में गणना की है। बहुत बार, उत्कीर्ण और तक्षित कलाकृतियों में मानव-तत्त्व इतना उभर आया है कि विशाल, नियंत्रित दिगंबर जैन मूर्तियों में जो कठोर संघर्ष साकार हो उठा लगता है उसका प्रत्यावर्तन हो गया। कला-कृतियों की अधिकता और विविधता के कारण उत्तरकालीन जैन कला ने इस धर्म की भावात्मकता को अभिव्यक्त किया है।

जैन मंदिरों और वसदियों के सामने, विशेषतः दक्षिण भारत में, स्वतंत्र लड़े स्तंभ जैनों का एक अन्य योगदान हैं। मानस्तंभ कहलानेवाला यह स्तंभ उस स्तंभ का प्रतीक है जो तीर्थ-कर के समवसरण (सभागार) के प्रवेशद्वारों के भीतर स्थित कहा जाता है। स्वयं जिन-मंदिर समवसरण का प्रतीक है।

जैन स्थापत्यकला के आध्य रूपों में स्तूप एक रूप है, इसका प्रमाण मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। वहाँ एक ऐसा स्तूप था जिसके विषय में ईसवी सन् के आरंभ तक यह मान्यता थी कि उसका निर्माण सातवें तीर्थकर के समय में 'दिक्षों' द्वारा हुआ था और पुनर्निर्माण तेईसवें तीर्थकर के समय में किया गया था। यह स्तूप कदाचित् भव्यकाल के आरंभ तक विद्यमान रहा। किन्तु, गुप्त-काल की समाप्ति के समय तक जैनों की रुचि स्तूप के निर्माण में नहीं रह गयी थी।

एक बात और, जैसा कि लांगहर्स्ट का कहना है, 'स्थापत्य पर वातावरण के प्रभाव का यथोचित महत्त्व समझते हुए हिन्दुओं की अपेक्षा जैनों ने अपने मंदिरों के निर्माण के लिए सदैव प्राकृतिक

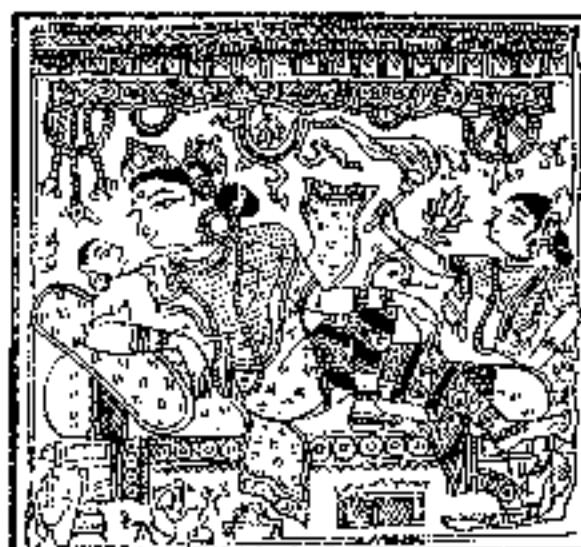
स्थान को ही चुना ।<sup>1</sup> उन्होंने जिन अन्य लित कलाओं का उत्साहपूर्वक सृजन किया उनमें सुलेखन, अलंकरण, लघुचित्र और भित्तचित्र, संगीत और नृत्य हैं। उन्होंने सैद्धांतिक पक्ष का भी ध्यान रखा और कला, स्थापत्य, संगीत एवं छंदशास्त्र पर मूल्यवान् ग्रंथों की रचना की।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जैन कला और स्थापत्य में जैन धर्म और जैन संस्कृति के सैद्धांतिक और भावनात्मक आदर्श अत्यधिक प्रतिफलित हुए हैं, जैसाकि होना भी चाहिए था ।<sup>2</sup>

अयोति प्रसाद जैन

1. नांगहस्ट (ए एच). हस्ती रुडम. 1917, मद्रास, पृ 99.

2. तुलनीय : जैन (अयोति प्रसाद), जैन सोसेज शॉक व हिस्ट्री ग्रॉफ एशेंट इंडिया, 1964, दिल्ली, अध्याय 10./ जैन (अयोति प्रसाद), रिलोजन एण्ड कल्चर ग्रॉफ व जैन (मुद्रण में), अध्याय 8; और प्रस्तुत ग्रंथ के विभिन्न अध्याय.



## जैन कला की आचारिक पृष्ठभूमि

जैन कला और स्थापत्य की आचारिक पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करते समय यह जानना आवश्यक है कि जैनों ने विछली सत्ताविद्यों में देश भर में कला और स्थापत्य की किन विधाओं का सृजन किया है। इन विधाओं में जैनों का योगदान भारतीय परंपरा का एक अभिन्न अंग ही है, तथापि जैनों के धार्मिक-आचारिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए, इस योगदान को भी अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है।

लाल्हणिक कलाओं को ही लें तो, जैन भंडारों में बहुत अधिक मात्रा में संग्रहीत पाण्डुलिपियों मिलती हैं। वास्तव में, यदि उनकी लिपियों का अध्ययन किया जाये, तो भारत के विभिन्न भागों में लेखन-कला के विकास को समझने में हमें बड़ी सहायता मिलेगी। विशेषकर पश्चिम भारत में और थोड़ी-बहुत मात्रा में दक्षिण भारत में इन पाण्डुलिपियों पर सूक्ष्म चित्रकारी की गयी। दक्षिण भारत की कुछ गुफाओं में चित्र बनाये गये हैं। उमेर, नंदीश्वर द्वीप, समवसरण, मानस्ताम, चैत्य-वृक्ष, स्तूप, आदि का चित्रण किया गया है। जैनों ने कई गुफाओं का भी निर्माण कराया है, जो किसी समय गृह-त्यागी मुनियों के निवास के लिए बनायी गयी थीं किन्तु इनमें से कुछ कालांतर में गुफा-मंदिरों के रूप में परिवर्तित हो गयीं जिनमें तीर्थंकरों, सिद्धों, आचार्यों, साधुओं तथा यक्ष-यक्षियों आदि की मूर्तियाँ हुआ करती थीं।

इस प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक है कि कला के प्रति सामान्यतः और देवत्व, पूजन, पूज्य एवं पूजा-स्थलों के प्रति विशेषतः, जैनों की मनोवृत्ति क्या रही है। जैन धर्म इस प्रचलित धारणा में विश्वास नहीं करता कि एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में किसी ऐसे ईश्वर का अस्तित्व है जिसमें विद्व के सृजन की शक्ति है और जो इस जगत् के सभी प्राणियों के भाग्य का निर्णय करता है। इसके विपरीत जैनों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता यह है कि धर्म के मार्ग का अनुसारण कर जो भी अपनी उन्नति करना चाहता है, उसके लिए ईश्वर एक सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श है। हममें से प्रत्येक की आत्मा अनादि काल से कर्मों के बंधन में जकड़ी हुई है। कर्म अपनी प्रकृति, अवधि, उत्कटता और परिमाण के अनुसार अपना फल स्वतः ही देसे रहते हैं। उनके प्रच्छेद्य-बुरे फलों को भोगने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। ईश्वर का इसमें कोई हाथ नहीं होता। जैन धर्म में देवत्व की उपासना कोई वरदान प्राप्त करने या संकटों से छुटकारा पाने के लिए नहीं की जाती अग्रिम इसलिए कि उपासक

अपने में उन महान् गुणों का विकास और उपलब्धि कर सके जो कि परमात्मा में पाये जाते हैं क्योंकि यही प्रत्येक आत्मा की चरम आध्यात्मिक परिणति है। तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण में इस तथ्य की बड़ी अच्छी अभिव्यक्ति हुई है :

मोक्षमार्यस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।  
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

जैन पंचपरमेष्ठियों की उपासना करते हैं। ये पंचपरमेष्ठी हैं—(१) अर्हत् अर्थात् चौबीस तीर्थकर; (२) सिद्ध — मुक्तात्मा; (३) आचार्य — धर्मगुरु (सामान्यतः आचार्य के प्रतीकात्मक चित्रण द्वारा जिसे स्थापना कहा जाता है); (४) उपाध्याय — शिक्षक; और (५) साधु — सांसारिक संबंधों से विरत मुनि जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं (देखिए : दध्वसंग्रह गाहा, ५०-५४)। इनका स्मरण करने और इनके प्रति अपनी अद्वाजलि अपित करने के लिए विभिन्न मंत्रों या अक्षरों का प्रयोग होता है (पूर्वोक्त, ४६)। इन परमेष्ठियों के नामों के प्रथमाक्षरों से पवित्र उँच का निर्मण होता है जिसकी बड़ी धार्मिक महत्ता है। धर्म की दृष्टि से विचार करने पर बास्तव में प्रथम दो (परमेष्ठियों) की ही आराधना की जाती है। इन दोनों में मुख्यतः प्रथम कोटि के अंतर्गत आदेशाले चौबीस तीर्थकरों की उपासना की जाती है। इन तीर्थकरों की विस्तृत जीवनियाँ भी अनेक तथ्यों को समाविष्ट करते हुए मिलती हैं। इनकी स्तुति में अनेक गाथाएँ रची गयी हैं जिनमें उमसे कोई वरदान नहीं मांगा गया है। किन्तु जो भक्त इन गाथाओं का पाठ करता है वह अपने में इन परमेष्ठियों के महान् गुणों को विकसित करने की कामना करता है। तीर्थकरों के प्रति भक्ति प्रकट करने के लिए अनुष्ठान — अनेक प्रकार की पूजाएँ आदि — किये जाते हैं। इन सबका उद्देश्य है धार्मिक क्रियाकलापों द्वारा आत्मशुद्धि और अंततः कर्मों से छुटकारा पाना ताकि आत्मा परमात्मा बन सके।

जैन आचार-शास्त्र का उद्देश्य राग-द्वेष, आसक्ति और घृणा, जिनके दूसरे रूप चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं, का नाश कर आत्मविकास करना है। इनका निश्चय कर आत्मा परमात्मयद की प्राप्ति की और वह सकती है; दूसरे शब्दों में व्यक्ति अपनी सर्वोच्च आत्मिक स्थिति की ओर पग बढ़ाता है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थों में धर्म को काम और अर्थ की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए क्योंकि धर्म ही व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति कराता है या कर्मों से मुक्ति दिलाता है। और यही तो व्यक्ति का सर्वोच्च लक्ष्य है। तीर्थकर की उपासना का अर्थ है अनेक सद्गुणों को अपनी पूर्ण शक्ति और निष्ठापूर्वक अपने में उतारना; यथा, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, बहुचर्य और अपरिग्रह तथा व्रत-उपवास आदि।

उक्त आचारिक संकल्पनाओं में से अधिकांश की अभिव्यक्ति जैन कला और स्थापत्य में किसी न किसी रूप में हुई है। जैन कला न केवल सौदर्य के प्रति सुखचि — जिस सीमा तक वह उसका उन्नयन कर सकती है — को प्रतिविवित करती है, वरन् वह मानव की आत्मिक वृत्ति को भी ऊँचा उठाती है एवं अन्य व्यक्तियों का सम्मान करनेवाले मानव समाज के सदस्य के रूप में उसे और भी

सुधोग्र बनाती है। वहां जैन कलाकृतियों उन महान् संकल्पनाओं की प्रतीक होती हैं जिनसे नैतिक भावनाएँ विकसित होती हैं। वह कलाकृति किस काम की जो कोई नैतिक सीख न दे सके और जो स्त्री-पुरुषों को श्रेष्ठतर जीवन की राह अपनाने में सहायक न हो? वास्तव में जैन कलाकृतियों का उद्देश्य हमारी आत्मिक वृत्ति का उन्नयन करना, धार्मिक मूल्यों की ओर प्रेरित करना और जैन दर्शन की दार्शनिक संकल्पनाओं तथा उसके आचार-नियमों को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना है। वे मुमुक्षु को अपने से तादात्म्य स्थापित करने और उस उच्च आत्मिक विकास में सहायक होती हैं जिसके लक्षण हैं—अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतबीर्य और अनंतमुख ।

जैन पाण्डुलिपियों में, जिनमें से कुछ तो ताडपत्र पर लिखी गयी हैं, वह परिमाण में सूक्ष्म चित्रकारी की गयी है। हमारे सांस्कृतिक विरासत के इतिहास में समकालीन वेशभूषा आदि तथा विभिन्न क्षेत्रों में चित्रकला के क्रमिक विकास के प्रमाण के रूप में तो उनकी महत्ता है ही, किन्तु जिन प्रसंगों को उनमें चित्रित किया गया है वे धार्मिक भावना जगाते हैं तथा उनका आचारिक महत्त्व है। उनमें चित्रित हैं नंदीश्वर द्वीप, अद्वाई द्वीप, लोक स्वरूप, तीर्थंकरों के जीवन से संबंधित आख्यान — यथा, नेमिनाथ की वरात, तीर्थंकर की भाता के स्वरूप, पाश्वर्नाथ पर कमठ का उपसर्ग आदि, समवसरण, आहार-दान, गुरु द्वारा शास्त्रपाठ इत्यादि। उनसे जिन कुछ प्रमुख विषयों की सूचना मिलती हैं वे हैं — सब की तुलना में जगत की विशालता, अपने कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म का सिद्धांत और सत्तान को आहार, शास्त्र आदि दान करने जैसे पावन कर्तव्य। शास्त्रों में वर्णित उपदेशों को रंगों के माध्यम से इन चित्रों में दृश्यरूप में उतार दिया गया है ताकि धार्मिक जन अपने जीवन में इनका प्रभाव और अच्छे रूप से ग्रहण करें ।

वे सभी गुफाएँ (चाहे वे अलंकृत चित्रांकन-युक्त हों या उनके बिना), जिनमें से कुछ ने कालांतर में गुफा-मंदिरों का रूप ले लिया, और शिलालेख-युक्त निषिद्धि-चौक हमें जैन साधुओं के संयमित जीवन और उक्त शिलालेखों में वर्णित उनके स्वेच्छया मृत्युवरण या सल्लेखन का स्मरण दिलाते हैं। इस प्रकार के स्मारक सांसारिक बंधनों के प्रति अनासन्नित की भावना को आदर्श रूप प्रदान करते हैं। श्रवणबेलगोल-जैसे स्थानों पर उत्कीर्ण शिलालेख उन संतों, गृहस्थों और गृहणियों की महिमा का वर्णन करते हैं जिन्होंने विहित परिस्थितियों और अवस्थाओं में धार्मिक निष्ठापूर्वक मृत्यु का वरण कर अनासन्नित की उदात्त भावना का परिचय दिया ।

भारतीय मूर्तियों में हमें अत्यंत साधारण से लेकर अत्यंत कलात्मक, अलंकार विहीन से लेकर अलंकृत तथा गंभीर से लेकर रौद्र रूपबाली ऐसी मूर्तियाँ मिलती हैं जो अपने समय की सामाजिक-धार्मिक भावना तथा सभूद्ध समाज का प्रतिबिम्बन करती हैं। प्रायः आरंभ से ही, जैन धर्म मूर्तिपूजा से सम्बद्ध रहा है, यह बात यदि अवश्यंभावी नहीं तो स्वाभाविक अवश्य थी। तीर्थंकर आध्यात्मिक आदर्श रहे हैं। उनके महान् गुणों को मूर्त रूप देने और उनमें भवित प्रकट करने, उनकी आराधना करने और उनके गुणों को अपने में विकसित करने के लिए तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनाना सरल ही था। कालांतर में, यह सादगीपूर्ण प्रतिभा-पूजन आराधक के साधनों के अनुसार अत्यंत

जटिल होता गया । ये मूर्तियाँ विभिन्न तीर्थकरों, सिद्धों, यहाँ तक कि आचार्यों, चौबीस तीर्थकरों या पञ्चपरमेष्ठियों, या नव-देवताओं या नंदीश्वर की हैं या वे सर्वतोभद्रिका (चौमुखी मूर्तियाँ), एक ही फलक पर आदिनाथ, पार्वतनाथ और दो अन्य तीर्थकरों की हैं या उनमें श्रुत देवता (देवी सरस्वती या द्वादशांग प्रतीक) यथा और यक्षियों तथा कुल-देवताओं की मूर्तियाँ होती हैं जिन्हें जैन धर्म के नये अनुयायी अपने साथ इस धर्म में लाये । सिद्ध का मूर्ति धातु का काटकर बनायी जाती है और निराकार होती है । यदि सिद्ध की कोई मूर्ति बनायी भी जाती है तो उसपर कोई परिचय-चिह्न (लांघन) नहीं होता । इनके अतिरिक्त धर्म-चक्र, अष्टमंगल, आयाग-पट के प्रतीकात्मक विम्ब भी प्राप्त होते हैं । तीर्थकरों की मूर्तियों में सबसे अधिक मूर्तियाँ ऋषभनाथ, चंद्रप्रभ, नेमिनाथ, पार्वतनाथ, शांतिनाथ और महावीर की होती हैं । परवर्ती शताव्दियों में इनके अलग-अलग चिन्ह निर्धारित किये गये । ऋषभनाथ का चिह्न बैल है तो नेमिनाथ का शंख और महावीर का सिंह, आदि । इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा हेतु किये जानेवाले अनुष्ठानों का सम्बन्ध अध्ययन किया जाना चाहिए । वास्तव में, प्रतिष्ठा के समय मूर्ति की तीर्थकर के पारंपरिक जीवन के अनुसार प्रतिष्ठापना के लिए ऐसे एवं देवों जिन विम्ब एवं 'सूत्र' का उच्चारण किया जाता है । इस प्रकार नयी प्रतिभा में तीर्थकर के सभी महान् गुणों की प्रतिष्ठापना की जाती है । तदनंतर मूर्ति पूजा के धोग्य हो जाती है । जब हम प्रतिष्ठा के अनुष्ठान को देखते हैं तो हमें यह अनुभव होता है कि (ग्रन्थिन से न भी हो तो) जन्म से लेकर केवलज्ञान (निवाण न सही) तक का तीर्थकर का सारा जीवन हमारी आँखों के सामने मूर्ति हो उठा है । उस समय हमें यह अनुभव होता है कि हम किसी पत्थर वा धातु के टुकड़े की पूजा नहीं कर रहे बरत् सभी सर्वोच्च गुणों से युक्त तीर्थकर की ही पूजा कर रहे हैं । तीर्थकर के जीवन से आराधक को शिक्षा मिलती है । वह उसकी आत्मा को ऊँचा उठाता है और आराधक स्वतः ही कर्मों से मुक्ति पाने के महान् आदर्शों का पालन करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है । साथ ही इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ जैव मूर्तियाँ उत्कृष्ट कलाकृतियाँ हैं और अपने इस रूप में वे अतिरिक्त प्रेरणा-स्रोत हैं । तीर्थकर मूर्तियाँ, चाहे वे कायोत्सर्ग मुद्रा में हों या पद्मासन, ध्यानावस्था में पायी जाती हैं । वे वीतराग मुद्रा में होती हैं और उनकी भाव भङ्गिमा से शांत रस भलकता है । वस्तुतः भक्त जब श्रद्धा से अपना ध्यान इस प्रकार की मूर्ति पर केन्द्रित करता है तब वह कम से कम उन क्षणों में, उसकी मूर्तिमती वीतरागता और शांतरस की भावना में लोक हो जाता है जो कि दैनिक जीवन में दुर्लभ है ।

केश-विन्यास की दृष्टि से बाहुबली की दो प्रकार की प्रतिभाएँ मिलती हैं : घुघराले बालों बाली उनकी मूर्ति अधिक पायी जाती है और वह श्रवणबेलभोला के गोम्मटेश्वर की मूर्ति से मिलती है । परवर्ती काल में उनकी शैली का अनुकरण किया गया और आज भी किया जा रहा है । गोम्मटेश्वर की मुद्रा भव्य है, मुख पर वीतरागता भलकती है और ध्यान की मुद्रा तो अनुकरणीय ही है । इस प्रकार की मूर्ति के लिए कोई भी व्यक्ति कलाकार की प्रशंसा किये बिना नहीं रहेगा । परम निष्ठावान भक्त के मन पर उन गुणों का बड़ा प्रभाव पड़ता है और वह उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न कर सकता है ।

वडी संख्या में जैन मंदिर दक्षिण, पश्चिम और अन्यत्र पाये जाते हैं। उनकी शैलियाँ अलग-अलग हैं और उनमें कला सम्बन्धी विभिन्नताएँ भी हैं किन्तु जो भी उनमें भक्तिपूर्वक जाता है, उस पर उनका लगभग एक जैसा ही प्रभाव पड़ता है। उनमें से कुछ — जैसे अवण्डेलगोला, हलेबिडु, देवगढ़ आदू, राणकपुर, आदि — मंदिर तो वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने हैं तथा शांति और अनासंक्षिप्त के रूप में उनका नैतिक प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है। आदू के मंदिर के स्थापत्य की अद्भुत उत्कृष्टता तो मंदिर में प्रतिष्ठित जिन-बिंब के बांत प्रभाव को भी हिसेबित कर डालती है। जैन मंदिर का प्रयोग-जन ही यह होता है कि वहाँ बैठकर जैनेंद्र भगवान के गुणों का शांति से मनन किया जा सके और आराधक उनकी और स्वयं उन्मुख हो सके। यह भावना मंदिर के निर्माण की जैली से ही जाग्रत की जाती है; गर्भमृह, शुक्लासिका, मुखमण्डप आदि वातावरण को गरिमा और शांति प्रदान करते हैं।

दक्षिण के कुछ मंदिरों के सामने पाया जानेवाला मानस्तंभ एक सुन्दर स्तंभ होता है। उत्कृष्ट कलाकारी से युक्त स्तंभ के शीर्षभाग की चतुष्कोण फीटिका पर एक सर्वतोभद्र प्रतिमा होती है जो प्रतीक है इस तथ्य की कि उसके समक्ष मानव कितना तुच्छ है और मंदिर में अने पर उसका अहंकार किस प्रकार दूर हो जाना चाहिए।

वास्तव में जैन कला और स्थापत्य की आचारिक पृष्ठभूमि का उद्देश्य आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करना और भक्तों के मन में पवित्रता, शांति, धैर्य, अनासंक्षिप्त, दानशीलता, विद्याव्यसन, और श्रद्धालु जीवन के साथ ही साथ सादगी तथा त्याग की भावना उत्पन्न करना है।

आविनश्य नेभिन्नाय उपाद्ये



भाग 2

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

300 ई० पू० से 300 ई०

## अध्याय 6

### मथुरा

#### प्राचीन इतिहास

शूरसेन महाजनपद की राजधानी मथुरा ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में एक महत्वपूर्ण नगर था। ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में नंद साम्राज्य के उदय के साथ-साथ यह जनपद संभवतः भागध साम्राज्य का एक अभिन्न अंग बन गया और तब राजधानी के रूप में मथुरा का अस्तित्व समाप्त हो गया। मेगस्थनीज ने (लगभग ३०० ईसा-पूर्व), जो नंद साम्राज्य को पराजित करनेवाले चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में ग्रीस का राजदूत था, मथुरा (मथुरा) और क्लाइसोबोरा (कृष्णपुर) का उल्लेख शीरसेनी साम्राज्य के दो महानगरों के रूप में किया है जो विशेषकर अपनी कृष्णोपासना (धीक हिराकलीज) के लिए विल्यात थे। मथुरा की समृद्धि का कारण केवल यही नहीं था कि वह कृष्ण की जन्मभूमि थी और परिणामतः भागवत धर्म का एक सुदृढ़ गढ़ थी, अपितु उसका एक कारण यह भी था कि वह एक ऐसे राजमार्ग पर स्थित थी जो इसे वाणिज्यिक सार्थकता भागों के साथ जोड़ता था। इनमें से एक मार्ग तो तक्षशिला और उससे भी आगे तक जाता था, जिसके परिणामस्वरूप व्यापार के माध्यम से मथुरा में अपार वैभव उमड़ पड़ा था। यह नगर स्वदेशी और पश्चिम एशियाई दोनों प्रकार की विभिन्न परंपराओं का मिलन-स्थल बन गया था। पश्चिम-एशियाई परंपराएँ वहाँ पर धूर उत्तर-एशियम से होकर आ रही थीं। इस विश्वनगर में जिस मिश्रित सम्यता का विकास हुआ वह उसके उन आलंकारिक कला-प्रतीकों, वास्तुशिल्प एवं कला से पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाती है जो अपनी समन्वयी प्रकृति के लिए उल्लेखनीय है। मथुरा मध्य देश के उन गिने-चुने स्थानों में से एक था जिन्होंने यूनानी संस्कृति का प्रभाव पर्याप्त समय पूर्व ग्रहण कर लिया था। जैसा कि गार्गी संहिता के युग-पुराण-खण्ड से जात होता है, ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी के आरंभ में ही, मौर्यों के मूलीच्छेदक पुष्यमिश्र जूँग (लगभग १८७-१५१ ईसा-पूर्व) के सत्ताहृद होने से कुछ पूर्व, मथुरा को यवन-आक्रमण का सामना करना पड़ा था। ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में मथुरा शक सत्रपाल राजवंश के शासकों का मुख्यालय बन गया, जिन्होंने स्थानीय मित्रवंशीय शासकों को उखाड़ फेंका था। कालांतर में सत्रपाल राजवंश को कुषाणों ने अपदस्थ कर दिया। कनिष्ठ और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में मथुरा की स्थिति बहुत ही गौरवपूर्ण थी, जो न केवल इन शासकों के शासनकाल के बहुत से शिलालेखों से ही, जिनमें अनेक बौद्ध, जैन एवं क्राह्याण्ड

निर्मितियों एवं सूतियों के समर्पण की बात कही गयी है, अपितु कुषाण-शासकों की चिन्ह-दीर्घि के निर्माण से भी स्पष्ट हो जाती है। कुषाण-शासन के पतनोपरांत, मथुरा में नाम राजवंश की सत्ता हुई, किन्तु चतुर्थ शती ईसवी में शुप्त-साम्राज्य के उदय के साथ मथुरा का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया।

### जैन परंपरा में मथुरा

मथुरा जैन मतावलंबियों के लिए प्राचीनकाल से ही विशेष रूप से पवित्र स्थान रहा है। तथापि, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि जैन धर्म ने मथुरा की भूमि पर कब पदार्पण किया। परवर्ती जैन धर्मग्रंथों में वर्णित अनुश्रुतियों में मथुरास्थित जैन प्रतिष्ठानों को अत्यंत प्राचीन बताया गया है और उन्हें अनेक तीर्थकरों के साथ संबद्ध किया गया है। इस प्रकार, जिनप्रभ-सूरि (चौदहवीं शताब्दी) के मतानुसार, मथुरा में स्वर्ण एवं मणि-निर्मित एक स्तूप था, जिसका निर्माण देवी कुवेरा ने सातवें तीर्थकर सुपाद्वननाथ के सम्मान में करवाया था। दीर्घकाल पश्चात्, तेहसवें तीर्थकर पाद्वननाथ की मथुरा-यात्रा के उपरांत, देवी के आदेश से इस स्तूप पर इटों का आवरण बढ़ाया गया और उसके पाइवे में पाद्वननाथ की एक प्रस्तर-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी। महावीर-निवाण से तेरह शताब्दियों के पश्चात् वर्षभट्टि सूरि की प्रेरणा से इस स्तूप का जीर्णोद्धार किया गया।<sup>1</sup> विविध-तीर्थ-कल्प में मथुरा के श्रीसुपाद्वन-स्तूप को एक महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थल बताया गया है।<sup>2</sup> एक अनुश्रुति में मथुरा को इक्कीसवें तीर्थकर नेमिनाथ की जन्मभूमि<sup>3</sup> बताया गया है, किन्तु उत्तर पुराण के अनुसार उनकी जन्मभूमि मिथिला थी।<sup>4</sup> वासुदेव-कृष्ण और बलराम के समे चर्चेरे भाई हेने के कारण, बाईसवें तीर्थकर हरिवंशीय अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) का मथुरा के साथ घनिष्ठ संबंध था। कहा जाता है कि उनके पिता समुद्रविजय, जो वसुदेव के भाई थे, शौर्यपुर<sup>5</sup> के शासक

1. जिनप्रभ-सूरि, विविध-तीर्थ-कल्प, संपा : जिनचिजय, 1934, शांतिनिकेशन, पृ 17 तथा परवर्ती, / स्मिथ (विसेषण ए), जैन स्तूप एवं अवर एविडिक्टीज ऑफ मथुरा, आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंडीशियल सीरीज, 1901, इलाहाबाद, पृ 13, / शाह (यू. पी.), वर्द्धीज हन जैन आर्ट, 1955, बनारस, पृ 9 तथा 62-63.

2. विविध-सीर्थ-कल्प, पृ 85.

3. भृत्याचार्य (की सी), जैन आइकॉनोग्राफी, 1939, लाहौर, पृ 80.

4. वही, पृ 79.

5. इस स्थान का सामान्यतया एक प्राचीन स्थल के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है, बटेश्वर(जिला आगरा) के निकटवर्ती इस स्थान को सुरपुर, सौरिपुर, सूरजपुर तथा सूर्यपुर नामों से पुकारा गया है; व्रष्टव्य : उत्तर प्रदेश डिक्टिवट गवर्नियर्स अग्रारा, संपा : ई. बी. जोधी, 1965, लखनऊ, पृ 22. कृष्ण का एक उपनाम शौरि भी है, अतः बी. सी. ला ने शौर्यपुर था शौरिपुर का मथुरा के साथ ही तादात्म्य स्थापित किया है (जर्सल ऑफ अ रायल एक्सियाटिक सोसायटी ऑफ बंगल, लंदर्स, 13, 1947, 21 और 25). बी. सी. भृत्याचार्यम्, ने इसका द्वारका के साथ तादात्म्य स्थापित किया है (पूर्वोक्त, पृ 81).

ये। विविध-तीर्थ-कल्प से ज्ञात होता है कि नेमिनाथ का मथुरा में एक विशिष्ट सम्माननीय स्थान था।<sup>1</sup> कृष्ण और कृष्णाणोत्तरकाल की अनेक मूर्तियों में इस तीर्थकर को कृष्ण और बलराम के साथ दिखाया गया है। विकारगस्त्र<sup>2</sup> से ज्ञात होता है कि महावीर मथुरा गये थे और उन्होंने वहाँ अपने प्रवचन किये थे। अपने इस मथुरा-विहार में वह संभवतः भण्डीर-उद्यान में उहरे थे जो सुदर्शन नामका थक्क का पावन स्थल था।

### प्राचीन जैन पुरावशेष

ये-परबर्ती साहित्यिक परंपराएँ तो अभी अन्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध की जानी हैं, किन्तु पुरातत्त्वीय सामग्री के आधार पर इतना निश्चित है कि ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी तक मथुरा में जैन धर्म दृढ़ता से स्थापित हो चुका था। इस क्षेत्र में अनेक राजनीतिक परिवर्तन होते रहे जिनके परिणाम-स्वरूप पहले तो वहाँ रञ्जुवुल और शोडास (शोण्डास) के अधीन शक सत्रपाल वंश के शासन की स्थापना हुई और अंततः कृष्णाणों का आधिपत्य स्थापित हुआ, किन्तु इन राजनीतिक परिवर्तनों के होते हुए भी जैन धर्म की यहाँ निरंतर अभिवृद्धि होती रही। कृष्णाणों के शासनकाल में मथुरा असाधारण रूप से वैभवसंपन्न एवं जनाकीर्ण नगर हो गया था और ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मतों की समृद्धि के लिए अनुकूल भूमि सिद्ध हुआ। वस्तुतः कृष्णाणकाल में इस विश्वनगर की शिल्पशालाओं में सृजनात्मक प्रक्रिया अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुंची, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह महत्वपूर्ण वर्मक्षेत्र कला एवं स्थापत्य का एक उर्वर केन्द्र बन गया। वैश्यों, विशेषकर अति समृद्ध व्यापारी वर्म की धन-सम्पत्ति का जैन वास्तु-स्मारकों की समृद्धि में अत्यधिक योगदान रहा। इस वर्ग में श्रेष्ठी, सार्थवाह, वाणिज, गंधिक आदि सम्मिलित थे और सामान्य भवतजनों की संख्या में उनका प्रतिशत बहुत ऊँचा था। यह बात व्यापार वाणिज्य एवं उच्चोग्म में रत परिवारों के समर्पणात्मक अभिलेखों से प्रमाणित हो जाती है। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि केवल मथुरा के ही नहीं, अपितु उत्तरी भारत के एक विशाल भू-भाग के विभिन्न मतों और पंथों के अनुयायियों ने उस युग के कलाकारों से कला-कार्य की अनवरत माँग जारी रखी। यही कारण है कि उनके पास अपनी कृतियों पर विशेष ध्यान देने के लिए कोई समय नहीं बच पाता था और उन्हें विवश होकर यंत्रवत् विशाल स्तर पर सर्जन करना पड़ा, जिसका उनकी कलात्मक प्रतिभा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। मूर्तियों को केवल रूढिगत रूप ही नहीं दिया गया अपितु वे प्रायः नीरस और आकर्षणहीन रहीं।

प्रस्तुत अवधि की मथुरा की कला-कैली निश्चय ही मूल रूप से भारतीय रही, जिसमें मध्य देश की युगों प्राचीन कला-परंपरा के मूल और परम्परा तथा यक्षों की पुरातन मूर्तियों और भरहुत तथा सांची के वैशिष्ट्य का योगदान था। तथापि, उत्तर-पश्चिम

1 विविध-तीर्थ-कल्प, पृ 85.

2 वैष्ण (पी एल). विकारगस्त्र, 1933, पृना. पृ 45.

से प्राप्त विदेशों के कला-प्रतीकों का मुक्त रूप से समावेश करने की पर्याप्त एवं व्यापक छूट थी, जिसका उद्देश्य अंशतः मिथित शैचिसंपन्न भाष्टकों को समृष्ट करना था। इसे अभिध्ववित देने का प्रमुख साधन था चित्तीदार लाल बलुआ पत्थर जिसे सीकरी, रूपदास और ताँतपुर जैसे स्थानों की खानों से निकाला गया।

ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्यमें एक जैन मंदिर (पासाद) के विद्यमान हीने का प्रमाण एक शिलालेख से मिलता है जिसमें उत्तरदासक नामक श्रावक द्वारा एक पासाद-तोरण समर्पित किये जाने का उल्लेख है।<sup>1</sup> एक अन्य शिलालेख में, जो एक शिल्पाकित सरदल-खण्ड पर उत्कीर्ण है और जो कनिष्ठ-प्रथम से ठीक पहले के युग का है, धामघोषा द्वारा एक पासाद के दान का उल्लेख है।<sup>2</sup> पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा में, सुरक्षित एक आयाग-पट भी लगभग इसी अवधि का है (पु० स० म०,<sup>3</sup> क्यू० २, चित्र १)। इसपर उत्कीर्ण शिलालेख में लोणज्ञोभिका की पुत्री वासु नामक गणिका द्वारा, निर्णय-अर्हतायन (अर्हतों का चैत्यबास) में एक अर्हत मंदिर (देविकुल), सभा-भवन (आयाग-सभा), प्याऊ (प्रपा) और एक शिलापट्ट के समर्पित किये जाने का उल्लेख है।<sup>4</sup> एक अन्य शिलालेख में जो (अन्नात संबत् के वर्ष २११ का) संभवतः कुषाणयुग का है और एक खण्डित प्रतिमा के पादपीठ पर अंकित है, अर्हतों के मंदिर (आयतन) में गहावीर की मूर्ति के प्रतिष्ठापन और एक जिगालय (देविकुल) के निर्माण का उल्लेख है।<sup>5</sup> मथुरा संग्रहालय के ही एक खण्डित आयाग-पट पर 'विहार' शब्द अंकित है।<sup>6</sup> बहुसंख्य तीर्थकर मूर्तियों और जैन-देवी सरस्वती की एक मूर्ति की खोज से यह सिद्ध होता है कि कुषाणयुग में मथुरा में अनेक जैन मंदिर विद्यमान थे, यद्यपि इस बात की सम्भावना को भी पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनमें से बहुत-सी मूर्तियाँ खूले स्थानों में प्रतिष्ठापित की गयी थीं।

### कंकाली टीला : स्तूपों को प्रतिकृतियाँ संग्रह अवयव

यद्यपि मथुरा के प्रमुख जैन क्षेत्र<sup>7</sup> कंकाली टीले से हार्डिंज, कनिष्ठम, ग्रावजे और फ्यूरर, द्वारा यत्र-तत्र को मथुरा खुदाइयों और खोजों में अत्यधिक विशाल संख्या में मूर्तियाँ, आयाग-पट,

1 एपीप्राफिया इण्डिका. 2; 1893-94; 198. / ल्यूडस (एच.), लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इंसकिशन्स, 1912, क्रमांक 93.

2 एपीप्राफिया इण्डिका. 2; 1893-94; 199. / ल्यूडस, पूर्वीका, क्रमांक 99. / लखनऊ संग्रहालय क्रमांक जे- 540.

3 पु० स० म० = पुरातत्व संग्रहालय मथुरा; रा. स. ल. = राज्य संग्रहालय लखनऊ.

4 जर्नल ऑफ द यू. पी. हिस्टोरिकल सोसायटी. 23; 1940; 69-70. / ल्यूडस, पूर्वीका, क्रमांक 102.

5 ल्यूडस, पूर्वीका, क्रमांक 180. / ल्यूडस-डि लियू ने इस तिथि को 199 घोषा है। द्रष्टव्य : ल्यूडस-डि लियू (जे ई). 'सीमियन' पीरियड, लीडस, 1949, पृ 58. आर ली शर्मा ने उसके गत का खण्डन किया है, उन्होंने जोयी हुई प्रतिमा के उपलब्ध चरणों के शैलीयत तत्त्वों की ध्यान में रखते हुए इस कृति को कुषाणों के शासन के अंत लया गुप्तवंशीय शासन के आरंभ के मध्यवर्ती संक्रमणकाल का बताया है। द्रष्टव्य : महावीर जैन विशालय गोलडम चुब्ली बॉल्ट्स, 1968, बम्बई, पृ 149.

6 जर्नल ऑफ द यू. पी. हिस्टोरिकल सोसायटी. 23; 1950; 71.

7 कुछ जैन पुरावक्षोष सीतल-बाटी, राजी की मण्डी और मनोहरपुर से भी प्राप्त हुए थे।

स्तंभ, स्तंभ-शीर्ष, छत्र, वेदिका-स्तंभ, शूचियाँ, उष्णीष, तोरणलङ्घ, तोड़े एवं अन्य वास्तु-शिल्पीय कलाकृतियाँ निकली थीं, किन्तु, दुर्भाग्यवश, विचाराधीन अवधि का एक भी स्मारक इस समय उपलब्ध नहीं है। इन छिन्न-भिन्न शिलापट्टों से इस बात का आभास मिलता है कि वज्राद्य एवं धर्मनिष्ठ जैन संप्रदाय के लोगों द्वारा, जिनमें पर्याप्त संख्या में सामान्य महिला उपासक सम्मिलित थीं, निर्मित भव्य स्मारक मूर्तिकला एवं स्थापत्य की दृष्टि से किसने उत्कृष्ट थे। अनेक शिलापट्टों और मूर्तियों पर उत्कीर्ण शिलालेखों में केवल शासकों के नाम ही नहीं लिखे गये हैं अपितु उनसे जैन संघ के संगठन पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है, जो अनेक आचार्यों एवं मुनियों के विभिन्न गणों, कुलों और शास्त्राओं में संगठित था।

यद्यपि फ्यूरर को १८८८ और १८९१ के बीच कंकाली टीले में अपने विशाल खोजकार्य के मध्य ईटों के एक स्तूप और दो मंदिरों के अवशेष तथा प्रधुर संख्या में ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर ग्राहरबीं शताब्दी ईसवी तक के पुरावशेष प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई थी, किन्तु वह भवनों के विस्तृत मानचित्र और छायाचित्रों के विवरण का उचित सूचीकरण कर सकने में असमर्थ रहा, क्योंकि उसका कार्य लुदाई द्वारा मुख्यतः पुरावशेषों, विशेषकर शिलालेखों को खोज निकालने तक ही सीमित रहा। उन पुरावशेषों का पूर्वापर-संबंध क्या था और के किन-किन भवनों के थे, इसका भी उसने कोई विवरण नहीं रखा। जैन वास्तु-स्मारकों के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस आवश्यक सूचीकरण के अभाव में हमें स्वाभाविक रूप से विछिन्न स्मारकों के उत्कीर्ण प्रस्तरपट्टों पर शिल्पांकित रचनाओं के साक्ष्य पर ही निर्भर रहता पड़ता है।<sup>१</sup>

उपलब्ध साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि कंकाली टीले पर जैन प्रतिष्ठान एक ऐसे स्तूप के चारों ओर निर्मित हुआ था जो कि अत्यंत श्रद्धा एवं आदर की वस्तु बन गया था। वर्ष ७६ (१५७ ईसवी) या ४६ (१२७ ईसवी) के एक शिलालेख<sup>२</sup> में, जो एक अज्ञात मूर्ति के पादपीठ पर अंकित है, तथाकथित देव-निर्मित वोद्व स्तूप पर अहंत मन्द्यावर्त<sup>३</sup> की मूर्ति के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। इससे वह चिह्नित होता है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य तक यह स्तूप इतना प्राचीन हो गया था कि इसके निर्माण संबंधी मूल तथ्यों को लोग पूर्णतः भूल गये थे और इसका निर्माण देवों द्वारा किया हुआ भाना जाने लगा था। अनुमानतः सोमदेव ने अपने धरास्तिलक चम्पू में (१५६ ई०) एक स्तूप के निर्माण का विवरण देते समय इसी स्तूप का उल्लेख किया है क्योंकि उनके अपने समय में देव-निर्मित स्तूप के रूप में एक स्तूप विख्यात था।

१ विशाल कंकाली टीले के सुव्यवस्थित उत्क्षेपन से कुछ भवनों की संरचना का पता लगने की संभावना है, यद्यपि षिल्पी उत्क्षेपनों से टीले को पर्याप्त अति पहुँची है।

२ ल्यूडर्स, पूर्वोक्त, फलांक ४७।

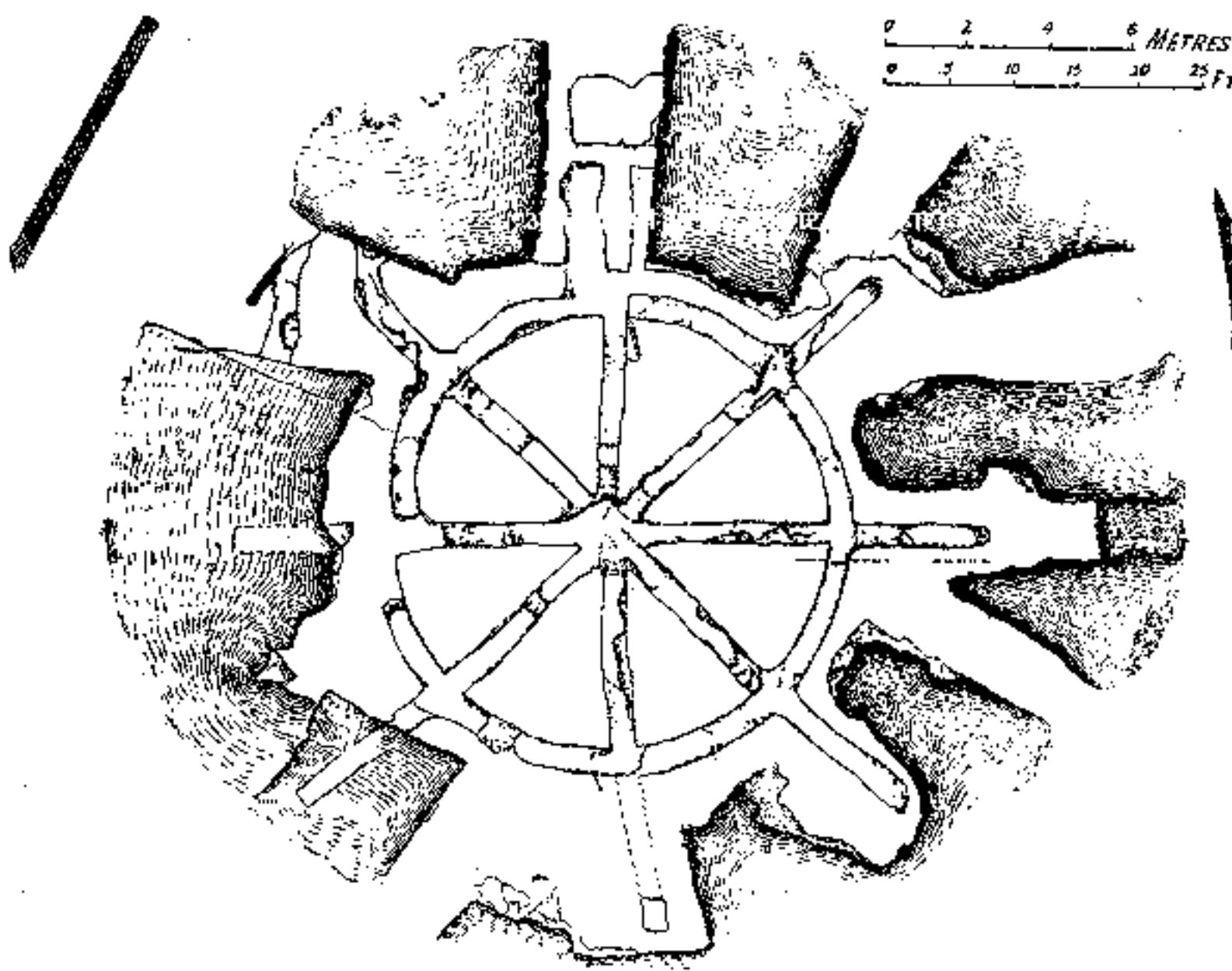
३ कुण्डल वाजपेयी ने इसे मुनिसुखत पड़ा है : महाबीर कण्ठमोरेशन वौल्यूम. १. आगरा, पृ. 189-90.

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 300 ई० पू० से 300 ई०

[ भाग 2

सोमदेव के मतानुसार इसका निर्माण वज्रकुमार ने करवाया था, जो दिव्य विद्याधरों की अलौकिक शक्तियों से संपन्न था ।<sup>1</sup>

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्यूरर को खुदाई में ईटों का एक स्तूप प्राप्त हुआ था जिसका व्यास १४.३३ भीटर बताया जाता है । इस स्तूप की रूपरेखा के एक सामान्य रेखाचित्र से (रेखाचित्र २)<sup>2</sup> प्रतीत होता है कि यह स्तूप पूर्णरूपेण ईटों का बना हुआ नहीं था । इसके अभ्यन्तर में ईटों की चिनाई एक आठ अरोंवाले चक्र के रूप में थी । चक्र के अतिरिक्त उसमें एक वृत्ताकार भित्ति थी, जो ढाँचे को शक्ति प्रदान करने के लिए विकीर्ण अरों को मध्य में जोड़ती थी । इस ढाँचे के भीतर घोष स्थान अनुमानतः चिकनी मिट्टी से भरे हुए थे ।



रेखाचित्र २. कंकाली टीला : ईट-निर्मित स्तूप की रूपरेखा (स्मिथ के अनुसार)

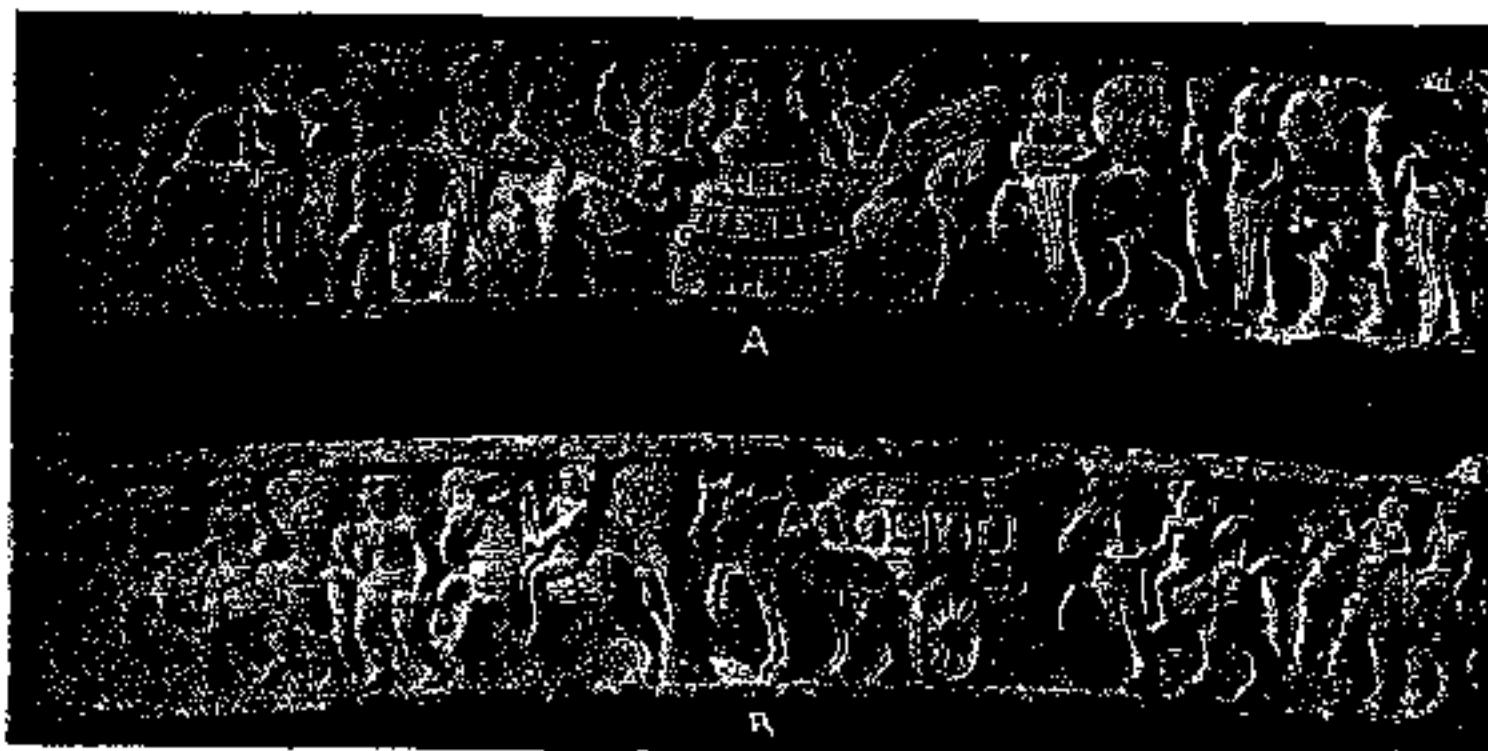
1. हन्दीकी( के के ), व्यक्तिगत एण्ड इण्डिवन कल्चर, 1949, शीलापुर पृ 416 और 433.

2. स्मिथ, पूर्वोक्त, विध ३. तथापि, रेखाचित्र में व्यास 14.33 भीटर से कहीं अधिक दिखाया गया है ।

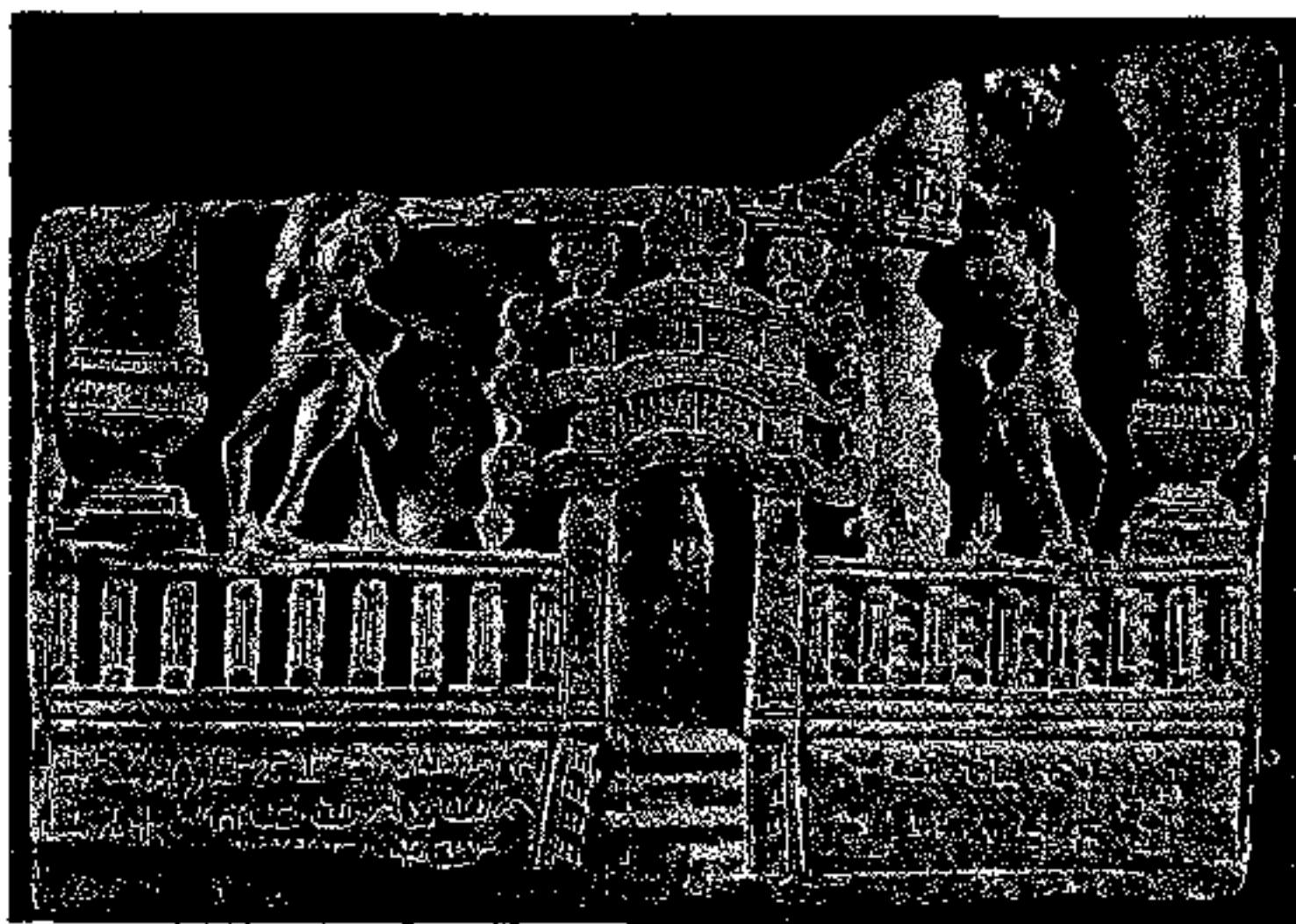


मधुरा — अत्याग-पट

चित्र १



(क) भवुरा — स्तूप के प्रवेश द्वार का सरदल, (ख) तुरो भाग (छ) पृष्ठ भाग

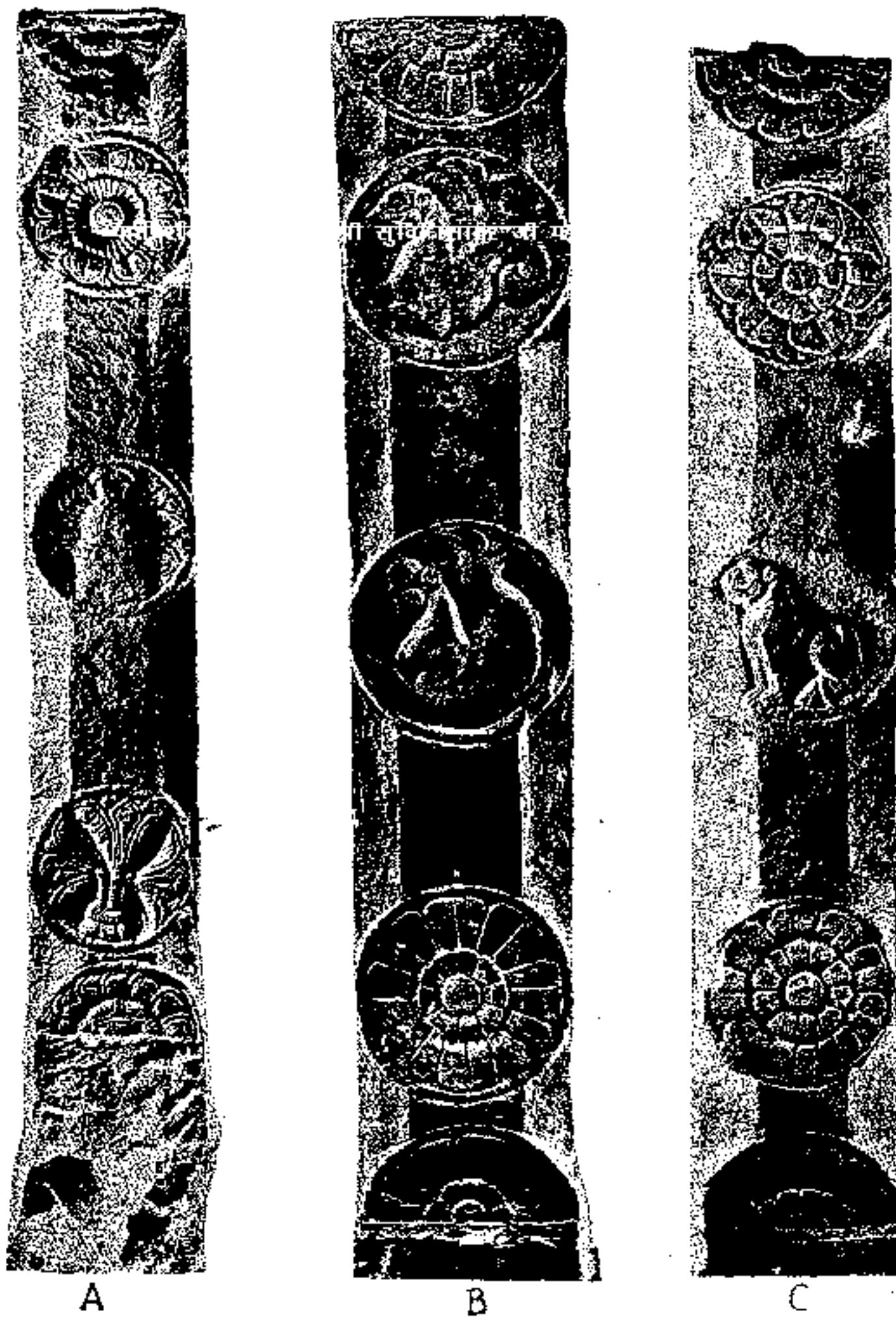


(ख) भवुरा — अण्डित आयाम-पट

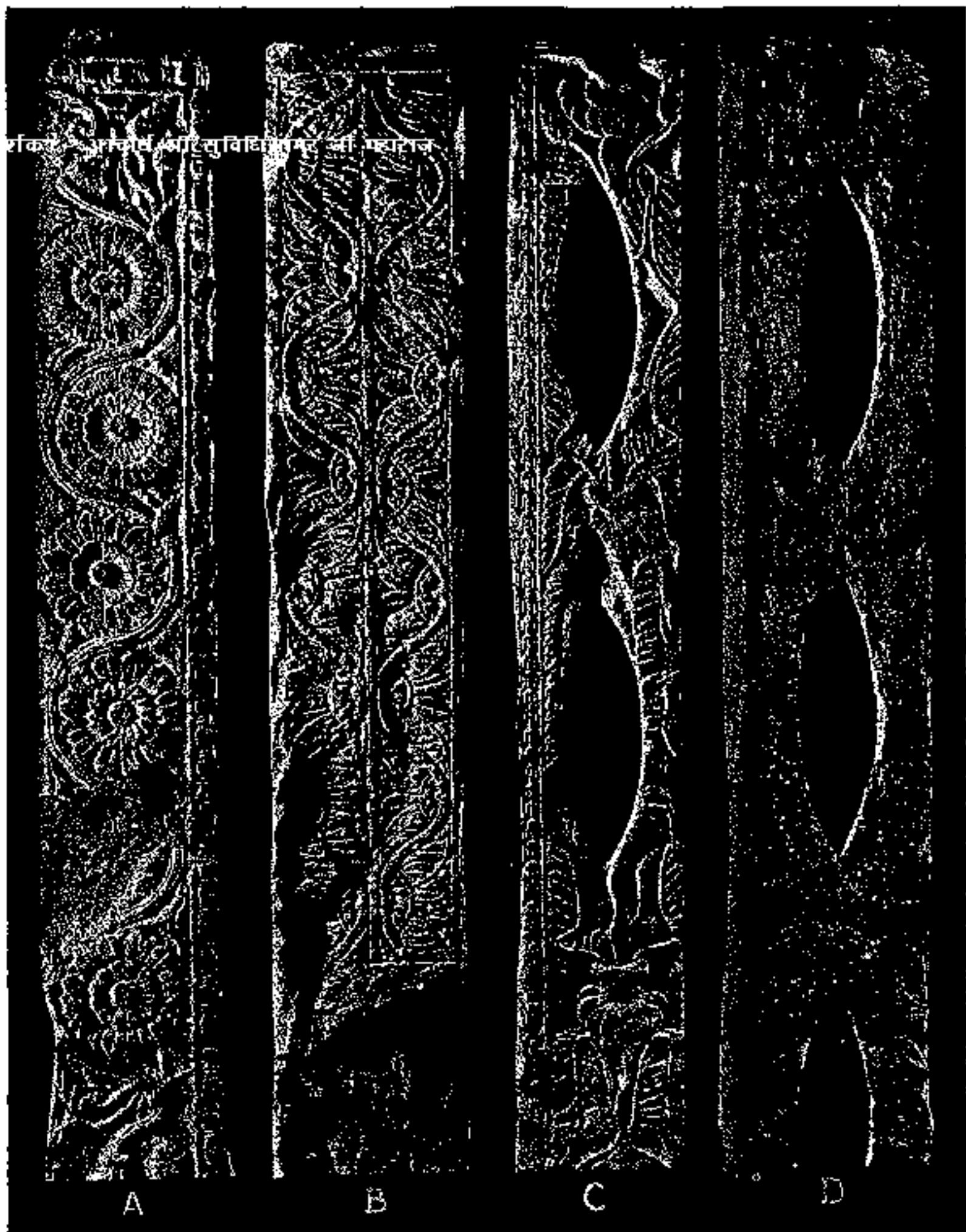


पार्विक — अमरावती त्रिविदिस्तम्भ जी पहारज़

मधुरा — शिल्पकिति शिलाषट्टु



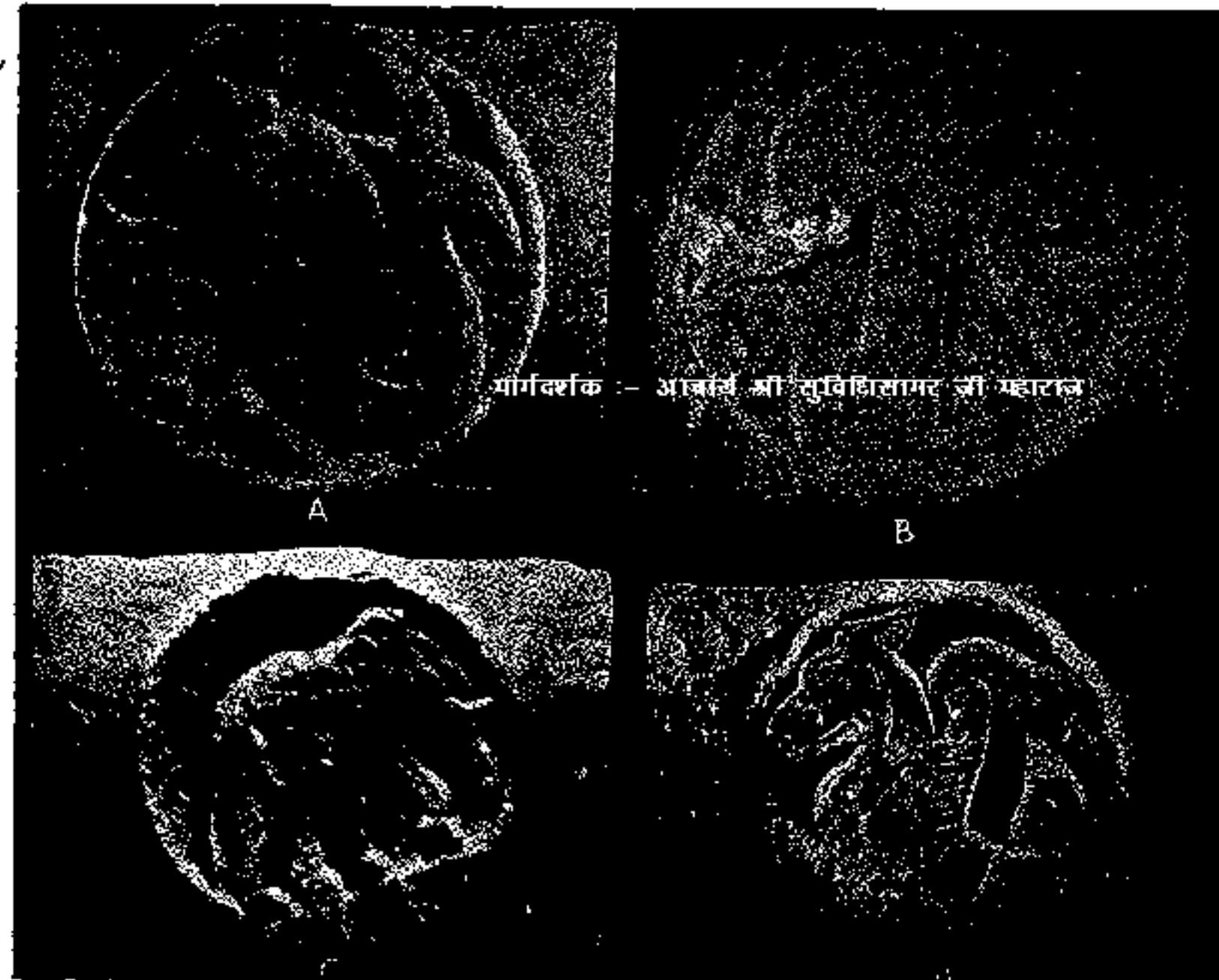
पशुरा — वेदिका स्तम्भ



मथुरा — वेदिका का कोण स्तम्भ, चारों ओर का दृश्य

वस्तु-स्मारक एवं मूलिका 300 ई० पू० से 300 ई०

( भाग 2



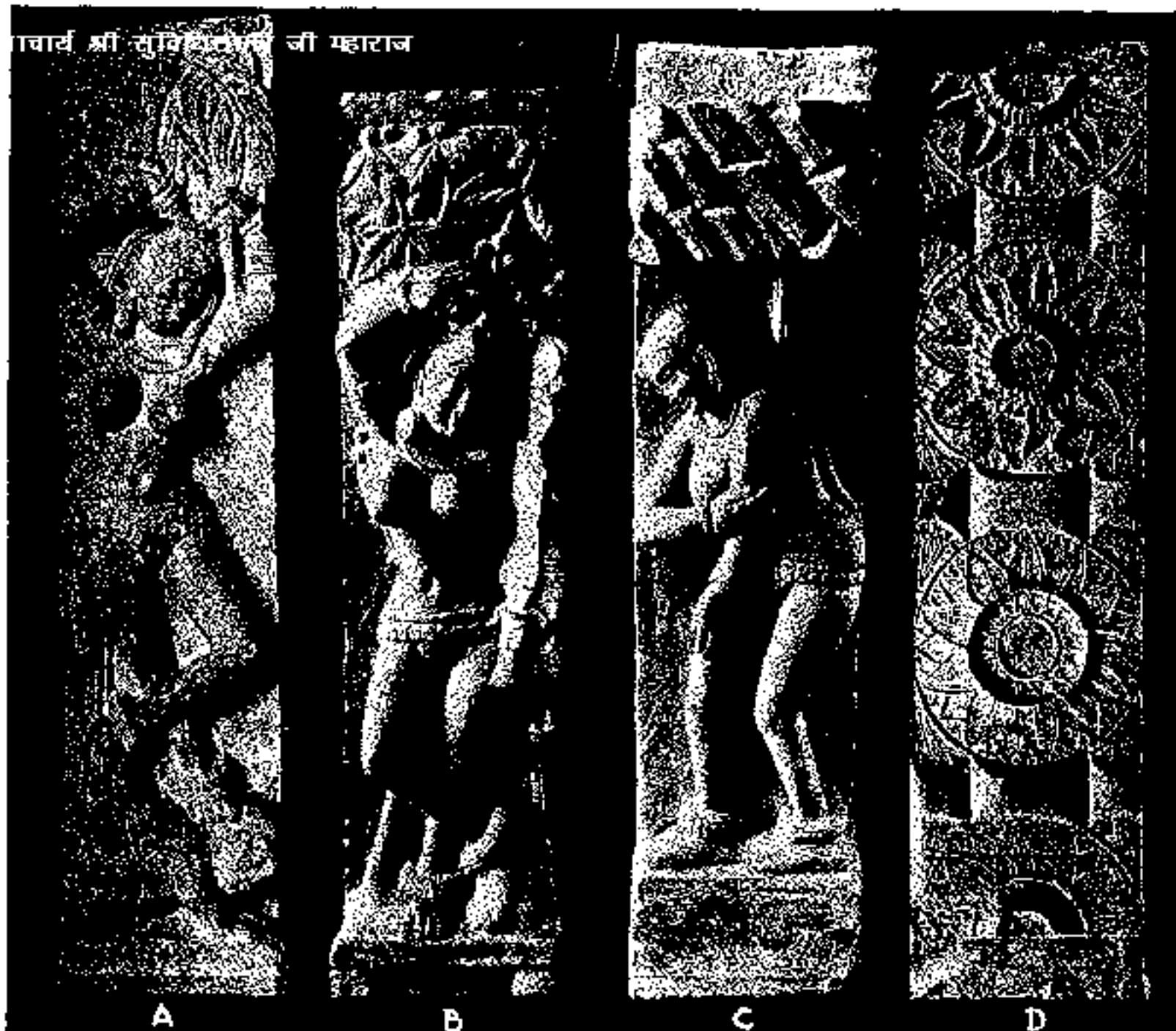
मधुरा — वेदिका सूचियाँ (तकिए)



मधुरा — वेदिका के उष्मीय

वास्तु-संसारक एवं मृतिकला 300 ई० पू० से 300 ई०

[ भग 2



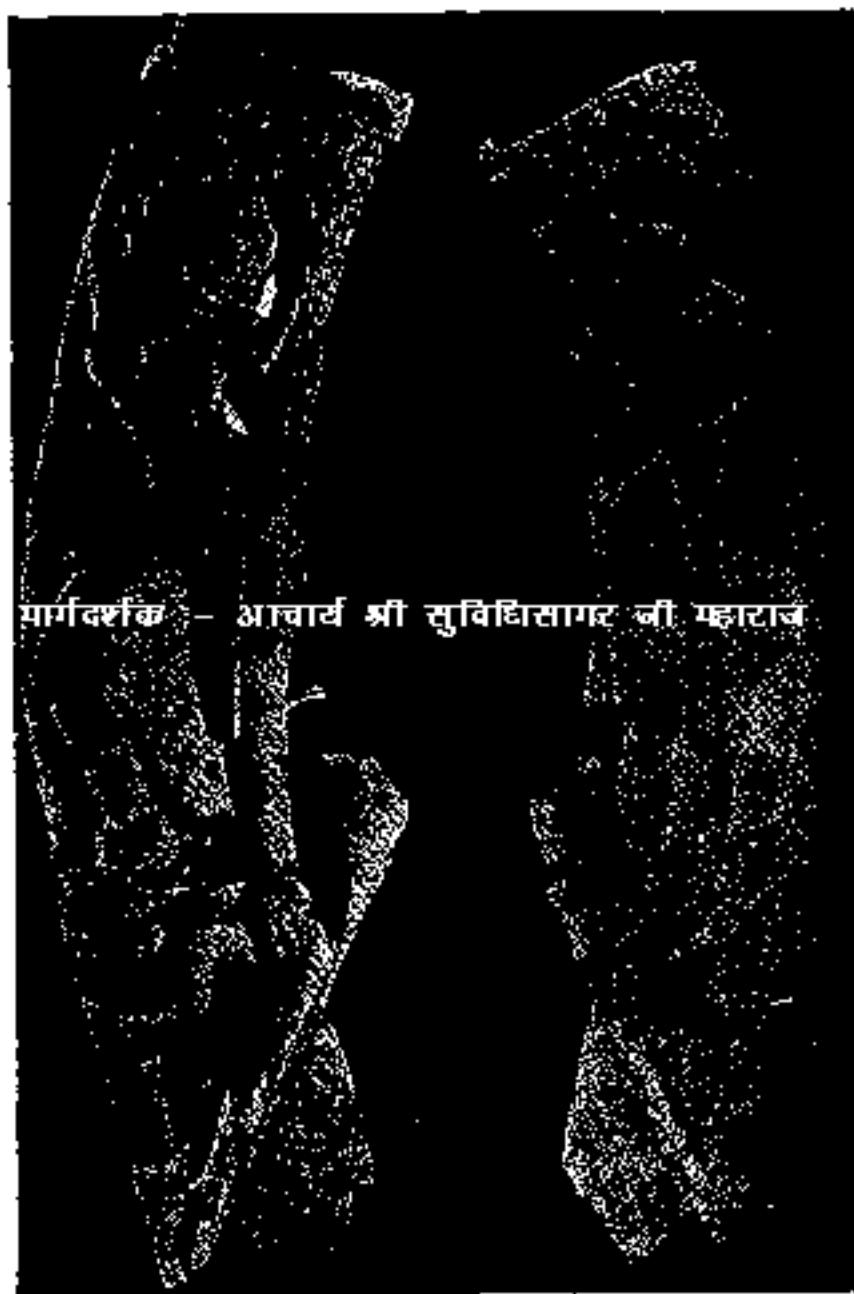
मथुरा — वेदिका रसायन



(क) मथुरा — सोमान में प्रदृश्ट एक ऐदिका स्तम्भ

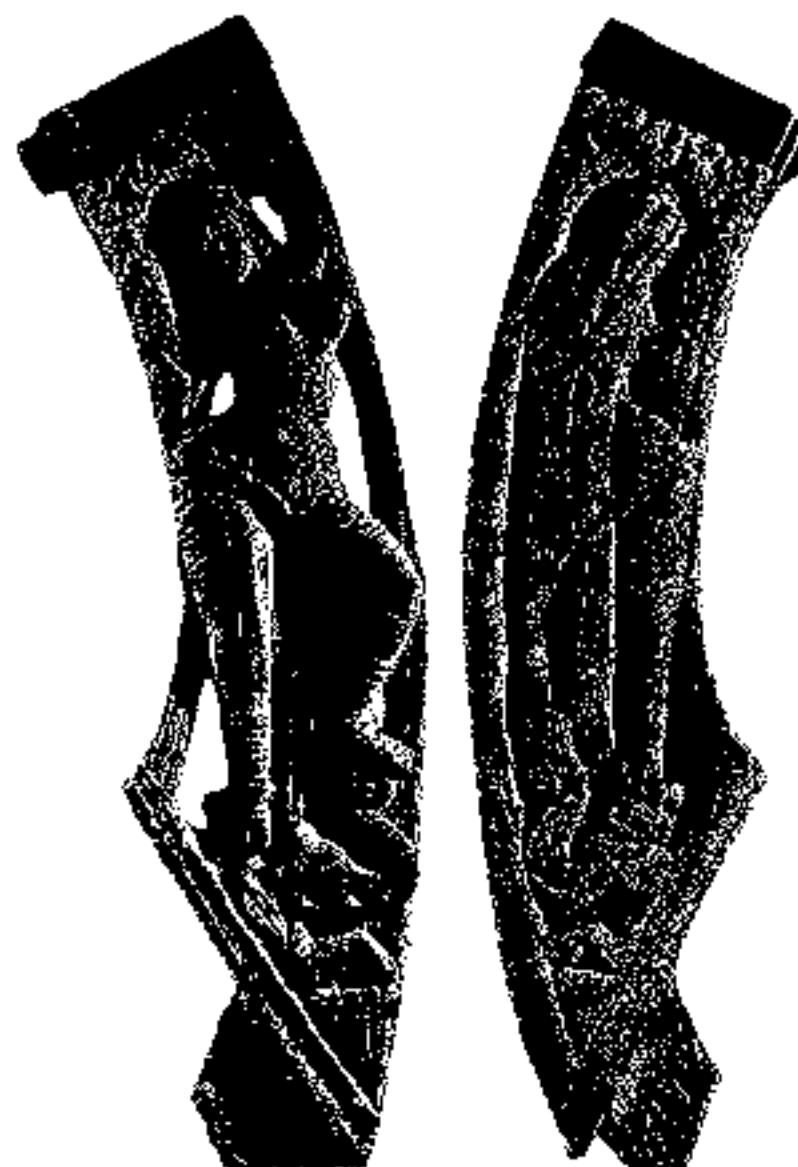


(ब) मथुरा — खण्डन सरदल



प्रगदीर्घक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी यादाच

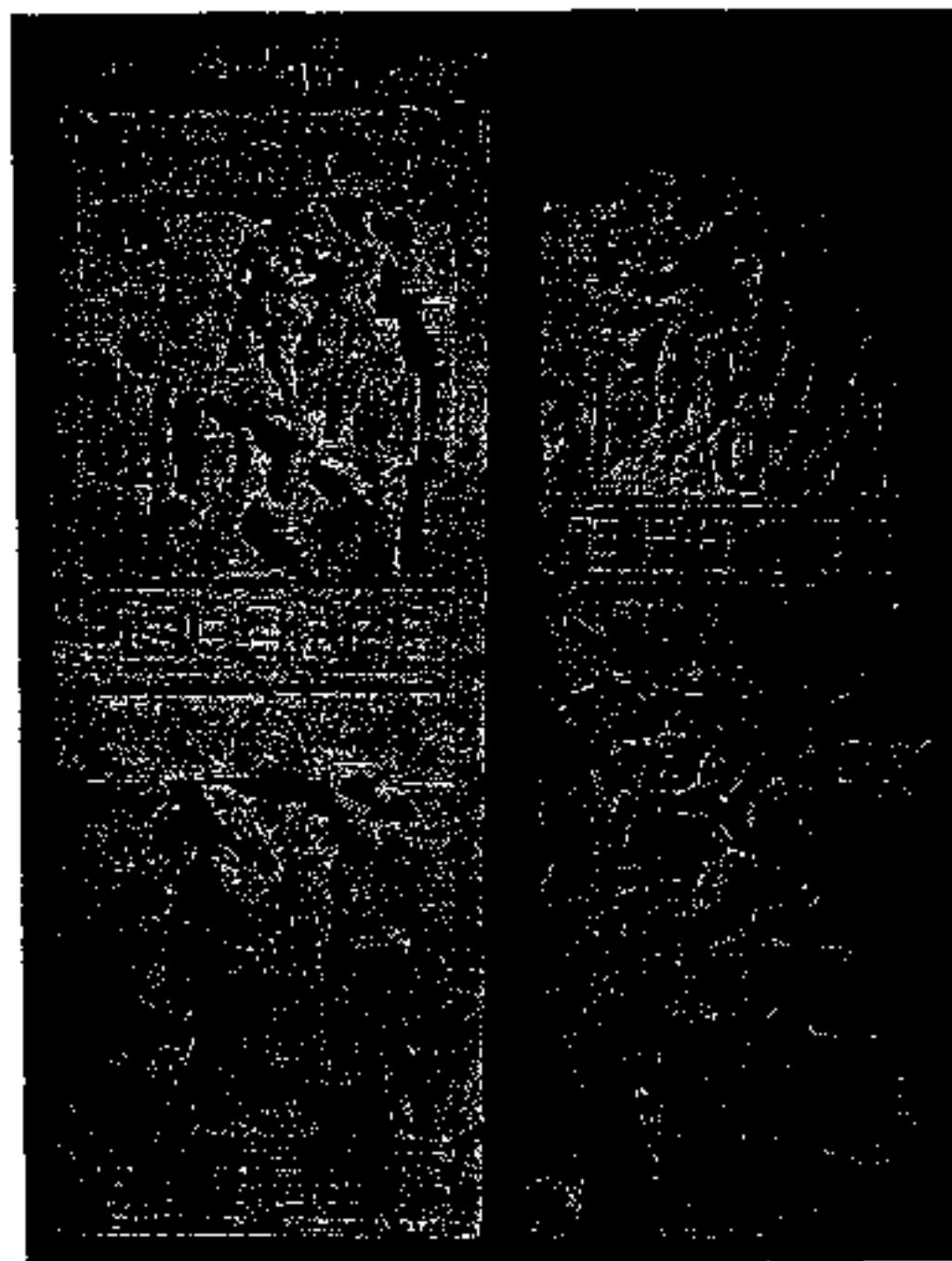
(क) मधुरा — प्रवेश द्वार के टोड़े, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग



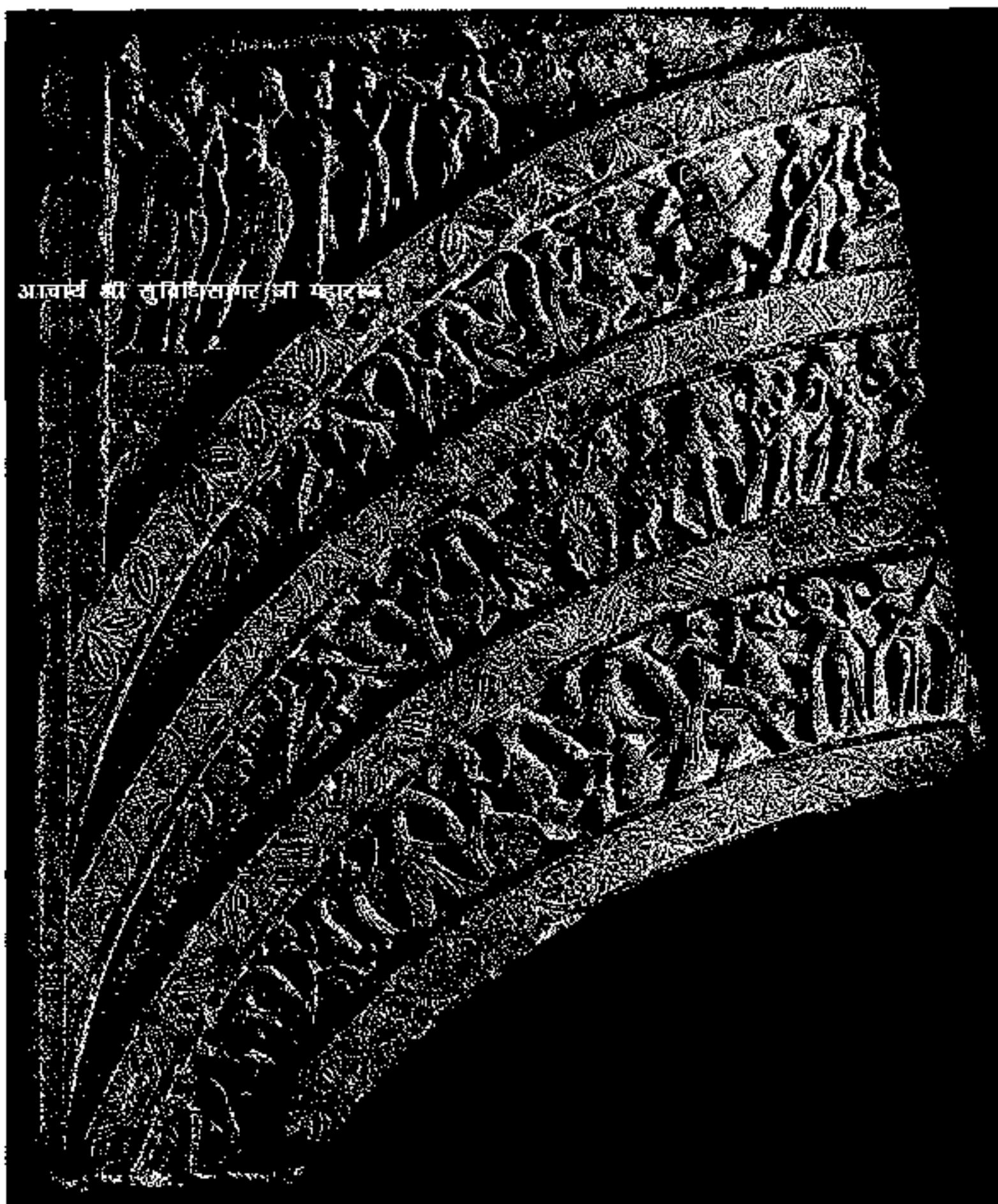
(ख) मधुरा — प्रवेश द्वार के टोड़े, पुरोभाग तथा पृष्ठ भाग



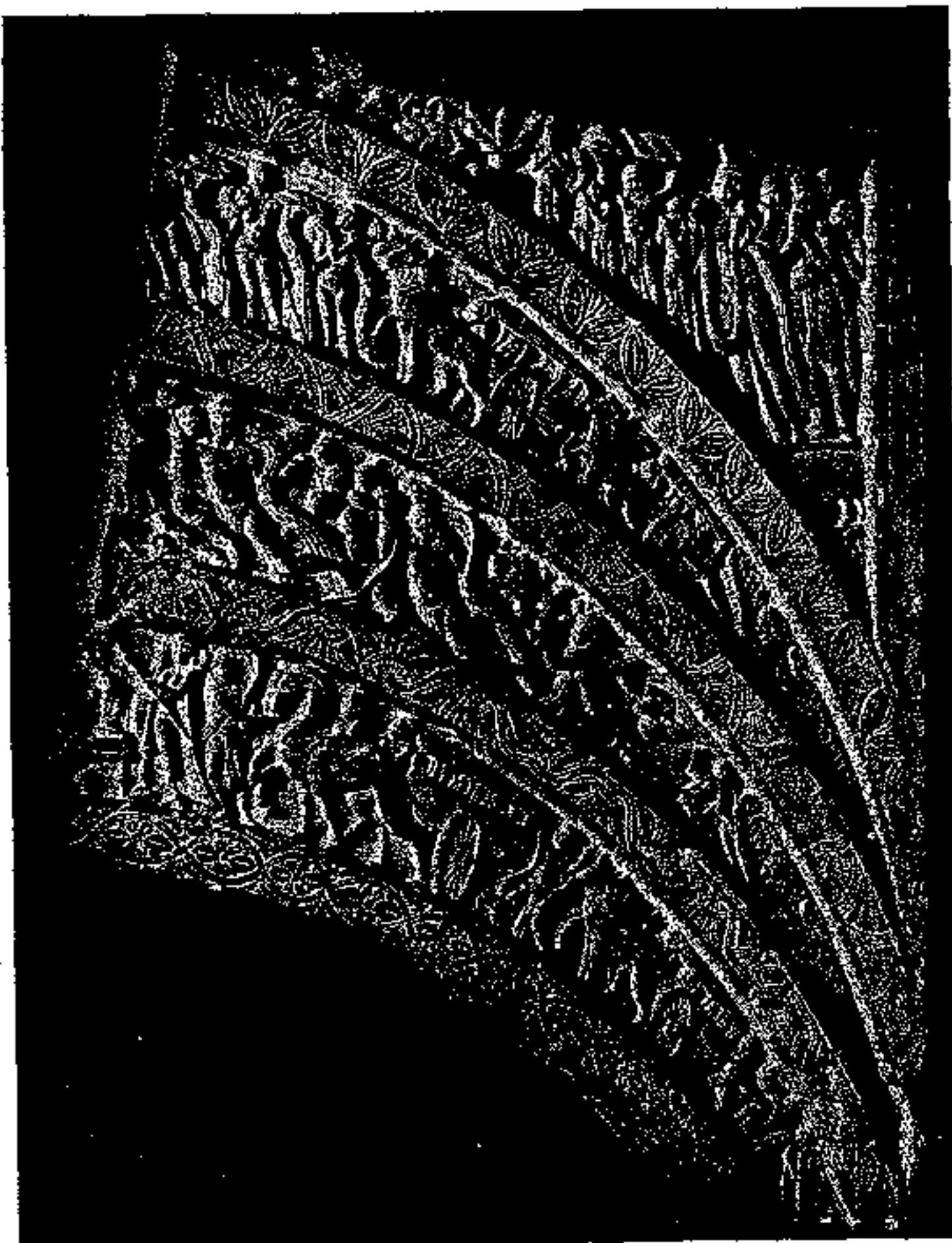
(क) मधुरा — सरदल का टोड़ा



(ख) मधुरा — तोरण स्वरम्, पुरोभासि तथा पृष्ठभासि



मधुरा — खण्डित लोरण शीर्ष, पुरीभाग



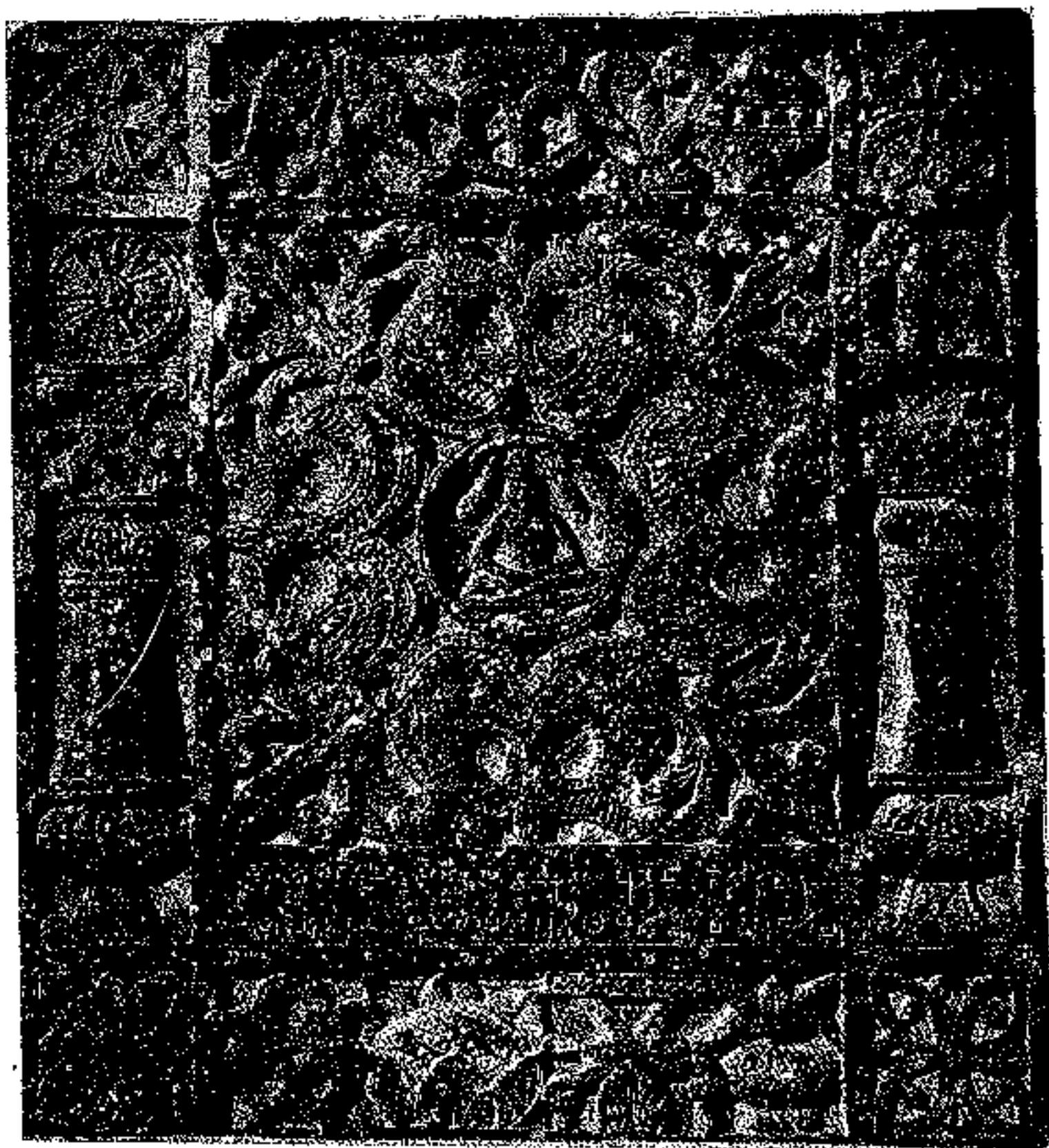
मधुरा — बघित तोरण शीर्ष, पुठ भाग

वास्तु-स्मारक एवं मूलिकता 300 ई० पू० से 300 ई०

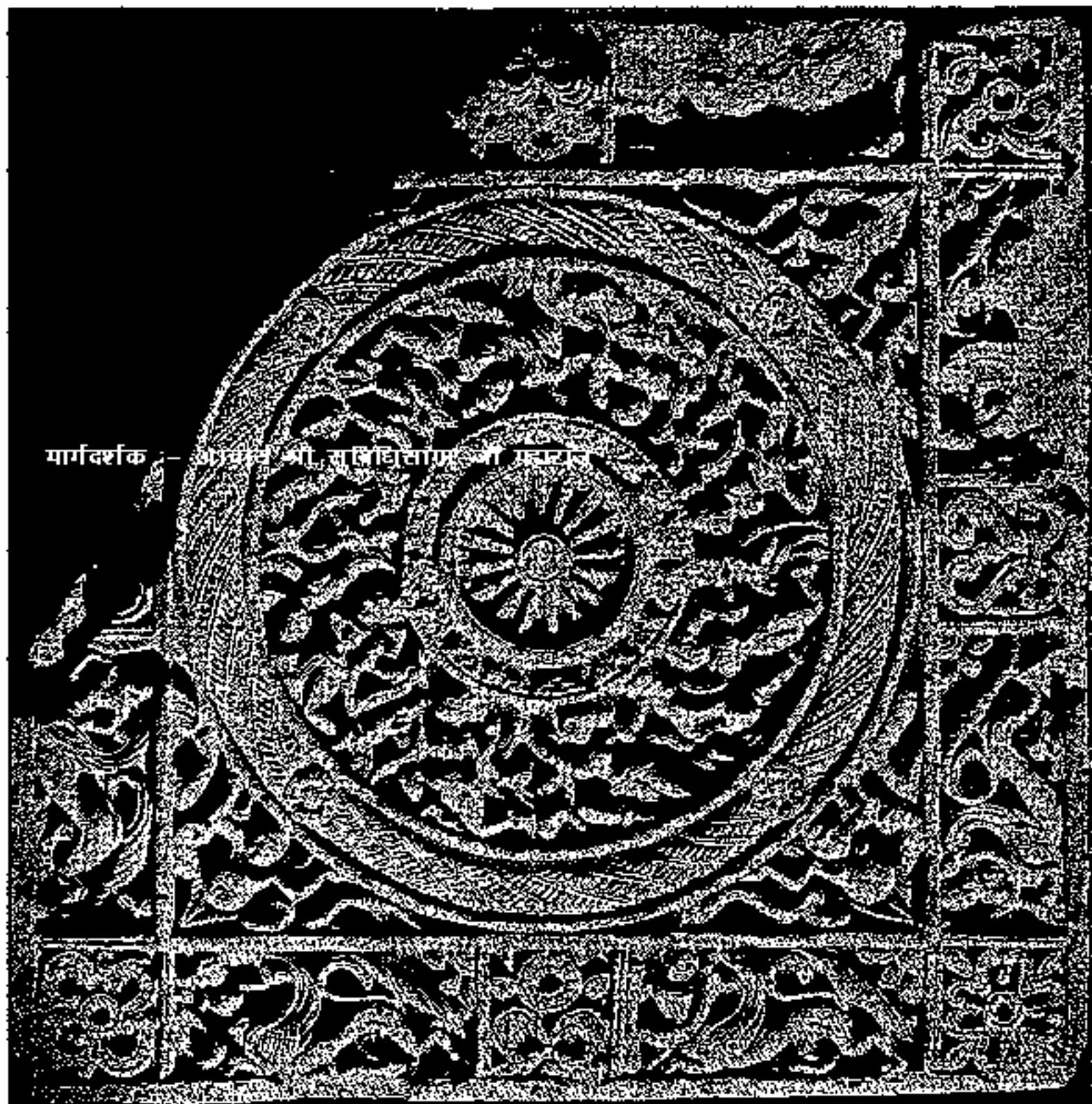
[ भग्न 2



मधुरा — आयग्निषट्



मधुरा — आदान-पट



मधुरा — आयान-पट

इस स्तूप की ऊँचाई और बाह्य रूप के संबंध में हमें सरदलों, आयाम-पटों और तोरण-शीर्षों इत्यादि के शिल्पांकनों को देखना चाहिए। शिल्पांकनों से, तथा प्रवेशद्वारों और वेदिकाओं के विच्छिन्न प्रस्तर-बाणों से भी यह प्रतीत होता है कि इस स्थल<sup>1</sup> पर या लो एक से अधिक महस्त्व-पूर्ण स्तूप थे अथवा जो एक मात्र स्तूप था उसका राम्य-सम्य पर जीर्णोद्धार तथा अलंकरण किया जाता रहा।

कालकमानुसार, स्तूप की सर्वप्रथम अनुकृति एक स्तूप के प्रवेशद्वार के निचले सरदल के (चित्र 2 क) पुरोभाग में मिलती है। यह सरदल आजकल राज्य संग्रहालय, लखनऊ में है (रा० सं० ल० जे-५३५)। इसपर उत्कीर्ण मूर्तियों एवं आकृतियों की शैली को ध्यान में रखते हुए, इस सरदल को ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता। उत्तरोत्तर धटती हुई तलवेदी-युक्त ढोलाकार शिखरबाला यह स्तूप कुछ-कुछ धंटे की-सी आकृति का है। ढोलाकार शिखर की तलवेदियों के चारों ओर त्रिदण्डीय वेदिकाएँ हैं। अर्धकृताकार शिखर पर एक वर्गीकार त्रिदण्डीय वेदिका है जिसके केन्द्र से एक छत्र स्पष्ट रूप से ऊपर की ओर उठा हुआ है। चौथी वेदिका, जो प्रदक्षिणा-पथ को चारों ओर से घेरे हुए है, भूमितल पर बनायी गयी है। संभव है कि यह स्तूप अर्थाकृति देव-निर्मित स्तूप ही हो, जिसका आरंभ में कोई प्रस्तर-धार नहीं था।

स्तूप की एक अन्य अनुकृति इसी अवधि के एक दूसरे खण्डित सरदल (रा० सं० ल०, जे-५३५) पर है। यह सरदल भी अब लखनऊ संग्रहालय के भण्डारनगृह में है। इस सरदल को चारों ओर से जानबूझकर काट दिया गया था, ताकि इसे वेदिका के कोण-स्तंभ में परिणत किया जा सके। परिणामस्वरूप इसके उत्कीर्ण भाग कई स्थानों पर नष्ट हो गये हैं। शिल्पांकित भाग में एक स्तूप अंकित है, जिसका सबसे निचला भाग तथा अर्धकृताकार शिखर की वेदिका के ऊपर का छत्र बायता है। क्योंकि निचला भाग उपस्थित नहीं है, अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इसके ढोलाकार शिखर के साथ वेदिकायुक्त दो तलवेदियाँ थीं वा नहीं। यदि नहीं थीं, तो निचली वेदिका (इसके नीचे का भाग काट दिया गया है) ने भू-तल वेदिका का कार्य किया होगा। स्तूप के बायें भाग में दो सवारों सहित एक हाथी, एक अश्वारोही और दो बैलों के सिर हैं। ये बैल संभवतया एक माही खींच रहे थे, जो अब लापता है। उत्कीर्ण भाग में छाई कोटर हैं। एक संलग्न पार्श्व में सूचियों की चूलों के लिए कोटर भी बने हुए हैं।

स्तूप-स्थापत्य के विकसित स्वरूप का ज्ञान हमें उस सुरक्षित शिल्पांकित शिला-पट् (आयाम-पट, पु० सं० म०, क्षू-२; चित्र १) से मिलता है, जिसका कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।<sup>2</sup>

1 हरिषेण (१९३२ ई०), बृहस्पति-कोष, संपा : ए एन उपाध्ये, १९४३, वम्बर, पृ २६, इसमें मधुरा के पांच प्राचीन स्तूपों की स्थापना का विवरण दिया हुआ है।

2 जर्नल ऑफ इ प्री इंस्टिट्यूट ऑफ इंजीनियरिंग एंड टेक्नोलॉजी, २३, १९५०, ६९-७०।

इसपर अंकित शिलालेख, जिसमें वारांगना वासु द्वारा किये गये विभिन्न समर्पणों का उल्लेख है, (उपर्युक्त, पृष्ठ ५४) पुरालिपिशास्त्रीय दृष्टि से कनिष्ठ-पूर्व काल का कहा जा सकता है। पूर्वकथित स्तूप की तुलना में इसका विशाल बेलनाकार शिखर स्पष्ट रूप से इतना ऊँचा है कि इससे स्तूप कुछ-कुछ मीनार जैसा दिखाई देता है। इसकी दो तलबेदी हैं, जिनके चारों ओर उत्कीर्ण वेदिकाएँ हैं। अर्द्धवृत्ताकार शिखर के शीर्षभाग पर एक वर्गाकार द्विदण्डीय वेदिका है, जिसके केन्द्र में ऊपर की ओर एक छत्र शोभायमान है और उसपर मालाएँ लटक रही हैं। इस स्तूप की एक नवीनता इसकी ऊँची पीठिका है, जो अनुमानतः वर्गाकार है। इस पीठिका के ऊपर निमित्त तलबेदी प्रदक्षिणा-पथ के रूप में प्रयुक्त होती थी। इसके चारों ओर प्रवेशद्वार (तोरण) युक्त एक त्रिदण्डीय वेदिका है। भूमितल से तलबेदी तक पहुँचने के लिए प्रवेशद्वार के ठीक सामने आठ सीढ़ियोंवाला एक वेदिकायुक्त सोपान है। पीठिका के अग्रभाग पर मकर-तोरणों की-सी आकृति के अर्द्धवृत्ताकार शाले बने हुए हैं, जिनमें पादपीठों पर छड़गासन मूर्तियाँ अंकित हैं (दक्षिण पाश्व में पुरुष और वाम पाश्व में नारी-मूर्तियाँ हैं)। प्रचुरता से उत्कीर्ण इस तोरण का भर्तुत और सांची के तोरणों के साथ रथनात्मक सादृश्य है। इसमें ऐ धार्याकार उत्कीर्ण स्तंभ है, जो तीन अनुप्रस्थ वकाकार सरदलों को, जिनके सिरे मकरों की आकृति के हैं, अवलंब दिये हुए हैं। सरदलों के बीच दो अवलंबक प्रस्तर-खण्ड हैं, जबकि निचले सरदल के दो मुडे हुए सिरे दो सिंहाकार टोड़ों पर आधारित हैं। सबसे ऊपर के सरदल पर मुकुट की भाँति स्थित मधुमालती लता का एक कला-प्रतीक अंकित है, जिसके दोनों पाश्वों में एक त्रिरत्न या (तन्त्रिपद) प्रतीक है, जैसा भर्तुत के स्तूप के पूर्वी तोरण में है। निचले सरदल के केन्द्रीय भाग से एक कमल-गुच्छ लटका हुआ है, जिसके साथ पुष्पमालाएँ भी हैं। तोरण का शिल्पांकन तत्कालीन शैली पर आधारित है, यह तथ्य आगे वर्णित विच्छिन्न खण्डों की खोज से सिद्ध हो जाता है (पृष्ठ ६३)।

इस स्तूप की एक प्रमुख विशेषता इसके दो ऊँचे-ऊँचे स्तंभ हैं। प्रत्येक स्तंभ सामने के दोनों कोनों पर स्थित है। (यह शिल्पांकन जिस स्तूप की लघु अनुकृति है, संभवतः उस स्तूप के शीष दो कोनों पर भी दो और स्तंभ रहे होंगे)। इन स्तूपों का घट-आधार एक पिरामिड जैसी आकृति के सोपानयुक्त पादपीठ पर टिका हुआ है। स्तंभ का मध्यभाग दायें पाश्व में वृत्ताकार और बायें पाश्व में अष्टकोणीय है, उसके ऊपर एक घट और घट के ऊपर शयन-मुद्रा में पंखधारी सिंहयुग्म उत्कीर्ण हैं। इन सिहों के ऊपर एक चौड़ी-चपटी कुण्डलित निमित्त है, जो स्तंभ-शीर्ष पर मुकुट की तरह स्थित आकृति को आगे हुए है। दायें पाश्व में उसकी रथना एक चक्र की तथा बायें पाश्व में अगले पैरों को खड़ा करके बैठे हुए सिंह की है। ये स्तंभ पीठिका पर बने स्तूप की ऊँचाई के बराबर हैं। कंकाली-टीले में इस प्रकार के अनेक स्तंभ भिले हैं।

एक अन्य खण्डित आयाग-पट (रा० सं० ल०, जे-२५५) पर एक स्तूप के शिल्पांकन (चित्र २ ख) का निचला भाग सुरक्षित है। स्तूप के उपलब्ध भाग का सामान्य विन्यास और प्रमुख विशेषताएँ पूर्वोक्त स्तूप (पू० सं० म०, क्षू-२) के समान ही हैं, किन्तु उसकी तुलना में इसकी पीठिका

नीची है, जिसके परिणामस्वरूप तोरण तक पहुंचने के लिए केवल चार सीढ़ियाँ हैं, जहाँ से पीठिका के ऊपर वेदिकायुक्त तलवेदी पर पहुंचा जा सकता है। इस तलवेदी पर दो स्तंभ हैं, जैसे कि पूर्वोक्त शिल्पांकन में थे। मुख्य स्तूप के ऊंचे बेलनाकार शिखर की केवल निचली तलवेदी ही सुरक्षित है। प्रचुरता से उत्कीर्ण तोरण के बकाकार सरदलों के सिरे मुड़ी हुई पूँछोंवाले मकरों के सदृश हैं। सरदलों के बीच बगाकार शिलाखण्डों पर (जो तोरण के आयताकार स्तंभों की सीध में हैं) मधुमालती लता और श्रीबत्स जैसे कला-प्रतीक अंकित हैं। सरदलों के केन्द्रीय भाग को जोड़नेवाले दो शिल्पांकित वेदिका स्तंभ हैं और इन स्तंभों तथा शिलाखण्डों के बीच के स्थान में जालियाँ बनी हुई हैं। इस तोरण के शीर्षस्थ तत्त्व वैसे ही हैं जैसे कि पु० स० म०, क्य०-२ संख्यावाले तोरण में हैं। निचले सरदल के केन्द्रीय भाग से माला सहित एक कमल-गुच्छ लटक रहा है। शिलापट पर उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि यह आयाग-पट एक नर्तक की पत्नी शिवयशा द्वारा अर्हतों की पूजा के लिए स्थापित किया गया था।<sup>1</sup> पुरालिपिशास्त्रीय तथ्यों को व्यान में रखते हुए यह शिलालेख कनिष्ठ-प्रथम से तुरन्त पहले के युग का माना गया है।

स्तूपों की अन्य अनुकृतियाँ भी हैं। इनमें से एक इस समय नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में रखे हुए दोषु-दीर्घ (चित्र १२) पर अंकित है। यद्यपि विभिन्न विषय-वस्तुओं के एक साथ एकत्रित हो जाने के कारण, इसमें लघु रूप में शिल्पांकन किया गया है, किन्तु फिर भी इसमें मूल स्तूप की सभी आवश्यक विशेषताएँ विद्यमान हैं – जैसे कि दो वेदिका-युक्त तलवेदियों में एक ऊंचा बेलनाकार शिखर और एक नीचा अर्धवृत्ताकार शिखर है; शिखर पर एक बगाकार वेदिका और एक छतरी है। एक अन्य तोरण-शीर्ष (रा० स० ल०, वी २०७)<sup>2</sup> पर भी एक लघु स्तूप का अंकन किया गया है। इसके आधार में एक वेदिका निर्मित है।

एक अन्य लघु चित्रण एक शिला-पट पर है, जो संभवतया एक आयाग-पट (रा० स० ल०, जे-८२३) है। इसपर वर्ष ६६ का एक शिलालेख है जो अनुमानतः शक संवत् का है।<sup>3</sup> इसमें स्तूप का अंकन ऊपरी भाग में है (चित्र ३), पार्श्व में दोनों ओर पद्मासन मुद्रा में दो-दो तीर्थकर-मूर्तियाँ हैं, जब कि मुख्य कलंक पर कायोत्सर्ग मुद्रा में कण या कण्ठ नामक श्रमण की मूर्ति, अभय मुद्रा में खड़ी एक महिला की मूर्ति और तीन भक्तों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। पूर्वोक्त पाँच अनुकृतियों की विशेषताओं के विपरीत, इस स्तूप के ढोलाकार शिखर की एक ही तलवेदी है। एक विशेषता यह भी है कि भूमितल पर और ढोलाकार शिखर के ऊपर जो वेदिकाएँ हैं उन दोनों में एक-एक तोरण है। अर्धवृत्ताकार शिखर के ऊपर एक बगाकार वेदिका है, जिसके केन्द्र में छत्र की कम ऊंची तथा मोटी यज्ञि है।

1 एशियाफिया इण्डिका, 2; 200-। ल्यूडल्स, पूर्वोक्त, क्रमांक 100.

2 बुनेदिन धर्मक एवं विजयनगर एवं आकाशवाली इस घृ. वी. ९; १९७२; ४८-४९, रेखाचित्र ४.

3 एशियाफिया इण्डिका, 10; 1909-10; 117.

एक ललवेदीयुक्त ढोलाकार शिखरवाले स्तूप की कम से कम दो और लघु अनुकृतियाँ हैं । एक तो एक आयाम-पट पर है (रा० सं० ल०, जे-२५०; चित्र-१४), और दूसरी एक वेदिका-स्तंभ के मध्यभाग में कमलदृत के भीतर है (रा० सं० ल०, जे-२८३; चित्र ४ क) ।

उपलब्ध साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि मधुरा के जैन स्तूपों के ढोलाकार शिखरों का, सांची के स्तूप १, २ और ३ की भौति अलकरण नहीं किया गया, क्योंकि जैन संप्रदाय के लोग इसे पवित्रता का प्रतीक बनाये रखने के लिए प्रत्यक्षतः आडंबरहीन तथा सादा स्तूप को पसंद करते रहे । इसके अतिरिक्त सांची के स्तूपों के सदृश, अलकरण की लालसा की अभिव्यक्ति यहाँ वेदिकाओं और तोरणों पर हुई जो स्तूप के अंग तो हैं, किन्तु उसके अनिवार्य तत्त्व नहीं । कंकाली-टीले से प्राप्त वेदिकाओं और तोरणों के खण्डित भागों में से अनेक कुषाण-पूर्व एवं कुषाणयुग के कलाकारों की प्रशंसनीय उपलब्धि का सार्थक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

सब से प्राचीन वेदिका ईसा-पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दी की हो सकती है । उसके खण्डित भागों को देखने से पता चलता है कि वेदिका में स्तंभों की एक शृंखला होती थी । सभी स्तंभ तीन सूचियों से परस्पर जुड़े होते थे और उनके ऊपर एक दूसरे छोर तक एक लम्बायमान उष्णीष बना होता था । उष्णीष को बिठाने के लिए स्तंभों के दोनों ओर मधुराकार कोटरों और शीर्ष पर चूल की व्यवस्था स्पष्टतः पुरातन काष्ठकला-शैली द्वारा प्रेरित है, जो तोरणों के अवशेषों में देखी जा सकती है ।

स्तंभ (रा० सं० ल०, जे-२८३, जे-२८८ और जे-२८९; चित्र ४) अंशतः वगविकार और अंशतः अष्टभुजाकार हैं । अष्टभुजाकार स्तंभ आच्छादित नहीं है । उसके दो ओर तो सूचियों की मधुराकार चूलों को बिठाने के लिए तीन-तीन छिद्र बने हुए हैं, जब कि सामने तथा पीछे की ओर सामान्यतः तीन-तीन कला-पिण्ड और दो-दो अर्धवृत्ताकार कला-पिण्ड (एक अधोभाग में और दूसरा शीर्ष पर) उत्कीर्ण किये गये हैं । पूर्ण और अर्धवृत्ताकार कला-पिण्डों में कम उभारवाले शिल्पांकित कला-प्रतीकों का भण्डार वस्तुतः सीमित है । चिम्बल रूपों में सर्वाधिक प्रचलित कला-प्रतीक कमल का है । अन्य कला-प्रतीकों में, जिनमें पुष्प-मुच्छ, मधुमालती लता, स्तूप (चित्र ४ क), मकर तथा पशुओं के चित्रण (चित्र ४ ख) समिलित हैं, मिथित तथा काल्पनिक पशुओं के प्रतीक विशेष रूप से रोचक हैं (चित्र ४ ख) । प्रवेशद्वार पर स्तंभों की रचना कुछ भिन्न प्रकार की है । ये विशिष्ट आयताकार तथा पूर्णरूपेण शिल्पांकित हैं । स्तंभ क्रमांक रा० सं० ल०, जे-३५६ एक ऐसा ही स्तंभ है जो कंकाली - टीले में पाया गया है । इसके तीन ओर लता-मुहमों के अल्पत्त कलात्मक अंकन हैं (चित्र ५) तथा चौथे अनुत्कीर्ण भाग में सूचियों के लिए तीन मधुराकार कोटर बने हुए हैं । इस स्तंभ विशेष के एक और (चित्र ५ ग) दो मधुराकार कोटर हैं, जो स्पष्टतः परबर्ती तिमिति हैं और जिनके कारण मूल शिल्पांकनों को क्षति पहुंची है । यह भी संभव है कि तोरण की रचना के समय ही ये कोटर भी वेदिका के परबर्ती विस्तार के लिए बना दिये गये हों जैसा कि सांची में है ।

कंकाली-टीले में वेदिकाओं की दो भिन्न आकारों की बहुत-सी मसूराकार सूचियाँ (चित्र ६) भी प्राप्त हुई हैं। इन सूचियों पर कला-पिण्डों का विविध कला-प्रतीकों सहित अंकन है, जिनमें कमल-प्रतीक का व्ययोग सर्वाधिक है। कला-पिण्डों पर अन्य प्रतीक भी हैं; यथा, वृक्ष-चैत्य (रा० सं० ल०, जे-४२२; चित्र ६ ख), एक पादपीठ पर कटोरा (?)<sup>1</sup>, पंखधारी चंख जिसके मुख से मुद्राएँ निस्पंदित हो रही हैं, लता-पल्लव, मधुमालती लता, श्रीबत्स, हंस तथा पशु (रा० सं० ल०, जे-४०३; चित्र ६ ग), इनमें से बहुत से पशु वस्तुतः काल्पनिक जन्म हैं (रा० सं० ल०, जे-५६५; चित्र ६ घ), यथा, भनुष्य के सिरवाला सिंह, मत्स्य-पुच्छवाला पंखधारी सिंह, मत्स्य-पुच्छवाला हाथी (रा० सं० ल०, जे-४२७; चित्र ६ क), मत्स्य-पुच्छवाला मकर, मत्स्य-पुच्छवाला भेड़िया, मत्स्य-पुच्छ तथा गृद्ध के सिर और पंखवाला सिंह, पंखधारी बकरी और हिरण ।

अनेक भारी-भारी उष्णीष-प्रस्तर प्राप्त हुए थे जिनमें से कुछ ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के माने जा सकते हैं। इनके ऊपर के कोने गोल किये हुए हैं और इनके दो प्रभाग हैं। ऊपरी प्रभाग पर, जो अपेक्षाकृत मोटा है और निचले के ऊपर प्रक्षिप्त है, सामान्यतः एक रज्जु उत्कीर्ण है जिसमें कमरा-लटकती हुई वर्णियों और कली रूपी भूमिकों का अंकन है। निचले प्रभाग पर सामान्यतः अंकित कला-प्रतीक एक लहिंगत शैली की लहरदार पट्टी या पुष्पकृत विसर्पी लता है (चित्र ७ क और ख)। अन्य कला-प्रतीकों में अलंकृत मधुमालती लता तथा पशुओं के अंकन सामिलित हैं (चित्र ७ ग)। अनेक स्थानों पर पशुओं का शिल्पांकन अत्यन्त प्रवीणतापूर्वक किया गया है।

कंकाली-टीले से कुषाणयुद्ध की किसी वेदिका के कुछ महत्वपूर्ण स्तंभ प्राप्त हुए हैं। यद्यपि ये स्तंभ पूर्वोक्त स्तंभों से अपेक्षाकृत लघु आकार के हैं, किन्तु विषय-वस्तु की उत्तमता तथा मूर्ति-कला संबंधी रुणों की कलात्मक उत्कृष्टता के कारण अधिक चित्ताकर्षक हैं। इनके दो ओर तीन मसूराकार कोटर (अधिकतर सिरों पर मुड़े हुए) तथा ऊपरी भाग पर एक छूल निर्मित है। पृष्ठ-भाग में दो पूर्ण तथा दो अर्धकमलयुक्त कला-पिण्ड हैं, प्रत्येक अर्धोभाग तथा शीर्षभाग में (चित्र ८ घ)। कला-पिण्डों के किनारों पर नीककमल अंकित हैं। कला-पिण्डों के बध्यवर्ती रिक्त स्थान तीन चरणों में हैं। तथापि, इन स्तंभों को विचिह्निता प्रदान करनेवाली बात यह है कि इनके पुरो-भाग के मुख्य शिल्पांकनों में जीवंत मात्र-मूर्तियाँ अंकित हैं। इन सुगठित मूर्तियों का प्रतिरूपण पवित्र परिपक्व है और उससे विभिन्न मुद्राओं में मानव-मूर्तियों के शिल्पांकन में शिल्पकार की दक्षता परिलक्षित होती है। तुस्मित कपोलोवाली ये नारियाँ स्वच्छुंद्र और उल्लसित मुद्रा में दर्शायी गयी हैं। तथा अपने प्रिय आमोद-प्रमोद तथा कीड़ा में रहत हैं। यह कुछ विलक्षण-सी बात है कि अपनी कठोर आचार-सहितों के होते हुए भी जैन समुदाय ने कलाकार को मुक्त वातावरण में उसके उत्साह और विनोदी अभिव्यक्ति के लिए आसक्ति एवं आवेश से युक्त सुंदर और यहाँ तक कि

1. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के मतानुसार (व्यक्तिगत-वन व्यवहार), यह वा तो एक शराव-संपुट या प्रतिष्ठान (ठौन) है, जो जैन मार्यादिक प्रतीकों में से एक है।

विलासप्रिय तथा कामोत्तेजक नारी-आकृतियों का शिल्पांकन करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर दी। इस प्रकार अंकित है एक स्तंभ पर (रा० सं० ल०, जे-२७७) एक नारी-मूर्ति जो अशोक वृक्ष के नीचे दीन मुद्रा में झुके हुए एक बौने पुरुष की पीठ पर अपनी देह में आकर्षक आकुंचनदृश्य हुए खड़ी हुई है और एक पुष्पमाल से अपना केशविन्यास कर रही है (चित्र ८ क)। एक दूसरे स्तंभ में, जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय में है, दो सिंहोंवाले एक पादपीठ के ऊपर एक नारी-आकृति प्रायः नृत्य-मुद्रा में खड़ी हुई है, उसके बाम हस्त में एक खड़ग है और दक्षिण हस्त से वह अपने सिर के ऊपर एक कदम्ब-पुष्पगुच्छ का स्पर्श कर रही है (चित्र ८ ख)। तीसरे स्तंभ पर (यह भी अब संग्रहालय में है) एक नारी, जो तीन-चौथाई पार्श्वदृश्य में चित्रित है, अपनी कटि को झुकाये हुए ऊपर की चट्ठानों से भरते हुए जलप्रपात के नीचे स्नान कर रही है (चित्र ८ ग)।

सोपान की वेदिकाओं पर उत्कीर्ण शिल्पांकन भी कलात्मक दृष्टि से इतने ही उत्कृष्ट हैं। एक स्तंभ पर (चित्र ८ क), जिसका शीर्ष तिरछा है और जिसपर एक चूल है (पु० सं० म०, १४. ३६६) तथा जो कुषाणयुगीन माना गया था, अशोक-वृक्ष के नीचे एक नारी का अंकन है जो ऊपर उठे हुए अपने बाम हस्त पर एक थाली रखे हुए है जिसमें कुछ वस्तुएँ रखी हैं और जिसपर शंकु के आकार का ढंगकन लगा हुआ है। नारी अपने दक्षिण हस्त में एक मूँठवाला पात्र पकड़े हुए है जिसका तल ऊँचा है। इसके पृष्ठभाग में पूर्ण और अर्ध-कमलदृश्यकृत कला-पिण्ड उत्कीर्ण हैं जिनके मध्य स्थान में तीन स्तर हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त दो आयाग-पटों (पु० सं० म०, क्यू-२ तथा रा० सं० ल०, जे-२५५) पर उत्कीर्ण शिल्पांकनों में कनिष्ठ-पूर्व युग के प्रवेशद्वारों का यथार्थ अंकन किया गया है, स्तूपों के तोरणों के अनेक खण्डित भाग प्राप्त हुए थे। प्राचीन तोरण-सरदलों में से एक सरदल रा० सं० ल०, जे-५३५ है, जो संभवतया ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी का है। यह निचले सरदल का मध्य भाग था जो किञ्चित् वक्राकार है। इसके पुरोभाग में एक स्तूप उत्कीर्ण है जिसकी दो सुपर्ण (अर्ध-मानव तथा अर्ध-पक्षी) एवं पाँच किन्तर पूजा कर रहे हैं और अपने हाथों में दिविघ प्रकार से एक पुष्पमाल, पुष्पमालाओं युक्त पुष्पपात्र, नीलकमलगुच्छ और एक कमल ग्रहण किये हुए हैं (चित्र २ क)। पंखधारी आकृतियों तो असीरियाई तथा फारसी मूर्तिकलाओं में पायी जानेवाली ऐसी ही आकृतियों का स्मरण करती हैं, किन्तु किन्तर अनुभानतः यूनानी आदिलूपों से प्रेरित होकर बनाये गये हैं। पृष्ठभाग में (चित्र २ ख) भक्तों की एक सोत्साह धर्मयात्रा का चित्रण है। भक्तों में से दो हाथी पर और तीन अश्वों पर आरूढ़ हैं, दो पदयात्री हैं तथा अनेकों एक बैलयाड़ी में हैं और संभवतया वे इस स्तूप के दर्शनों के लिए ही आ रहे हैं। पश्च, जो अपनी जीवनी-शक्ति के लिए विस्त्रयात है, अत्यन्त सजीव प्रतीत होते हैं; विशेषकर, स्फूर्तिवान अश्वों का सजीव अंकन कलाकार की उत्कृष्ट दक्षता की ओर संकेत करता है। भीतर के भव्यभाग में एक कमल-गुच्छ उत्कीर्ण है।

रा० सं० ल०, जे-५४४ (चित्र ८ क, ख) एक अन्य तोरण-सरदल है। यह सरदल अनुप्रस्थ है तथा पूर्वोक्त सरदलों से कुछ परवर्ती प्रतीत होता है। इसके केन्द्रीय भाग में सम्मोहक सौदर्य तथा

माधुर्य संपन्न एक विसर्पी लता अलंकृत रूप से उत्कीर्ण है; इसका लहरदार तना उत्कृष्ट रूप से उत्कीर्ण कमलों, कलियों और पत्तियों को आच्छादित किये हुए है। विसर्पी लता के पार्श्व में दोनों ओर (तोरण-स्तंभों की उच्चाधिर सीध में) एक-एक वर्गाकार फलक बना हुआ है जिसमें एक वामन व्यक्ति इस प्रकार बैठा है जैसे वह ऊपरी ढाँचे को थामे रखने का प्रयास कर रहा हो। एक विलक्षण बात यह है कि वामन की टाँगें सर्प के समान हैं और उनके अंत में एक टेही-मेही पूँछ है। इस प्रकार की आकृतियाँ जो अनेक उत्कीर्ण शिलापट्टों पर भी पायी जाती हैं और जिनमें कनिष्ठ-पूर्व युग के आधार्य-पट भी सम्मिलित हैं, कदाचित् यूनानी संस्कृति के किसी कला-प्रतीक का रूपांतर हैं। इन वर्गाकार फलकों के पश्चात् दो प्रक्षिप्त सिरे हैं (वाम सिरा लापता है), जिनपर मत्स्य-युच्छ-वाला एक मकर उत्कीर्ण है जिसके मुख में एक मत्स्य है। अतिम छोर अद्वैताकार है। इस प्रकार के एक अन्य खण्डित सरदल (रा० सं० ल०, जे-५४७) में दाहिनी ओर के सिरे पर एक गरुड़ उत्कीर्ण है जो अपनी चोंच में एक तीन फणवाले ऐसे सर्प को पकड़े हुए है जिसने स्वयं को गरुड़ की ग्रीवा के चारों ओर लपेट लिया है (चित्र ६ ख; ख)। इससे आगे एक अंशतः सुरक्षित फलक है जिसमें एक बैलगाड़ी और बिना जुते हुए बैल अंकित हैं।

कंकाली-टीले में तोरणों में प्रयुक्त दो भिन्न प्रकार के टोड़े मिले हैं। एक प्रकार के टोड़ों में शालभजिकाओं का अंकन है। तोरण-शालभजिकाओं के कई ऐसे नमूने हैं जो तोरण-स्तंभों से निकलकर तोरण के निचले सरदल के दो सिरों को सहारा दिये रहते थे। इनमें से दो (रा० सं० ल० जे-५४५ क और ख; चित्र १० क और ख), जो एक ही तोरण के हैं, सुरक्षित हैं। दोनों टोड़ों के आघार में एक चूल है जो स्तंभ के कोटर में बैठा दी जाती थी। टोड़ों के घेरे में बनी दोनों नारी-मूर्तियाँ पुरोभाग की ओर पूर्णतः तथा पृष्ठभाग की ओर अंशतः सञ्जित हैं। यद्यपि इनमें कतिपय विशेषताएँ (उदाहरणार्थ—केशविन्यास, आभूषण, चरणों के नीचे की मूर्तियाँ) भर्तुल की वेदिका-मूर्तियों के समान हैं, परन्तु ये अपने अधिक उत्तम प्रतिरूपण के कारण उनकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं और सांची की तोरण-शालभजिकाओं की कुछ पूर्ववर्ती प्रतीत होती हैं। एक पुष्पित वृक्ष (संभवतया अशोक) के तने के सहारे भुकी हुई ये दोनों नारियाँ उस वृक्ष की शालाओं को पकड़े हुए हैं। दाहिने टोड़े पर उत्कीर्ण नारी एक भुके हुए मानव की मूर्ति पर लड़ी है (चित्र १० क), जब कि बायें टोड़े पर अंकित नारी एक हाथी के सिर पर लड़ी है (चित्र १० ख)। इस प्रकार के अन्य सभी टोड़े खण्डित हैं। उनमें से दो टोड़ों में नारी-मूर्ति मत्स्य-युच्छवाले एक मकर पर लड़ी हुई है। एक अन्य प्रकार के टोड़े में सिंह का निरूपण है, जैसा कि एक आधार्य-पट में शिल्पांकित है (पु० सं० म०, वयू-२; चित्र १)। इस प्रकार के टोड़े की पूर्ण प्रतिकृति (चित्र ११ क) रा० सं० ल०, जे-५४४ है।

तोरण-स्तंभों में कुषाणयुगीन स्तंभों के शिल्पांकन विशेष रूप से उत्कृष्ट हैं। इनमें से एक (चित्र ११ ख) अभिलेखांकित है जिसमें श्राविका बलहृसितनी द्वारा एक तोरण के समर्पण का उल्लेख

१ स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र ३६ तथा ग.

## आयाग-पट

इस तोरण-शीर्ष से ज्ञात होता है कि आयाग-पटों का उपयोग किस ढंग से किया जाता था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इसमें स्तूप के निकट चार आवताकार ठोस पीठिकाएँ हैं। इनमें से प्रत्येक पीठिका के ऊपर एक उत्कीर्ण शिलापट्टौ स्थापित किया हुआ दिखाई देता है। इन शिलापट्टौं पर उत्कीर्ण आकृतियाँ, निस्सदैह, शिलापट्टौं के लघु आकार के कारण लघु रूप में ही अंकित की गयी हैं, फिर भी रूपांकनों की सामान्य व्यवस्था और विस्तार इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ये शिलापट्टौ निस्सदैह आयाग-पट हैं। स्तूप की निकटतम पीठिका के ऊपर स्थापित शिलापट्टौ के मध्यभाग में एक कला-पिण्ड है जो चार चिरत्नों (अथवा नन्दिपदों) के आधार-बृत्त का काम दे रहा है, इन प्रतीकों के ऊपरी अवयव<sup>1</sup> इस केन्द्रीय बृत्त के चारों ओर निर्मित हैं। चिरत्नों (या नन्दिपदों) का ऐसा विस्तार आयाग-पटों के अनेक रूपों में पाया जाता है (उदाहरणार्थ, रा० सं० ल०, जे-२४६, जे-२५० और जे-२५३ तथा पु० सं० म० ४८, ३४२४)। इस तोरण-शीर्ष पर चार आयाग-पटों के चित्रण से प्रतीत होता है कि पीठिकाएँ, जिनके ऊपर आयाग-पट स्थापित किये जाते थे, मुख्य स्तूप के निकट, संभवतया उसकी चार आवारभूत भुजाओं के सम्मुख, स्थापित की की जाती थीं। तथापि, यह उल्लेखनीय है कि प्रथम शताब्दी ईसवी के पूर्वादि के आयाग-पटों की संख्या चार से अधिक है। इसके अतिरिक्त वासु (पृष्ठ ५४) और नन्दिधीष द्वारा स्थापित प्रस्तर-पट्टौं पर दिये गये समर्पणात्मक अभिलेखों से<sup>2</sup> प्रतीत होता है कि ये आयाग-पट अर्हतायन और भण्डीर<sup>3</sup> वृक्ष या कुंज में भी अधिष्ठापित किये जाते थे। भण्डीर शब्द न्यग्रोष्ठ (वट) वृक्ष, जो ऋषभनाथ का कैवल्य-वृक्ष था और शिरोष वृक्ष जो सुपार्श्वनाथ का कैवल्य-वृक्ष था दोनों की ओर संकेत करता है। एहला वृक्ष मधुरा का भण्डीर-वट प्राचीनकाल में पवित्र माना जाता था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है (पृष्ठ ५३), महावीर मधुरा में अपने प्रवास के मध्य संभवतः भण्डीर-उद्यान में ठहरे थे जो सुदर्शन यक्ष का निवास-स्थान था। स्पष्टतः भण्डीर-वृक्ष या उद्यान महावीर के साथ संबद्ध होने के कारण जैनों के लिए परम पावन था।

1 चौकियान्नाड़ा, मधुरा के एक प्रतिरूप पर (पु० सं० म०, 48.3426), ये अवयव मकरों के एक जीड़े के बने हुए हैं जिन्होंने अपनी सूंडे से एक कमल घासकर ऊपर की ओर उठाया हुआ है।

2 ल्यूडस, पूर्वोक्त, क्रमांक 95.

3 बूलर ने इस शब्द को 'मंदिरे' के रूप में पढ़ा और यह कहा कि इसे 'मंदिरे अर्थात् मंदिर में' पढ़ने की प्रवृत्ति होती है। परंतु पहला व्यंजन सावा दिखाई देता है। एचियरफिल्ड इण्डिका, 1; 1892; 397, टिप्पणी अ० 35. जैसांकि ल्यूडस ने तर्केत किया है (इण्डियन एजिटेवरी, 33; 1904; 151), सही वाचन भंडिरे है। इस संबंध में ल्यूडस ने यह कहा था कि 'व्या इसका अर्थ' 'भण्डीर वृक्ष पर' है, या संभवतया यह संस्कृत शब्द 'भण्डारे अर्थात् भण्डार में / पर' है, मैं इस समय निश्चय करने का साहस नहीं कर पा रहा हूँ।' विकासतृप्त (पृष्ठ 53) में महावीर की मधुरा-गाँव का विवरण पढ़ने पर व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि भण्डीर शब्द जो नन्दिधीष के उस शिलालेख में प्रदुक्त हुआ है जिसमें आयाग-पटों के समर्पण का उल्लेख है, भण्डीर उद्यान या भण्डीर-वृक्ष के लिए है।

उपलब्ध आयाग-पटों में से अधिकतर, जिनका स्वयं अपना एक वर्ग बन गया है कनिष्ठ-पूर्व पुग के माने गये हैं जिन्हुंनु कुछ आयाग-पट निस्सदैह कुण्डाण्डयुग के हैं। इनमें से अधिकांश उत्कृष्ट शिल्पांकनयुक्त हैं। उपास्य निमित्तियों को विलक्षण शिल्प-सौंदर्य (चित्र १४) से अलंकृत करने के लिए, तथा विदेशी कलावोध से प्रेरित, अनेकों कला-प्रतीकों की संरचनां में कलाकार का कीशल स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन आयाग-पटों का धार्मिक स्वरूप केवल उपलब्ध शिलालेखों से ही स्पष्ट नहीं होता (जिनमें कि अर्हतों की पूजा के लिए आयाग-पटों की स्थापना का उल्लेख किया गया है), अपितु, स्तूपों (चित्र १ तथा २ ख), तीर्थकर-भूतियों (चित्र १४ और १५), चैत्य-वृक्ष, धर्मचक्र (चित्र १६) तथा अष्ट-भंगल<sup>१</sup> सहित जैन मांगलिक प्रतीकों के शिल्पांकनों से भी स्पष्ट हो जाता है।

जैसा कि शाह ने कहा है,<sup>२</sup> इन आयाग-पटों का पूर्व-रूप पुढ़वी-शिलापट्ट (पृथ्वी-शिला-पट्ट) रहा होगा, जो ग्रामीण लोक-देवताओं, यक्षों और नागों के लिए पवित्र वृक्ष-चैत्यों के नीचे किसी लघु पीठिका के ऊपर रखा गया होगा। आद्य शिल्पांकनों में भक्तगण वृक्षों के नीचे इस प्रकार की वेदियों की पूजा करते हुए मिलते हैं। इस प्रकार की वेदियाँ अत्यंत पवित्र मानी जाती थीं, क्योंकि वे अदृश्य देवताओं का पावन आसन होती थीं एवं उनकी शारीरिक रूप में उपस्थिति का प्रतीक समझी जाती थीं। अदृश्य देवताओं की पूजा स्थानीय लोग किया करते थे, जो इन वेदियों पर अनेक प्रकार के चढ़ावे और भेट, जिनमें पुष्प-पत्रादि भी सम्मिलित होते थे, अपित किया करते थे। लोक-देवताओं की पूजा अत्यंत प्राचीनकाल से प्रचलित है और अब भी भारत के अनेक भागों में ग्राम-देवताओं की उपासना के रूप में जीवित है।

आयाग-पटों पर तीर्थकरों तथा स्तूपों का निरूपण इस बात को सिद्ध करता है कि वेदियों या पीठों पर स्थापित ये शिलापट्ट केवल अर्धपट्टों या बलि-पट्टों के रूप में ही काम नहीं देते थे, जहाँ तीर्थकरों तथा स्तूपों की पूजा करने के लिए पत्र-पुष्पादि तथा चढ़ावे और भेट की अन्य वस्तुएं अपित की जाती थीं, जैसा कि विशुद्ध आलंकारिक शिलापट्टों के साथ होता था, वरन् ये निरूपण इस बात की ओर भी संकेत करते हैं कि ये आयाग-पट<sup>३</sup> भी, देव-निमित स्तूप में स्थापित अर्हत की मूर्ति की ही भाँति, पूज्य थे। विचाराधीन तोरण-शीर्षों पर अंकित स्तूप के सम्मुख दो आयाग-पटों पर पुष्प-वर्षा का छिस ढंग से चित्रण किया गया है उससे इस धारणा की पुष्टि होती है।

१ शाह, पूर्वोक्त, पृ 109-12. / अववाल (श्री एस). अष्टभंगलक नाला, जर्बल झाँक दि इष्टियन सोसाइटी झाँक औरिएश्यल आर्ट, न्यू सीरिज. २; 1967-68; 1-3.

२ शाह, पूर्वोक्त, पृ 69.

३ इस संबंध में बूलर के ये गम्भीर ज्ञान देने योग्य हैं: आयाग शब्द रामायण १, 32, 12 (बस्तर्वै संस्करण) में प्रयुक्त किया गया है, और दीक्षाकार ने इसकी व्याख्या याजनीय देवता, एक देवता जिसकी पूजा की जानी चाहिए, अर्थात् अद्वा एवं सम्मान की एक वस्तु के रूप में की है। एपिग्राफिया इष्टिका. १; 396, टिप्पणी फॉ 28.

जिस प्रकार बौद्धों की दान-प्रवृत्ति ने सामान्यतः स्तूपों का रूप अद्वितीय किया, मधुरा की तत्कालीन जैनों की दान-प्रवृत्ति आयाग-पटों के रूप में स्थापित हुई। पृथ्य प्राप्त करने के उद्देश्य से धर्मनिष्ठ समर्पणों के रूप में वेदियों पर इन शिलापटों का प्रतिष्ठापन करने की प्रथा संभवतः उस समय अप्रचलित हो गयी जब स्तूपों के चारों पार्श्वों में, मंदिरों तथा पवित्र स्थानों में लघु पीठिकाओं या पादपीठों पर तीर्थकरों की प्रतिष्ठापना करने की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित हो गयी।

### तीर्थकर मूर्तियाँ तथा अन्य प्रतिमाएँ

मधुरा ने, जो कला का एक बहुसंज्ञक केन्द्र रहा है, जैन प्रतिमा-विज्ञान के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। तीर्थकरों के जीवन से संबंधित घटनाओं के बहुत कम शिल्पांकन हुए हैं, जैसे कि नीलांजना का नृत्य,<sup>1</sup> जिसे देखकर ऋषभदेव को संसार से वैराग्य हुआ; और जैसा कि कल्प-सूत्र में बताया गया है, हरिनैगमेषी का चित्रण, जिसने महावीर के भ्रूण को ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से निकालकर क्षत्रियाणी क्रिशला के गर्भ में स्थापित कर दिया था।<sup>2</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि मधुरा के कलाकारों एवं उनके ग्राहकों को अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा तीर्थकर-मूर्तियों ने अधिक आकर्षित किया, परिणामस्वरूप प्रथम शताब्दी ईसवी से लेकर गुप्त-काल तक मधुरा की शिल्पशाला में भारी संख्या में मूर्तियों का निर्माण हुआ।

आज तीर्थकर-मूर्तियाँ आयाग-पटों पर उत्कीर्ण हैं, जिन्हें बूलर ने कनिष्ठ-पूर्व युग का ठहराया है। इन मूर्तियों में शीर्ष पर छत्र सहित दिगंबर तीर्थकर को पद्मासन मुद्रा में अंकित किया गया है। लाङ्गूल (परिचय-चिह्न) अंकित नहीं किये गये हैं; परिणामतः शीर्ष पर सप्त-फण-नाम-छत्र के द्वारा केवल पार्श्वसाथ को ही पहचाना जा सकता है।

कुषाण युग की मूर्तियाँ भारी संख्या में उपलब्ध हैं, जिनमें बहुत-सी अभिलेखांकित हैं और अनेक पर कुषाण-शासकों की तिथियाँ अंकित हैं, जो कनिष्ठ<sup>3</sup> शासनकाल के वर्ष ५ से लेकर वासुदेव शासनकाल के वर्ष १८ तक की हैं। परवर्ती काल के अलंकरण आदि से रहित, इस युग की तीर्थकर-मूर्तियों की रचना प्रायः समान है, क्योंकि भेद प्रदर्शित करनेवाले लाङ्गूलों का प्रयोग भी तबसक विकसित नहीं हुआ था। परिणामस्वरूप समर्पणात्मक शिलालेखों में तीर्थकरों के नामों के अभाव में,

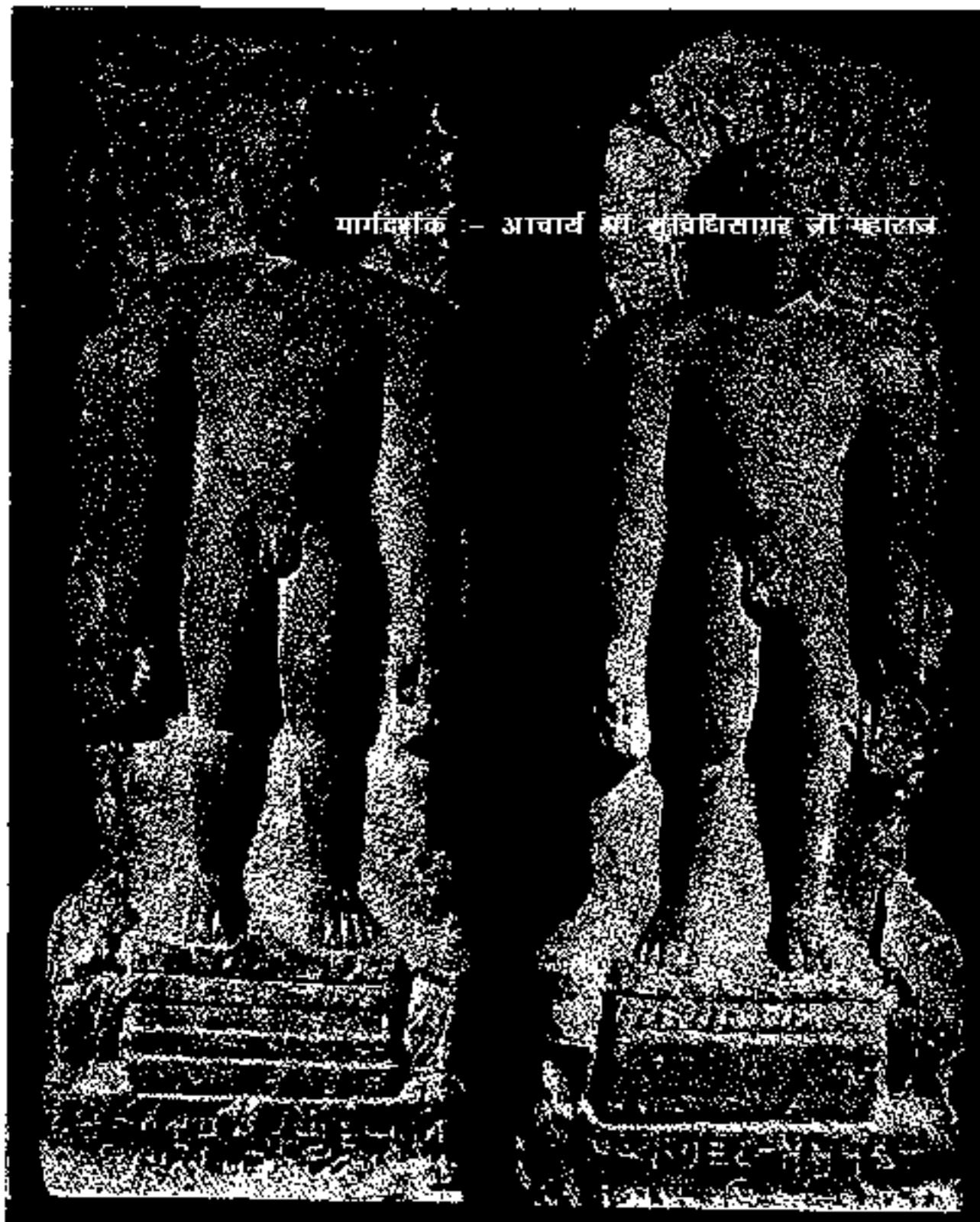
1. याह, पूर्वोक्त, पृ. 11. / बुलेडिन और अम्ब्रिकम्ब एण्ड आर्क्टोसोलोनी इन पृ. 9; 1972, जूल; 47-48.

2. तथापि, डॉ० ज्योति प्रसाद जैन का मत (अक्तिमत एवं अपवाहन में) यह है कि वे शिल्पांकन कंस के कारणमार में रह रही देवकी के नवजात शिशुओं के भद्रिलपुर के एक आधारी सुदृष्ट की पत्नी अलकाक के संरक्षण में स्थानांतरण की ओर सकेत करते हैं।

3. एक मूर्ति पर वर्ष 4 अंकित है (ल्यूडस, पूर्वोक्त, क्रमांक 16) जो अनुभानतः कुषाण-शासकों द्वारा प्रयुक्त सबल का वर्ष है।



मथुरा — त्रीर्थकर मूर्ति



पार्श्वांकि :- आचार्य श्री चतुषिंशाश्राव जी महालोचन

मथुरा — सर्वतोभिका प्रतिमा, दो ओर का दृश्य



मथुरा — आर्द्धक्षती वृक्षी

वास्तु-स्मारक एवं सूतिकला 300 ई० पू० से 300 ई०



मदुरा — सरस्वती

पाश्वनाथ को छोड़कर जिनके शीर्ष पर सर्प के फणोंदाला एक छत्र अंकित रहता है, और ऋषभनाथ को छोड़कर, जिनकी केशसशि उनके स्कंधों पर लहराती है, विभिन्न तीर्थकरों की पृथक्-पृथक् पहचान करना संभव नहीं है। इन मूर्तियों के, जो सामान्यतः वस्त्रहीन हैं, बक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। भामण्डल दृत्ताकार है, जिसका किनारा कुछ मूर्तियों में शीप की कोर के समान उत्कीर्ण है। ये मूर्तियाँ व्यान-मुद्रा (चित्र १७) पद्मासन में अथवा कायोत्सर्व मुद्रा में निर्मित हैं। अनेक मूर्तियों में मुण्डित शीर्ष दिखाये गये हैं, जब कि अन्य अनेक मूर्तियों में केश हैं, जो छोटे और कुण्डलित रूप में धुंधराले हैं अथवा शीर्ष के चारों ओर नवचंद्राकार धुंधरों के रूप में उत्कीर्ण हैं। ऋषभनाथ की मूर्तियों में उलझी हुई लट्टे पीछे की ओर बिल्ली हुई हैं। सामान्यतः उष्णीष नहीं है। पादपीठ के अग्रभाग पर कहीं-कहीं वर्म-चक्र उत्कीर्ण है। परिचय-चिह्नों के अभाव में और चौबीस तीर्थकरों की मूर्तियों के एक साथ पंकितबद्ध रखे जाने के कारण, यह ज्ञात नहीं विद्या जा सकता कि इस युग में चौबीस तीर्थकरों की कल्पना कर ली गयी थी और उसे मूर्ति रूप प्रदान कर दिया गया था अथवा नहीं, यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि कम से कम सात तीर्थकरों का आविभवि हो चुका था। अनेकों चौमुख मूर्तियों की प्राप्ति से सिद्ध होता है कि तीर्थकरों में चार मधुरा के जैन समुदाय द्वारा विशेष रूप से परम पावन तथा पूज्य भाव स्थिते गये थे। ऐसी मूर्तियों को समर्पणात्मक शिलालेखों में 'प्रतिमा सर्वतोभद्रिका' कहा गया है (पर्वती कालों में यह 'चौमुख-प्रतिमा' के नाम से विल्यात थी), जिनमें एक प्रतिमा वर्ष ५ की है, जो कि अनुमानतः कनिष्ठकशासन का वर्ष है।<sup>१</sup> इस प्रकार की आकर्षक प्रतिमाओं में (चित्र १८) एक प्रस्तर-खण्ड के चारों ओर एक-एक तीर्थकर की मूर्ति बनी होती है। इस प्रकार की अधिकांश प्रतिमाओं में दो और बनी मूर्तियों को सरलतापूर्वक "हजारा जा भक्ता है" कि वे ऋषभनाथ और पाश्वनाथ की हैं, जो क्रमशः लटों और सर्पफणों से पृथक्-पृथक् पहचान लिये जाते हैं। शेष दो मूर्तियों में से एक निश्चय ही महावीर की है और दूसरी नेमिनाथ की हो सकती है क्योंकि कृष्ण और बलराम का ज्वेरा भाई होने के कारण नेमिनाथ का मधुरा में विशेष सम्मान किया जाता था। शीर्ष पर छत्र-युक्त ये सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ संभवतः मुख्य स्तूप की पावन परिसीमाओं के भीतर खुले स्थान में प्रतिष्ठित की जाती थीं। यहाँ एक शिलापट्ट का उल्लेख किया जा सकता है जिसपर स्तूपों का वर्णन करते समय विचार किया जा चुका है और जिसपर वर्ष ६६ का एक समर्पणात्मक शिलालेख अंकित है। इस स्तूप के दो पक्षों पर तीर्थकरों की चार पद्मासन मूर्तियाँ, प्रत्येक और दो-दो, शिल्पांकित हैं। एक और के ऊपरी भाग में एक मूर्ति पाश्वनाथ की है। संभव है कि यह फलक चार मूर्तियों की प्रतिष्ठापना का विचार अभिव्यक्त करता हो, जो या तो स्तूप की चार प्रमुख

1 उपलब्ध शिलालेखों में वर्धमान-महावीर, ऋषभनाथ, पाश्वनाथ, अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) और समस्वनाथ के नामों का उल्लेख है, ज्ञानिनाथ का नाम बूलर ने एक समर्पणात्मक शिलालेख में संदेहपूर्वक पढ़ा है। (एपिग्राफिया इंडिया, 1; 383.), जबकि जाजपेयी ने एक शिलालेख में, जो वर्ष 79 (एपिग्राफिया इंडिया, 2; 204) या 49 का है (स्थूडस, पूर्वोक्त, अमांक 47), नन्दावती के स्थान पर मुनिसुन्नत पढ़ा है।

2 जनसं आंक द यू पी हिस्टोरिकल सोसाइटी, 23; 1950; 36.

दिशाओं के सम्बन्ध या स्तूप के ही चारों ओर वने आलों के भीतर प्रतिष्ठापित की जाती थीं ।

कुषाण तथा कुषाणोत्तर-युग के एक महत्वपूर्ण वर्ष की मूर्तियों में एक तीर्थकर का चित्रण किया गया है, जिसे नेमिनाथ के रूप में पहचाना गया है और जिसके पार्श्व में बलराम तथा वासुदेव-कृष्ण की मूर्तियाँ निर्मित हैं। परबर्ती कुषाण युग की इस प्रकार की एक मूर्ति<sup>1</sup> में बलराम को सप्त-फण-छत्र और चार भुजाओं सहित दिखाया गया है। ऊपरी दाहिने हाथ में एक हल है और निचला बायाँ हाथ कमर पर रखा हुआ है। वासुदेव-कृष्ण के ऊपरी बायें हाथ में एक गदा है और ऊपरी दाहिने हाथ में एक चक्र है; शेष दो हाथों में जो वस्तुएँ हैं, वे टूट गयी हैं। मूर्तियों के लाल एक उश्मिष्म छत्र है तथा वेत्त्व की, जो नेमिनाथ का कैवल्य-वृक्ष था, वस्तियाँ चित्रित की हुई हैं।

अन्य मूर्तियों में दो विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। एक मूर्ति (रा० सं० ल०, जे-१) तीन परिचारिकाओं सहित अक्षी आर्यवती की शिल्पाकृति है, जो लाल बलुआ पत्थर के पूजा-पट्ट पर उत्कीर्ण है। परिचारिकाएँ हाथ में छत्र, चमर और माला लिये हुए हैं। उनके साथ हाथ जोड़े हुए एक बाल आकृति है (चित्र १६)<sup>2</sup>। इस पूजा-पट्ट पर, जो संभवतः आयाग-पट है, अमोहिनी का एक समर्पणात्मक शिलालेख है, जो महाक्षत्रप शोडास के वर्ष ७२ (१५ ई०) का है। आर्यवती अपनी बायों भुजा को कटि के निकट और दक्षिण भुजा को अभय-मूर्त्रा में रखे हुए समन्वय में खड़ी है; इस आर्यवती का महावीर की भाता श्रियला के साथ तादातम्य स्थापित किया गया है।

दूसरी मूर्ति, जो अब यद्यपि शीर्षविहीन है, अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह अबतक खोज निकाली गयी सरस्वती (चित्र २०)<sup>3</sup> की प्राचीनतम जैन मूर्ति है। वर्ष ५४ (१३२ ई०) की इस मूर्ति पर एक समर्पणात्मक शिलालेख है। एक आयताकार पादपीठ पर ऊपर की ओर घुटने मोड़कर बैठी हुई यह देवी, जिसे विशेष रूप से सरस्वती नाम दिया गया है, कटिस्थित अपने बायें हाथ में एक पुस्तक लियें हुए है। कंधे तक उठे हुए दाहिने हाथ की टूटी हुई हथेली में संभवतः एक माला ग्रहण की हुई थी। इतने पुरातन काल में विद्या की देवी सरस्वती की मूर्ति का प्रतिष्ठापित किया जाना अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे यह ज्ञात होता है कि जैन लोग केवल विद्या की प्राप्ति को

1. पू० सं० म०, 2502. / अर्बल आौक द फू पी हिस्टोरिकल सोसायटी, 23; 1950 ; 50 सदा परबर्ती।

2. एविद्याक्षिया इण्डिका, 2; 199. / सरकार (डी. सी.), सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, 1, 1965, कलकत्ता, पृ 120.

3. रा० सं० ल०, जे-24. / ल्यूडस, पूर्वोक्त, क्रमांक 54.

ही भारी महत्व नहीं देते थे अपितु उन्होंने अत्यंत प्राचीन काल में ही साहित्यिक गतिविधि भी आरंभ कर दी थी।<sup>1</sup>

प्रथम और द्वितीय इसी शास्त्रियों की तीर्थकर-मूर्तियों, वेदिका-स्तंभों तथा तोरण-शीषों पर अंकित मूर्तियों से पृथक् वर्ग और शैली की हैं। विशाल स्कंध तथा वक्ष एवं आदिम स्थूलता इनकी विशेषता है। उन्मीलित नवनोवाली इन मूर्तियों की मुद्रा कठोर है तथा ये अभिव्यक्ति एवं सालित्यविहीन हैं। यह स्थिति इस कारण नहीं हो सकती कि या तो उस युग के कलाकार में कला-कौशल की त्यूलता या उसमें यक्षों की आदिकालीन मृण्मूर्तियों की – जो आरंभ में बुढ़, बोधिसत्त्वों तथा तीर्थकरों की मूर्तियों के निर्माण के लिए प्रतिरूप का कार्य देती थी – विशेषताओं को बनाये रखने की रुदिकादी भावना विद्यमान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि कलाकार के लिए मानव-मूर्तियों की रचना का कार्य सामान्यतः सुगम था किन्तु वह साधुवर्ग के अनुशासन से बँधा हुआ था, जिसके अनुसार उसे तीर्थकरों की मूर्तियाँ इस रूप में गढ़नी थीं कि उनसे उनके कठोर जीवन एवं तपश्चर्या का महत्व भलकरा हो। फिर भी, कोई व्यक्ति यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि अपनी आत्मिक शक्ति, दृढ़ इच्छाशक्ति तथा धर्मानुशासन के लिए विद्याल शान्तमना तीर्थकरों के वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्त करने में कलाकार को सफलता नहीं मिली है। यह बात अंगों की रचना, विशेषकर मुखाकृति, से प्रकट होनेवाले भावों से स्पष्ट हो जाती है। अंगों की रचना अधिकांश मूर्तियों में अनुपातहीन और प्रायः स्थूल है। तथापि इस युग के अंत में मूर्तिकारों ने प्रयत्न प्रगति की। उनकी मूर्तियों में पूर्णतः तन्मय, शांत एवं चितनशील भावना की अभिव्यक्ति, आकर्षक संतुलन, एवं लावण्य जैसे गुणों का उदय होने लगा। गुप्त-काल की आध्यात्मिक रूप से द्वंदीयमान मूर्तियों में ये गुण चरमोत्कर्ष पर पहुंच गये थे।

देवला मिश्रा

1 जीन (ज्योति प्रसाद), जैन सोसैटी ऑफ इंडियान स्टडीज इन्डियर (इ॰ पू॰ 100-900 इ॰), 1964, दिल्ली, पृ. 100-19.

## अध्याय 7

### पूर्व भारत

#### बिहार

इतिहास के रामरस उद्देशों में बिहार जैन धर्म का प्राचीनतम गढ़ रहा है। इसके अनेक ग्राम और नगर भगवान् महावीर की चरण-रज से गौरवान्वित हुए थे। भारत के महाजनपदों में से तीन—वृजि, मगध और अंग—की राजधानियाँ तथा प्रमुख नगर उनसे विशेष रूप से संबंधित रहे हैं। वृजि राज्य-मण्डल में लिङ्छवियों और विदेहीं सहित आठ या नौ राजकुल सम्मिलित थे। लिङ्छवियों की राजधानी वैशाली महावीर का जन्मस्थान थी। वे उसके उपनगर कुण्डग्राम में जन्मे थे। उनकी माता लिङ्छवि-प्रधान चेटक की बहन (एक अन्य परंपरा के अनुसार पुत्री) थी। अपने अभ्यास के समय महावीर ने अनेक चातुर्मास वैशाली और उसके उपनगर बाणिज्य-ग्राम में बिताये थे। छह चातुर्मास उन्होंने विदेह की राजधानी मिथिला में भी व्यतीत किये थे। मगध की राजधानी राजगृह भी चातुर्मास के लिए महावीर का प्रिय स्थान थी। यहाँ और इसके समीपवर्ती नालंदा ग्राम में उन्होंने चौदह चातुर्मास व्यतीत किये। जैन परंपरा के अनुसार, श्रेणिक बिम्बसार, जिसका विवाह वैशाली के चेटक की कन्या चैलना से हुआ था, और उसका पुत्र कुणिक-अजातशत्रु महावीर के भक्त थे। अंग देश की राजधानी चम्पा भी, जिसे बिम्बसार ने मगध साम्राज्य में मिला लिया था, महावीर का प्रिय वासस्थान थी।

महावीर के निर्वाणोपरांत भी पूर्वी भारत में जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त होता रहा। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी और अमृपशायण जैन मतावलम्बी उदयभद्र ने मगध (जिसमें लिङ्छवि समंत प्रदेश को इस समय तक सम्मिलित कर लिया गया था) के सिंहासन पर आसीन होते ही नव-निर्मित राजधानी खटलिपुत्र में एक जिनालय का निर्माण कराया।<sup>1</sup> नव नरेशों की भी जैन धर्म की ओर अनुकूल प्रवृत्ति थी और उनके मंत्री जैन मतावलम्बी थे। जैन परंपराओं के अनुसार नव शासन का अंत करनेवाला अन्द्रगुप्त मौर्य भी अपने जीवन के अंतिम दिनों में जैन धर्म के प्रभाव में आ गया था और जब मगध में एक भव्यकर दुभिका पड़ा तब उसने मुनि भद्रवाहु और बहुत-से

1. मधुमदार (आर\_सी) तथा फुसालकर (ए\_डी), संसा. एस बॉक इस्टोरिकल यूनिटी, 1960. बम्बई. पृ 29.

आनुयायियों के साथ अपनी राजधानी पाटलिपुत्र को त्यागकर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया था। कहा जाता है कि यह दुर्भिक्ष बारह वर्षों तक रहा और इसकी समाप्ति के उपर्यात पाटलिपुत्र में आगम के संकलन हेतु पहली जैस परिषद् आयोजित की गयी।

यद्यपि खल्द्यगुप्त के पौत्र अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार बड़े उत्साह के साथ किया, तो भी, उसने निश्चल्यों (जैनों) की अवहेलना नहीं की जैसा कि उसके सप्तम संभालेख से विदित होता है। इसमें उसने कहा है कि उसके धर्ममहामात्र विना किसी भेदभाव के बौद्ध संघों, ब्राह्मणों, आजीविकों और निर्ग्रन्थों का कार्य समान भाव से करते थे। उसके उत्तराधिकारियों में सम्प्रति धर्मपरायण जैन शासक था। धर्म प्रचार के लिए उसने पर्याप्त प्रयत्न किये और जैन भवनों का निर्माण कराया।<sup>1</sup>

यद्यपि यह निश्चित है कि इस युग में जैन धर्म उत्कर्षशील था, तथापि यह एक समस्यामूलक बात ही है कि बिहार में केवल इस अवधि के ही नहीं अपितु इससे पूर्व की अवधि के भी जैन स्मारकों और पुरावशेषों का निरांत अभाव-सा है। यहाँ तक कि बैशाली (आधुनिक बसाढ़, जिला बैशाली) में भी, जो महावीर से इतनी अधिक संबद्ध रही है और जहाँ मुनिसुब्रतनाथ का एक स्तूप होने की सूचना मिलती है, प्रारंभिक काल का एक भी जैन स्मारक अवश्यक नहीं मिल सका है।<sup>2</sup>

राजगृह (आधुनिक राजगिर, जिला नालंदा) में जिस प्राचीनतम जैन स्मारक की पहचान की जा सकी है, वह है दो शैलोत्कीर्ण गुफाओं का एक समूह जिसमें से पश्चिमी गुफा को सोनभण्डार कहा जाता है। इस गुफा के आगभाग के शिलालेख (जिसमें अर्हतों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है) की पुरालिपि के आधार पर ये गुफाएँ सामान्यतः ईसा की तीसरी या चौथी शती की बतायी गयी हैं।<sup>3</sup> तथापि जैसा कि श्री सरस्वती<sup>4</sup> का भी मत है, ये गुफाएँ इस अवधि से भी पहले की

1. मजूमदार तथा पुस्तकार, पूर्वोक्त, पृ 89. / शाह (यू. पी.), स्टडीज इन जैन दार्द, 1955. बनारस, पृ 6.

2. शाह, पूर्वोक्त, पृ 9 और 62.

3. कुरेशी (एम एच) तथा बोण (ए), राजगिर, 1958. नई दिल्ली, पृ 25.

4. मजूमदार और पुस्तकार, पूर्वोक्त, पृ 503 पर सरस्वती के विचार।

[दृष्टव्य : अध्याय 11 और चित्र 51 क. पूर्वी गुफा के आद्य गुप्तकालीन शिल्पांकनों और पश्चिमी गुफा की बाह्य भित्ति पर उसी अवधि के इस आदाय के शिलालेख की — कि आधिर्यरत्न मुनि वैरदेव ने निर्विण प्राप्ति के लिए इन दोनों गुफाओं का निर्माण कराया था और उनमें अर्हतों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं — कालक्रम की दृष्टि से पूर्वक कर पाना कठिन है। यह बात समझ में आती है कि इस प्रदेश में जहाँ शैलोत्कीर्ण वास्तु-स्मारकों का लगभग अपाव है, शैल-स्थापत्य कला का विकास यदि निरांत अविद्यमान न भी रहा हो तो वह घीमा अवश्य रहा होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक और सोनभण्डार गुफाओं में और दूसरी और बराबर और नामार्जुनी की मौर्य गुफाओं में क्यों समानता है। जिसके आधार पर सरस्वती ने सोनभण्डार गुफा को प्राचीनतर बताया है। इन गुफाओं की प्राचीनता को सिद्ध करने के प्रमाणस्वरूप यह भी बताया गया है कि उक्त शिलालेख ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी का है; जैन (हीरालाल), भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, 1962. भोपाल, पृ 308-309. किन्तु पुरालिपिशास्त्र की दृष्टि से यह नानना संभव नहीं है — संपादक]

प्रतीत होती है। जैन मुनियों के रहने थोग्य ये गुफाएँ विशाल आयताकार कक्ष हैं। भित्तियों से बाहर निकली हुई तोरणाकार छत किसी अश्रकट शिलाफलक से प्रारम्भ होती है। पवित्रमी गुफा की एक प्रारंभिक विशिष्टता यह है कि इसके द्वार-स्तंभ ढलुवाँ हैं और ऊपर की अपेक्षा नीचे अधिक चौड़े हैं। यह प्रस्तर-शिल्प में काष्ठ-शिल्प का निरर्थक अनुकरण है। यह गुफा पूर्वी गुफा से बड़ी है। इसमें एक छोटा-सा चौकोर बातायन है, जिसके कोने भी सादे और ढलुवाँ हैं। भित्तियों पर बढ़िया पालिश के भी चिह्न मिलते हैं। इसमें बने कोटरों से पता चलता है कि इसमें पहले द्वार-पट बगे हुए थे।

पाटलिपुत्र (पटना) के उपनगर लोहानीपुर से प्राचीन जैन पुरावशेष मिले हैं। इस स्थान से प्राप्त हुए थे—प्रस्तर के दो नगन धड़, एक शीर्ष का निचला भाग, एक खण्डित हाथ या पैर और ईंट-निमित एक नीचाधार (२.६८ वर्ग मीटर) तथा नीचे में घिसी हुई एक छिद्रयुक्त रजतमुद्रा।<sup>1</sup> दुभग्निकश इस खोज के पश्चात् सुनिधोजित उत्खनन नहीं किया गया जिसके परिणामस्वरूप हम आज तक प्राचीनतम जैन अधिष्ठानों के पुरावशेषों के विषय में अंबकार में हैं। बल्उए पत्थर के बने खण्डित शीर्ष और दो में से एक धड़ (चित्र २१ क) में विशिष्ट मौर्ययुगीन पालिश है। स्पष्टतः वे मौर्य-कालीन हैं। शीर्ष, जो धड़ के अनुपात से बड़ा है, प्रत्यक्षतः किसी अन्य मूर्ति का है। नासिका के ऊपर का भाग विद्यमान नहीं है। उपलब्ध भाग की जाँच से प्रतीत होता है कि सुडौल ग्रीष्मयुक्त मुख गोल था। यद्यपि पालिशयुक्त धड़ की दोनों भुजाओं का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है, तथापि, ऐसा लगता है कि यह मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में थी और उसकी भुजाएँ जंधाओं तक लटकती थीं। इस अनुभान को न केवल बाहुओं के श्रवणिष्ट ऊपरी भाग और शरीर की रचना से समर्थन मिलता है अपितु, जंधाओं पर, जहाँ हृथेली या कलाई का स्पर्श होता है, वने चिह्नों के संकेतों से भी। निस्सदैह यह मूर्ति तीर्थंकर की है। धड़ की प्रतिकृति, जो गोल है, बहुत कुछ स्वाभाविक है। उसपर दक्ष कलाकार की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। मूर्तिकला संबंधी विशेषताओं की दृष्टि से यह प्रतिकृति लोहानीपुर से प्राप्त दूसरे धड़ (चित्र २१ ख) की अपेक्षा उत्कृष्टतर है। कायोत्सर्ग मुद्रावाले दूसरे धड़ की भुजाएँ छोटी होने से बेडौल लगती हैं। आदिम यक्ष मूर्तियों की परंपरा की सुलता में यह धड़ ईसा-शूद्ध दूसरी शती से अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होता।

चौसा (जिला भोजपुर) में अठारह जैन कांस्य मूर्तियों की आकस्मिक प्राप्ति ने इस बात की संभावना को बढ़ा दिया है कि उक्त स्थान या उसके समीपवर्ती स्थानों से प्राचीन जैन पुरावशेष मिल सकते हैं। दुभग्निकश, यहाँ भी सुनिधोजित सर्वेक्षण और उत्खनन के आधार पर अन्वेषण नहीं किया

1 जायसवाल (के पी). जैन इमेज ऑफ शीर्ष पीरियड, लर्नेल ग्रॉक विहार एवं उडीसा रिसर्च सोसाइटी, 23; 1937; 130-32. / बनर्जी-शास्त्री (ए). मौर्यन स्कल्पचर्त फौस लोहानीपुर, पटना, पूर्वोक्त, 24; 1940; 120-24.

गया। प्राप्त शुराकवेषों<sup>1</sup> में तीर्थकरों की सोलह मूर्तियाँ, एक अशोक वृक्ष और एक स्तंभ पर एक धर्म-चक्र (चित्र २१ ग) सम्मिलित हैं। इनमें से धर्म-चक्र की तिथि ईसा की पहली शताब्दी निर्धारित की जा सकती है।

तीर्थकरों की मूर्तियों में दस कार्योत्सर्ग मुद्रा में हैं जब कि छह पद्मासन ध्यान-मुद्रा में। यह मूर्ति-समूह इस तथ्य के कारण अत्यंत मूल्यवान हैं कि ये मूर्तियाँ लगभग चार सौ वर्षों के दीर्घकाल में निर्मित हुई हैं और ये प्रायोगिक युग से लेकर गुप्त-युग की सुनिश्चित ललित मूर्तियों के चरमोत्कर्ष तक कांस्य मूर्तिकारों की कलात्मक उपलब्धियों का लेखा प्रस्तुत करती हैं। पद्मासन मूर्तियों में से दो, शैली के आधार पर, परवर्ती कुषाणयुग से आच्चगुप्त-युग तक की हो सकती हैं। शेष चार गुप्त-युग<sup>2</sup> की हैं।

सभी दिगंबर खड्गासन मूर्तियाँ कुषाण-पूर्व<sup>3</sup> से लेकर गुप्त-काल तक की हैं। इनमें से कुछ मूर्तियाँ ठूँठ जैसी टाँगों, अपरिपवव कौशल और बेडौल प्रतिरूपणवाली हैं तथा लोक-परंपराओं पर आधारित हैं। ये आदिम मूर्तियाँ कुषाणयुग से कुछ पहले की प्रतीत होती हैं। पटना-संग्रहालय की मूर्ति क्रमांक ६५३० (चित्र २२ क) कुषाण-कला का एक सुंदर उदाहरण है। विशाल वक्ष, गोल मुख और उन्मोलित नेत्र इसकी विशेषताएँ हैं और यह मध्युरा-कला की परंपरा में है। यहाँ भी टाँगों के निर्माण पर ध्यान नहीं दिया गया। तीसरी-चौथी शती में निर्मित मूर्तियों में (चित्र २२ ल) विभिन्न अंगों की आनुपातिक और सुंदर रचना में पवित्र प्रगति परिलक्षित होती है। किसी भी मूर्ति में परिचय-चिह्न का निर्माण नहीं किया गया जिसके परिणामस्वरूप ऋषभनाथ और पाश्वनाथ की पहचान कमज़ोः उनकी जटाओं और फणावली से ही की जा सकती है। एक सुरक्षित मूर्ति के वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

### परिचय बंगाल

यह निरचयपूर्वक ज्ञात नहीं है कि बंगाल में जैन धर्म कव भलीभाति प्रतिष्ठित हुआ। आचारांग सूत्र से विदित होता है कि लाढ (अर्थात् राढ) में जिसमें बज्जभूमि (बज्जभूमि) और सुद्धमभूमि (सुहंसभूमि) सम्मिलित थी, अमण करते समय महावीर के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया।<sup>4</sup> दिव्यावदान में उल्लिखित एक आख्यान के आधार पर सामान्यतः यह माना जाता है

1. गुप्त (परमेश्वरी लाल), संपा. पठना न्युजियल कैटलग ऑफ एंड बिल्डिंग. 1965. पटना. पृ 116-17, प्रसाद (हरिकिशोर) जैन बोम्बे इन पठना न्युजियल. महावीर जैन विज्ञालय शोषण शुल्की बोल्ड्यू. 1968. वस्त्रई. पृ 275-83.

2. [द्रष्टव्य : आध्याय 11 — संपादक]

3. जैमसूत्रांग. भाग 1. आचारांग सूत्र. अनु : हरमन जैकोवी. सैक्षेष बुक्स ऑफ दि इस्ट, 22. 1884. आक्सफोर्ड. पृ 85.

कि अशोक के शासनकाल में उत्तर बंगाल में पुण्ड्रवर्धननगर जैन धर्म और आजीविक सत का गढ़ था।<sup>1</sup> इस आव्यान के अनुसार, अशोक को जब पता लगा कि पुण्ड्रवर्धननगर (आधुनिक महास्थान-गढ़, जिला बोगरा, बांग्लादेश) के एक निर्ग्रंथ उपासक ने एक ऐसा चिन्ह बनाया है, जिसमें बुद्ध को निर्ग्रंथ के चरणों पर पड़ा दिखाया है, तो उसने पुण्ड्रवर्धननगर के अठारह हजार आजीविकों की हत्या करा दी। कल्पसूत्र के नूतन संस्करण से पहले बंगाल के अधिकांश भाग में जैन धर्म स्थापित हो चुका था। यह बात इस ग्रंथमें वर्णित ताम्रलिपिका (प्राचीन ताम्रलिपि, आधुनिक तमलुक, जिला मिदनापुर), कोटिवर्षीया (प्राचीन कोटिवर्ष के नाम पर संभवतः पश्चिम दीनाजपुर का बानगढ़) और चन्द्रमुप्त मौर्य के समकालीन भद्रवाहु<sup>2</sup> के शिष्य गोदास द्वारा स्थापित एक यण की पुण्ड्रवर्धनीया शाखा के उल्लेखों से सिद्ध होती है। यद्यपि अपने वर्तमान स्वरूप में कल्पसूत्र के पाठ का यह नूतन संस्करण हिस्सा की पाँचवी-छठी शती से पूर्व का नहीं है, तथापि इसमें प्रचुर मात्रा में प्राचीन परंपराओं का उल्लेख है। जैसा कि मथुरा के पहली शती ईसवी और परवर्ती शिलालेखों से सिद्ध होता है, इन शिलालेखों में कुल और शाखाओं सहित अनेक गणों के नामों का उल्लेख है जिनका विवरण कल्पसूत्र में मिलता है। मथुरा की एक जैन मूर्ति के पादषीठ पर प्राप्त ६२वें वर्ष (१४० ई०) के शिलालेख में शरक नाम से एक जैन मिक्षु का उल्लेख है जिसकी व्याख्या रार<sup>3</sup> का निवासी की गयी है और 'रार' की समता राढ़<sup>4</sup> (पश्चिम बंगाल) से की गयी है।

दुभित्य से इस काल का एक भी जैन पुरावशेष बंगाल में नहीं मिला है। जैन संबंधी जो सबसे प्राचीन अभिलेख मिला है, वह है गृप्त-संकत के १४६वें वर्ष का पहाड़पुर (जिला राजशाही, बांग्ला देश) से प्राप्त ताम्रपत्र।<sup>5</sup> इस ताम्रपत्र से यह उल्लेख है कि बट-गोहाली के विहार में चंदन, धूप, पुष्प, दीपकों आदि से अर्हतों की विधिवत् पूजा के हेतु एक ज्ञाह्यण दम्पति द्वारा भूमि का दान दिया गया था। कहा जाता है कि इस विहार के अधिष्ठाता काशी के पंच-स्तूप-सिकाय से संबंधित निर्ग्रंथ श्रमणाचार्य गुहनन्दि के शिष्य और शिष्यों के शिष्य थे। अतः यह बहुत संभव है कि उक्त विहार चतुर्थ शती ई० में पहाड़पुर में विद्यमान रहा हो। जैन धर्म के पूर्वोक्त केन्द्र का अस्तित्व इससे पहले भी यहीं था या नहीं, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

### उड़ीसा

वहुत प्राचीन समय से कर्लिंग (जिसमें उड़ीसा का अधिकांश भाग सम्मिलित था) जैन धर्म का गढ़ था। कहा जाता है कि महावीर ने इस प्रदेश का अमण किया था। ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में

1. दिव्यावदान, बुद्धिस्ट संस्कृत टेक्स्ट्स, 1959, दरभगा, पृ. 277. / मजूमदार (आर सी), जैनिकम इन ट्रैडिंग्स बंगाल, भारतीय जैन विद्यालय गोलडन ब्रूवर्सी बॉल्ट्स, 1, पृ. 135.

2. जैकोवी, पूर्वोक्त, पृ. 288.

3. बरथोपाच्याय (आर डी), मथुरा इस्कॉलस इन द इण्डियन भूजियम, जर्नल ऑफ एक्षियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज, 5; 239-240.

4. मजूमदार, पूर्वोक्त, पृ. 136.

5. एपिग्राफिया इण्डिका, 20; 1929-30; 59-64.



(क) लोहानीपुर — तीर्थकर मूर्ति का धड़



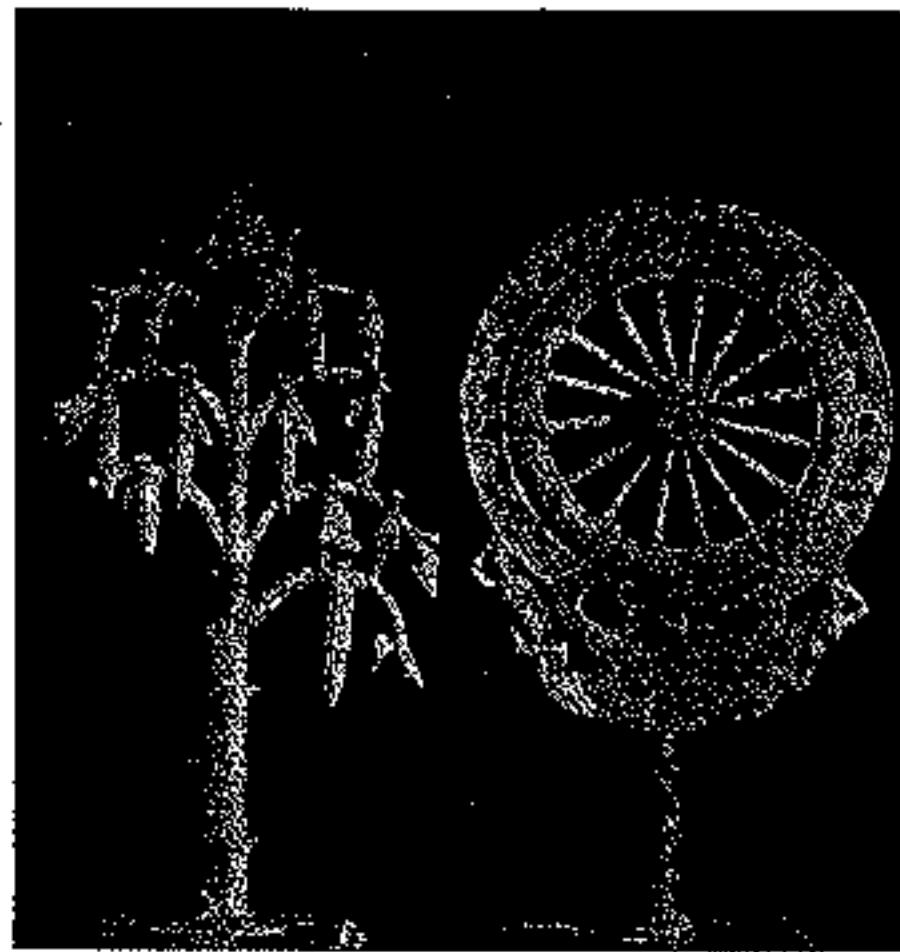
(ख) लोहानीपुर — तीर्थकर मूर्ति का धड़



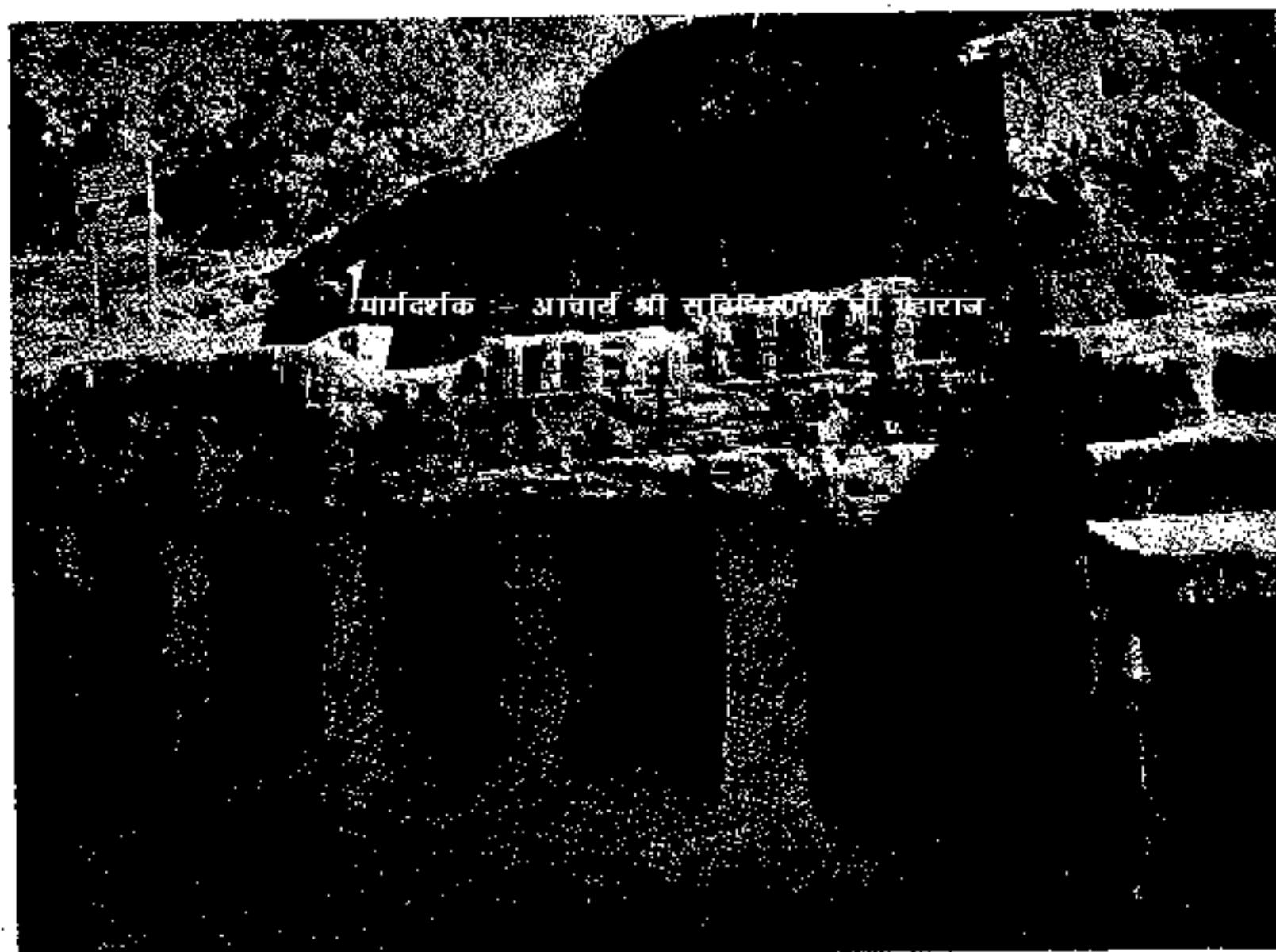
(क) चीसा — तीर्थकर,  
कास्य सूति



(ख) चीसा — अधिष्ठाता,  
कास्य सूति



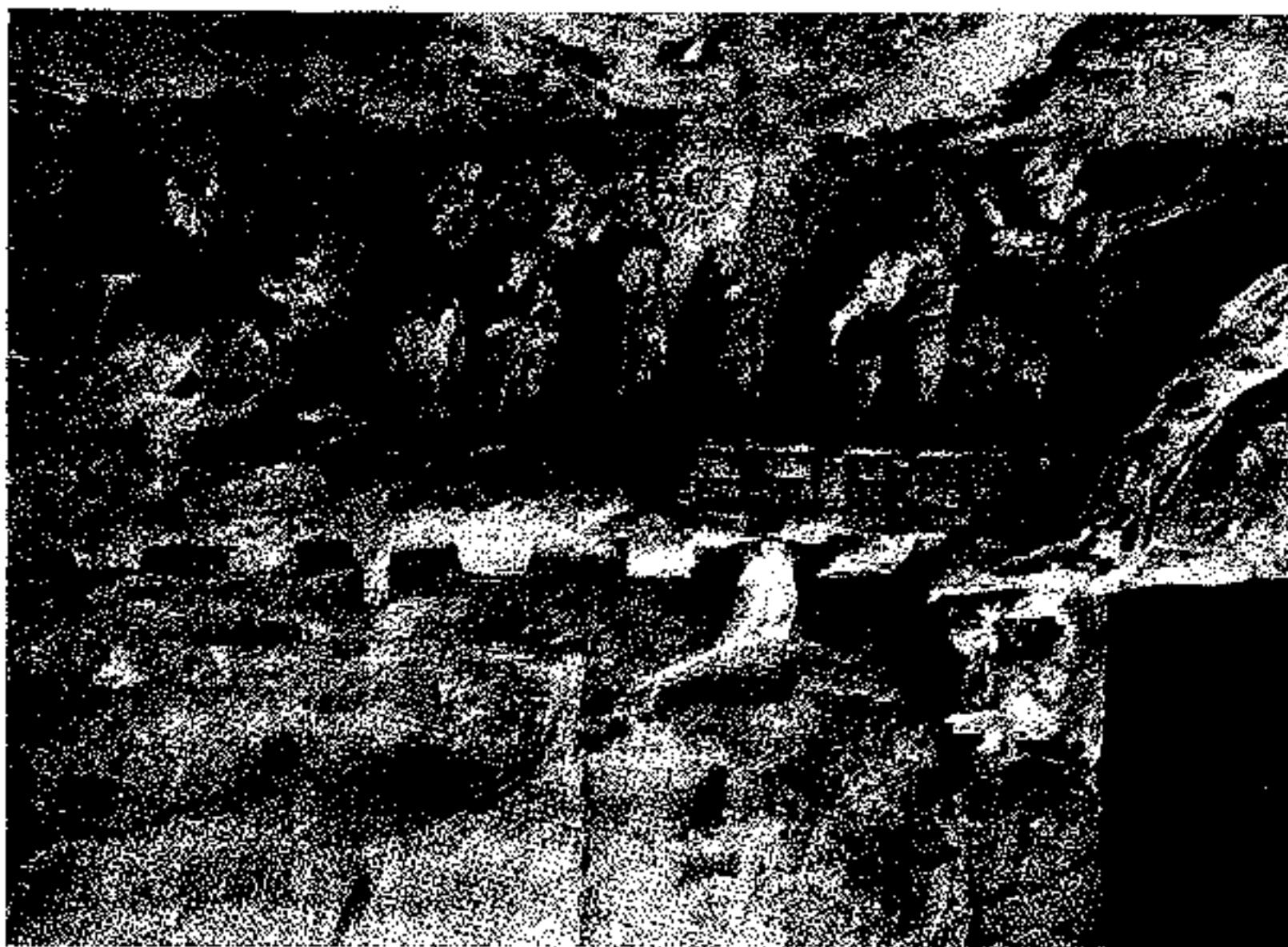
(ग) चीसा — अशोक वृक्ष तथा शर्म चक्र, कास्य निमित्त



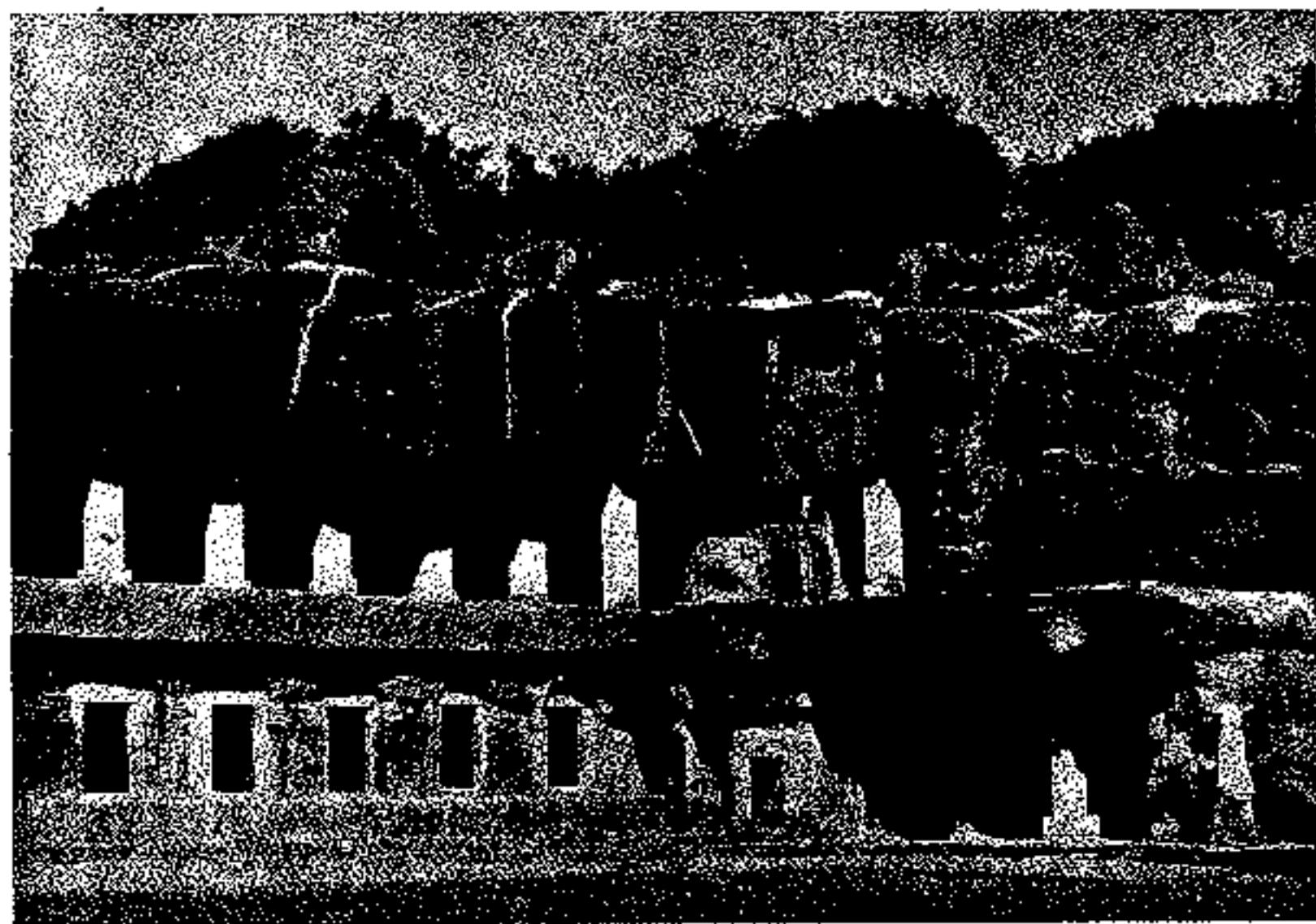
उदयगिरि — गुफा सं० ९, काहरी भाग

कास्तु-स्थारक एवं भूरिकला 300 ई० पू० ये 300 ई०

[ भग 2



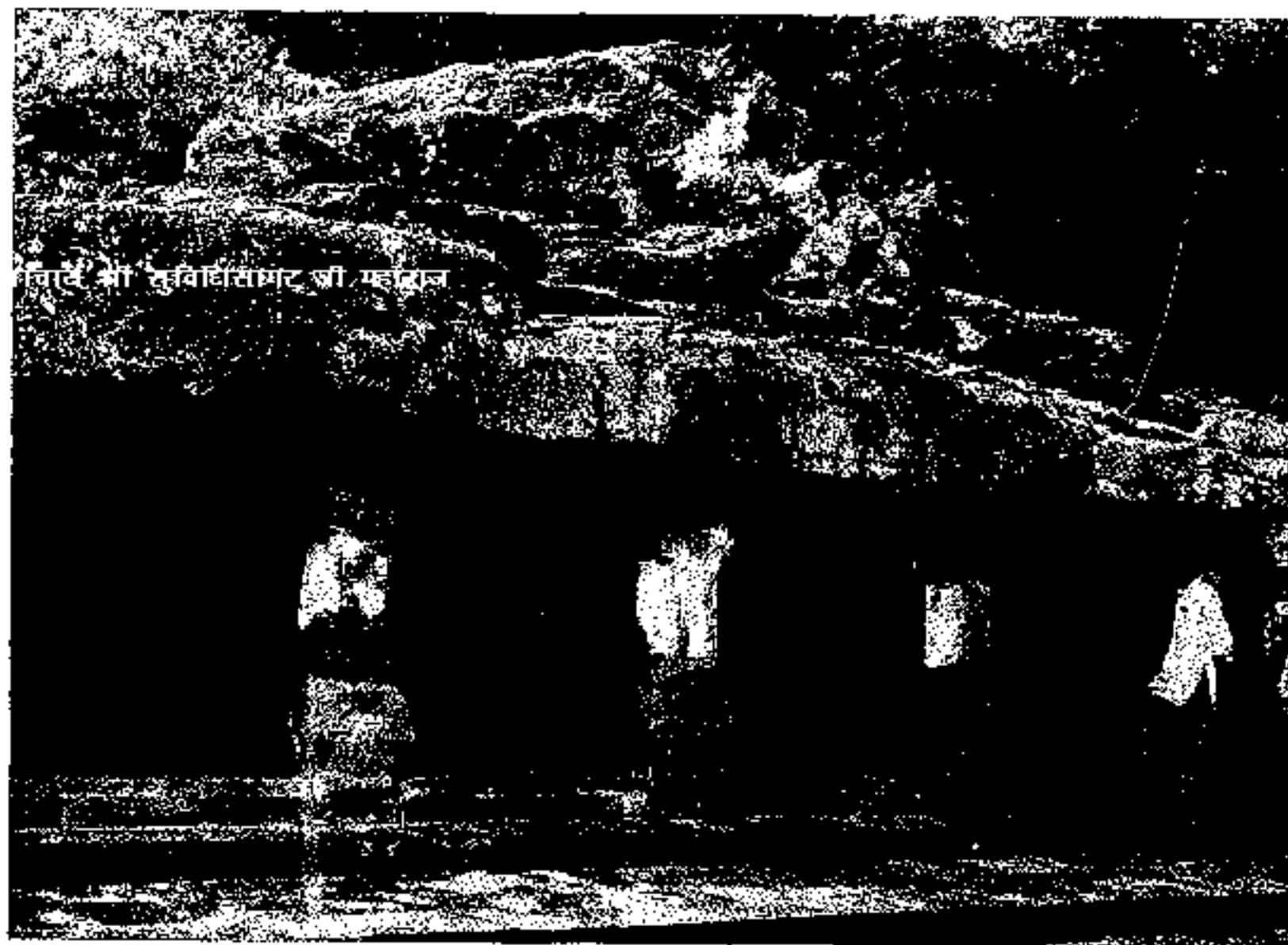
उदयगिरि — गुफा सं० १, निचला तल, उपास्थ-निमित्ति, पूजा-दृश्य



उदयगिरि — भुफा सं० १, बाहरी नाम

वास्तुस्मारक एवं सूतिकला 300 ई० य० से 300 ई०

[ भाग 2



खण्डिति — मुका सं० ३, चाहरी भाग



बलगंगिर — गुफा सं 3, तोरण-शीर्ष-स्थल (कला) बृह-पूजा

बालू-समारक एवं सूर्तिकला 300 ई० य० से 300 ई०

| भाग 2



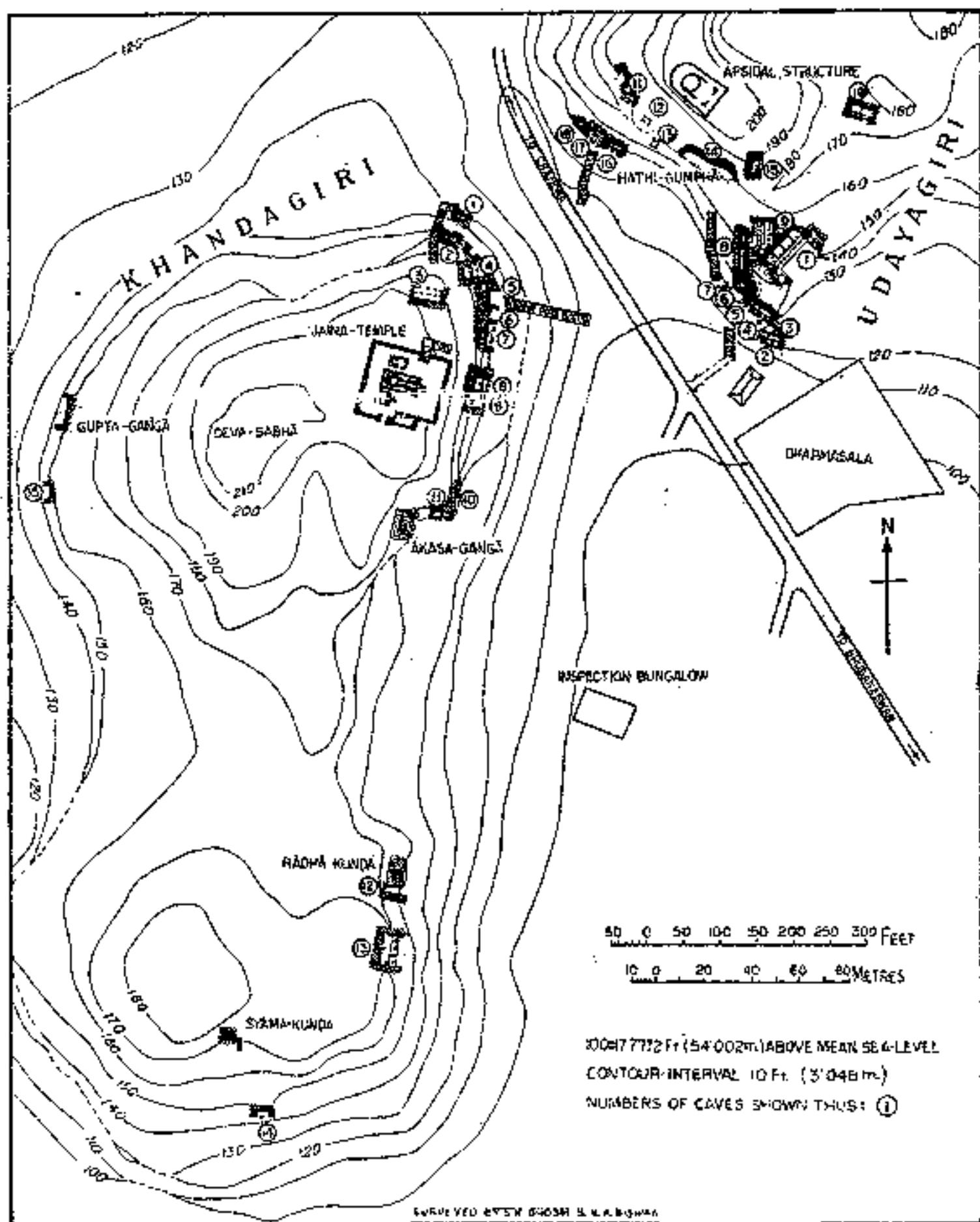
खण्डित — गुफा सं० ३, लोरज बीच पर शज्जनकस्ती

ही कलिंग में जैन धर्म की नींव पड़ चुकी थी। यह बात कलिंग के चेदी राजवंश के महामेषवाहन कुल के तृतीय नरेश खारवेल (ईसा-पूर्व प्रथम शती; एक अन्य मत, जिसकी शुद्धता की संभावना कम है, के अनुसार ईसा-पूर्व द्वासरी शती) के हाथी गुम्फा (भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी की गुफाओं में से एक) शिलालेख<sup>1</sup> से सिद्ध होती है। इस शिलालेख में, जो अर्हतों और सिद्धों को नमस्कार के साथ प्रारंभ होता है, शक्तिशाली शासक यह बताता है कि वह कलिंग की उस तीर्थकर मूर्ति को पुनः ले आया जो पहले एक नन्द राजा द्वारा बलपूर्वक ले जायी गयी थी। यह असंभव नहीं है कि कलिंग की यह पावन तीर्थकर-मूर्ति मूलरूप से उदयगिरि पहाड़ी पर ही प्रतिष्ठापित रही हो और बाद में भी पुनः प्राप्त होने वार खारवेल ने उबड़ी पुनर्निर्माण यहाँ की हो। यह निचली पहाड़ी और इसके समीपस्थ स्तंष्ठित पहाड़ी अत्यंत प्राचीन समय से ही जैन धर्म का केन्द्र रही। इन दोनों पहाड़ियों को विहार के रूप में चयन करने का प्रधान कारण स्पष्ट ही इनकी ऐकांतिक स्थिति रही होगी जो ध्यान और साधु-जीवन के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान करती थी। साथ ही यह कलिंग की जनसंख्या-बहुल राजधानी (जिसकी पहचान शिशुपालगढ़ से की गयी है जो इन पहाड़ियों से १० किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में है) के भी निकट पड़ती थी, जहाँ गुतिगण सुविधापूर्वक धर्म-प्रचार के लिए जा सकते थे और वहाँ से भक्तगण मुनियों के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने और इस पवित्रतम स्थल पर पूजा करने हेतु आ सकते थे।

महामेषवाहनों के शासनकाल में उदयगिरि और खण्डगिरि पहाड़ियों<sup>2</sup> के जैन अधिष्ठान की बहुत उन्नति हुई। हाथीगुम्फा शिलालेख से यह स्पष्ट है कि खारवेल ने, जो जैन धर्मानुयायी था, बड़े उत्साह के साथ इस धर्म के प्रचार हेतु कार्य किया। अपने शासन के तेरहवें वर्ष में उसने न केवल कुमारी-पर्वत (आधुनिक उदयगिरि) पर जैन मुनियों के लिए गुफाएँ बनवायीं अपितु इन विहारों के समीप ही पहाड़ी के प्रामधार पर एक मूल्यवान भवन (संभवतः एक मंदिर) का निर्माण कराया जिसके लिए सुदूर खानों से प्रस्तर-खण्ड लाये गये थे, और एक स्तंभ भी बनवाया जिसके केन्द्र में लहसुनिया मणि लगायी गयी थी। यद्यपि एक बड़ी संस्था में खारवेल-युग के विहार उपलब्ध हैं तो भी, शिलालेखों के अभाव में यह बता सकना संभव नहीं है कि कौन-सी विशेष गुफाएँ इस शासक ने बनवायी थीं। राजकुल के अन्य व्यक्ति भी गुफाएँ बनवाकर दान करने के पवित्र कार्य में सक्रिय भाग लेते थे। इस प्रकार, उदयगिरि की गुफा सं० १ (चित्र २३-२४ के ऊपरी तल, जिसे स्थानीय

1 इस शिलालेख का अनेक विद्वानों ने संपादन किया है और उसपर अपनी राय अक्षर की है, जिनमें सरकार भी है, सरकार (दिनेशबंद्र), लेन्ड इंस्ट्रियल विश्विल आंव इंडियन हिस्ट्री एवं लिखितावेशन, १९६५, कलकत्ता, पृ २१३-२१।

2 उदयगिरि-खण्डगिरि गुफाओं के लिए इष्टव्यः फर्मसन् (जेम्स) लथा बर्जेस (जेम्स). केव ट्रैम्पल्स आौफ हिंडपर, १८८०, लन्दन, पृ ५५-९४, / मित्र (राजेन्द्रलाल), एप्टिक्सिलोज आौफ उहीसा, भाग २, १८८०, कलकत्ता, पृ १-४६, / फर्मसन् (जेम्स), हिस्ट्री आौफ इष्टव्यन एवं इस्टन आॱ्सिटेक्चर, १९१०, लन्दन, पृ ९-१८, / मित्र (देवला), उदयगिरि एवं खण्डगिरि, १९६०, नई दिल्ली।



रेखाचित्र 3. उदयगिरि एवं खण्डगिरि : गुफाओं की स्थानेभा

लोग स्वर्गपुरी कहते हैं) के मुखभाग पर निर्मित समर्पणात्मक शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस तल का निर्माण खारवेल की पटरानी की दानशीलता के कारण हुआ था। इस गुफा के निचले तल (जिसे स्थानीय लोग मंचपुरी कहते हैं) की कोठरियों में से दो महाराज कुदेप (या बकदेव) और राजकुमार बडुल (उबडुल) के द्वारा समर्पित की गयी थीं। कुदेप खारवेल का उत्तराधिकारी रहा प्रतीत होता है। सामान्यतः गुफाओं का उत्खनन शीर्षभाग से प्रारंभ हुआ है, ऊपरी तल पर खारवेल का समर्पणात्मक शिलालेख निचले तल से पहले का प्रतीत होता है।

यद्यपि अधिकांश गुफाओं का उत्खनन महामेघवाहन शासकों के राज्यकाल (प्रथम शतीई० पू० और प्रथम शतीई०) में हुआ था, कुछ का निर्माण उनसे भी पहले हुआ होगा। इस काल की एक भी गुफा मंदिर के रूप में नहीं बनायी गयी। सभी गुफाओं का निर्माण जैन भूनियों के लिए विहारों के रूप में किया गया है। यह तथ्य कि गुफा-कक्षों की आयोजना विहारों के रूप में हुई थी, इस बात से प्रभाग्नित होता है कि पृष्ठभाग में इनके फर्श का आरंभ छलान से होता है और फिर एक ओर की ओर से दूसरी ओर की भित्ति तक बढ़ता जाता है ताकि वह लगातार तकिये का काम दे सके। बहुत समय पश्चात् इनमें से कुछ आवासीय कक्ष प्रस्तर-शिल्पांकित तीर्थकर-मूर्तियों तथा कुछ अन्य लघु परिवर्तनों और परिवर्धनों के साथ मंदिरों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये।

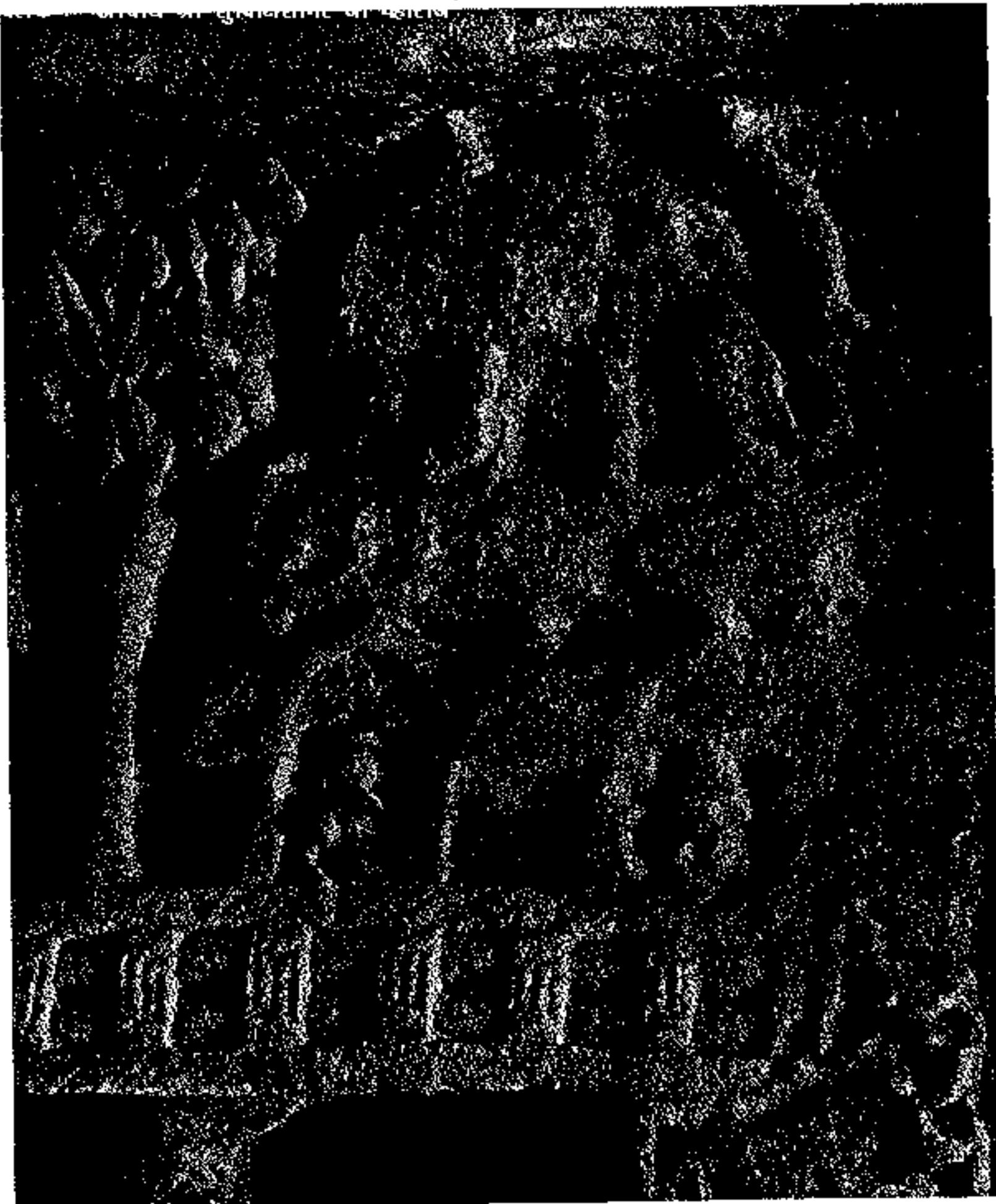
इन विहारों का निर्माण किसी सुव्यवस्थित तथा योजनावद्ध रूपरेखा (रेखांकित्र ३) के अनुसार नहीं हुआ। उनका निर्माण विभिन्न ऊँचाइयों पर किया गया। चट्टान की रूपरेखा का अनुसरण कर तथा विभिन्न कक्षों को एक दूसरे से संबद्ध करने के लिए आवश्यकतानुसार चट्टान में ही सीधियाँ काटकर शिल्पकारों ने अम और धन दोनों की ही बचत की थी। गुफाओं के ऊपर भार कम करने के विचार से उनकी एक इच्छा यह भी रही होगी कि खुदाई शिलालण्ड के ऊपरी भाग के समीप की जाये, क्योंकि इस पहाड़ी का बलुआ पत्थर जल्दी टूट जानेवाला पत्थर है।

अपने आत्मनिग्रह के लिए विश्वात् जैन भूनियों के निवास के लिए निर्मित इन गुफाओं में सुस-सुविधाएँ बहुत ही कम थीं। उदयगिरि पहाड़ी की अधिकांश गुफाओं, जिनमें बिशेष रूप से ऊँची रानीमुम्फा (गुफा १, चित्र २५) भी सम्मिलित है, की ऊँचाई इतनी कम है कि कोई व्यक्ति उनमें सीधा छड़ा भी नहीं हो सकता। शेष गुफाएँ मनुष्य की ऊँचाई से थोड़ी ही बड़ी हैं। कुछ गुफाएँ इतनी संकरी हैं कि कोई भी व्यक्ति उनमें पैर नहीं पसार सकता। प्रवेशद्वार निश्चय ही बहुत छोटे हैं और इन कोठरियों में प्रवेश करने के लिए लगभग रेमना ही पड़ता है। कोठरियों में देवकुलिकाएँ नहीं बनायी गयी थीं। धर्मशास्त्र और नितांत आवश्यक वस्तुएँ रखने के लिए बरामदे की पार्श्व भित्तियों में ही शिला-फलक उत्कीर्ण किये गये हैं। कोठरियों का अंतरिम भाग अत्यधिक सादा है। किन्तु कुछ महत्वपूर्ण स्थानों पर उनके मुखभाग एवं बरामदों की छतों को सहारा देनेवाले टोडों को शिल्पांकन तथा मूर्तियों से सजाया गया है (चित्र ३३)।

एक पूर्ण विकसित विहार में एक या उससे अधिक कोठरियाँ होती हैं, जिनके आगे एक बरामदा होता है। कहीं-कहीं बरामदों के सामने श्रांगन के लिए समतल की हुई भूमि है, यथा उदयगिरि की गुफाएँ सं० १ (रानी गुफा, चित्र २५), सं० ६ (मंचपुरी और स्वर्गपुरी, चित्र २३) और १० (गणेश गुफा) तथा खण्डगिरि की गुफा सं० ३ (अनन्तगुफा, चित्र २६ और २७)। बरामदों के एक, दो या तीन और पंक्तिबद्ध कोठरियाँ हैं। प्रायः एक कोठरीवाली रूपरेखा अधिक पायी जाती है। रानीगुफा की विशेषता यह है कि इसमें मुख्य स्कंध के समकोण की स्थिति में कोठरियों के दो छोटे स्कंध हैं जिनके सामने बरामदा है और भूतल पर दो छोटे रक्षा-कक्ष हैं। सामान्यतः ऊपरी तल निष्ठले तल पर आधारित नहीं है, अपितु पीछे हटकर बनाया गया है। ऐसा प्रबंध या तो भार कम करने के लिए या फिर विलासाङ्ग की इलावी रूपरेखा के कारण अथवा दोनों बातों को ध्यान में रखकर किया गया है। स्वर्गपुरी के सामने खुले स्थान में एक बैलोत्कीण वेदिका (चित्र २३) आगे को निकली हुई है, जो एक छज्जे का आभास देती है।

कुशल मिस्त्रियों और अभियंताओं (इंजीनियरों) के स्थान पर, जिनकी विस्तीर्णी भी स्थापत्य छति के लिए आवश्यकता होती है, जिलियों और मूर्तिकारों द्वारा चट्ठानें काटकर काढ़, बाँस और छप्पर से निर्मित भवनों या आवासों का अनुकरण करके बनायी गयी ये गुफाएँ जैन स्थापत्यकला के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। तत्कालीन जैन भवनों के नितांत अभाव के कारण उनका महत्व और बढ़ गया है। इनकी खुदाई करनेवालों ने चट्ठानों में उन्हीं भवनों का अनुकरण करने का प्रयत्न किया, जिनसे वे परिचित थे। इसका परिणाम यह हुआ कि लकड़ी, खपरेल और छप्परवाले भवनों में विशेष रूप से पाये जानेवाले लक्षणों को इनमें उतारा गया। यद्यपि ऐसा करना स्थापित्व की दृष्टि से निर्णीक और अनावश्यक था। इस प्रकार कोठरियों की छतें कहीं-कहीं तोरणाकार और झोपड़ी के सदृश उत्तोदर हैं; टोड़ों पर टिकी हुई बरामदों की छतें और स्तंभों पर आधारित सरदल, बाँस और लकड़ी से निर्मित झोपड़ी के सदृश कोठरियों की अपेक्षा बहुत अधिक नीचे हैं। इसी प्रकार बरामदों के फलों भी कोठरियों के धरातल से नीचे हैं। बरामदों की छतें परनाले के रूप में बाहर निकली हुई हैं और इन परनालों का अंतरिम भाग छप्परवाली या लकड़ी की झोपड़ियों के समान इस प्रकार मुड़ा हुआ है कि बरसाती पानी आसानी से निकल जाये। द्वार-स्तंभ भीतर की ओर भुके हुए हैं जिनके कारण प्रवेशमार्ग नीचे के स्थान पर ऊपर की अपेक्षा नीचे अधिक चौड़ा है जो चिनाई या प्रस्तर-शिल्प के लिए उपयुक्त नहीं है।

कोठरियों में प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था है; न केवल इसलिए कि उनके द्वार सीधे बरामदे की ओर या फिर विलकुल खुले में खुलते हैं, अपितु दरवाजों की अविकल्पना के कारण भी यह संभव हो सका है, जिनकी संख्या कोठरियों के आकार के आधार पर एक से चार तक है। कुछ बहुत विरल उदाहरणों में गवाक्षों की भी व्यवस्था है। दरवाजों की बाहरी चौखटों में चारों ओर छेद बनाये गये हैं—ताकि उनमें घूमनेवाले लकड़ी के कपाट लगाये जा सकें। कहीं-कहीं कब्जों के लिए भी अतिरिक्त छेद बनाये गये हैं—देहरी और सरदल में एक-एक—ताकि उनमें एक ही कपाट लगाया जा सके।



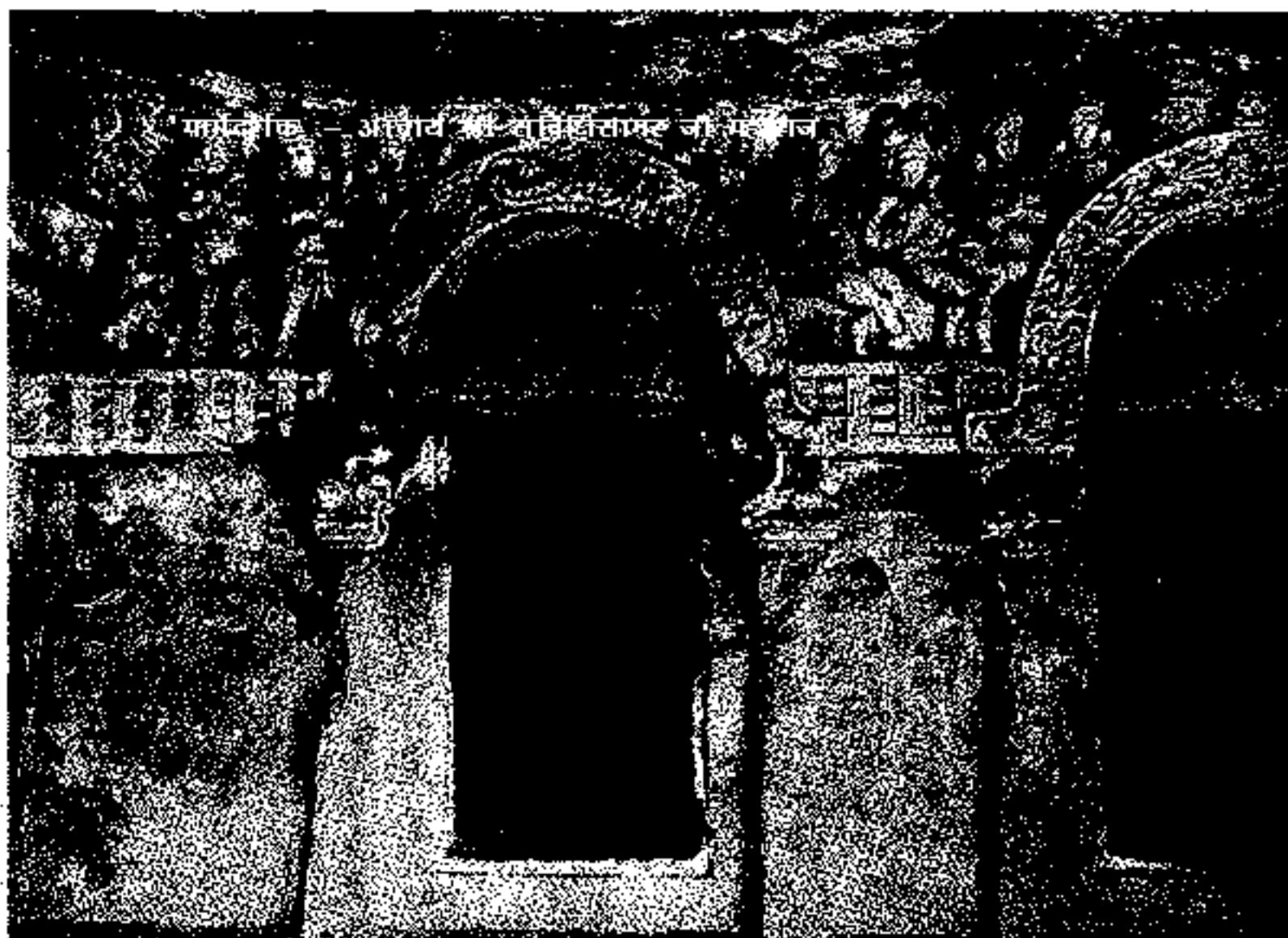
उदयगिरि — गुफा सं० १, निचला तल, मुख्य भाग, द्वितीय भवन का शिल्पोक्तन

वास्तु-स्मारक एवं मूलिकता 300 ई० ट्र० से 300 ई०

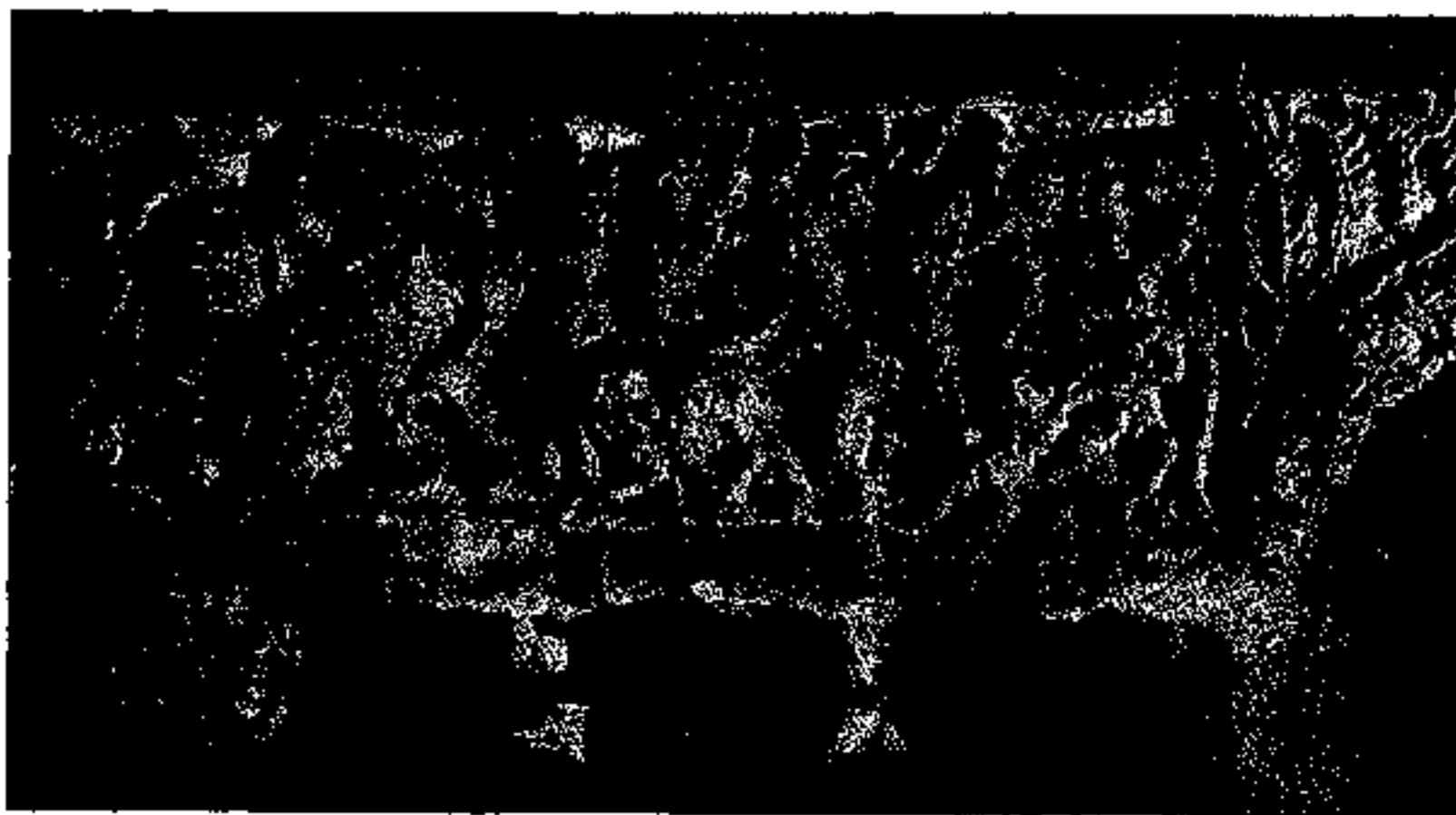
भग्न 2



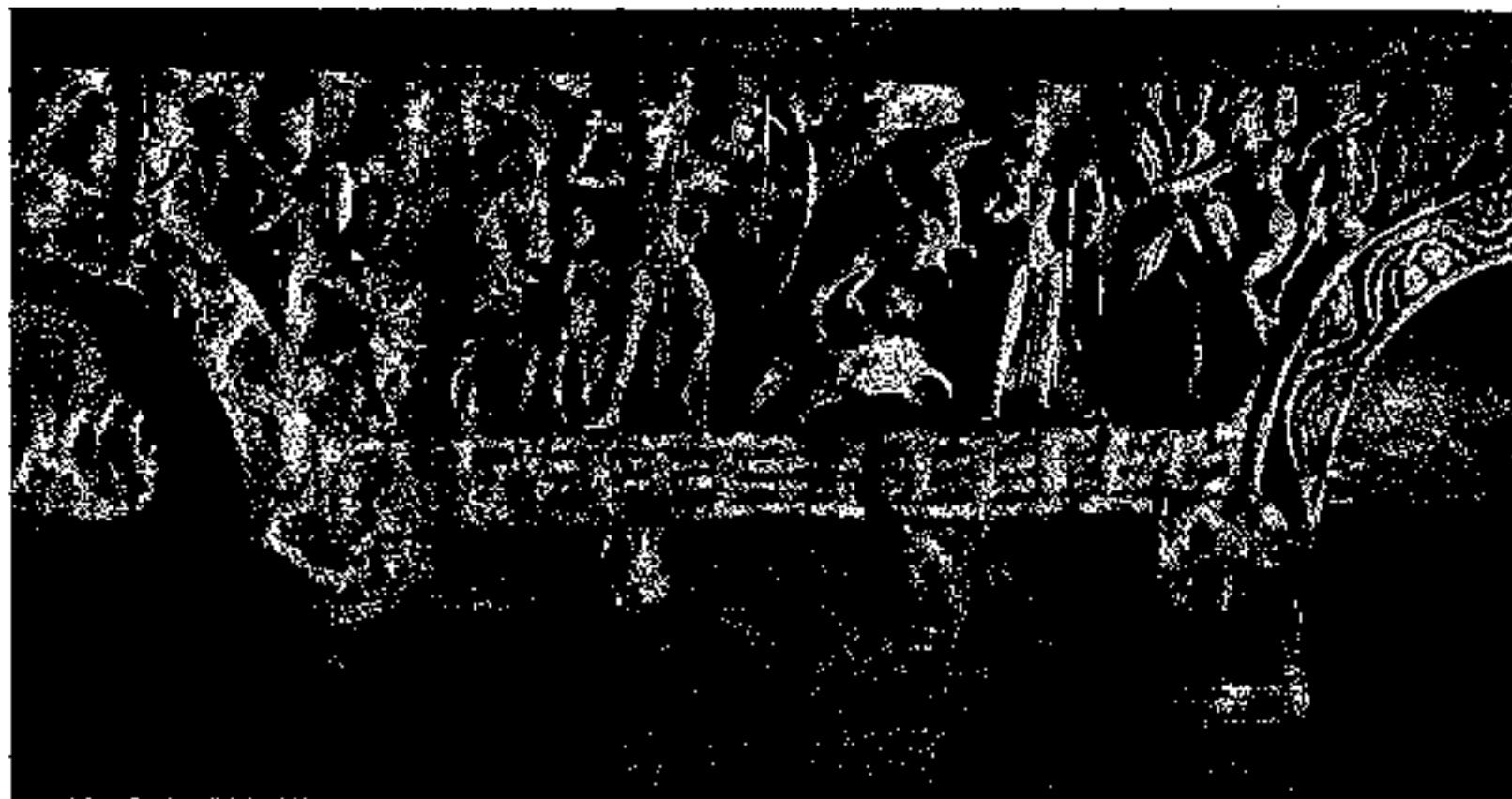
उदयगिरि — गुफा सं० 1, निचला लल, दाहिना भाग, बरामदे की पिछली भित्ति, संगीतकारों से विरो चर्तौकी



उदयगिरि — गुफा सं० १, निचला तल, दाहिना भाग, बरामदे की पिछली भित्ति की शिल्पाकृतियाँ



(क) उदयगिरि — गुफा सं० १, ऊपरी तल, मुख्य भाग, वरामदे की पिछली निति की शिल्पाकृतियाँ

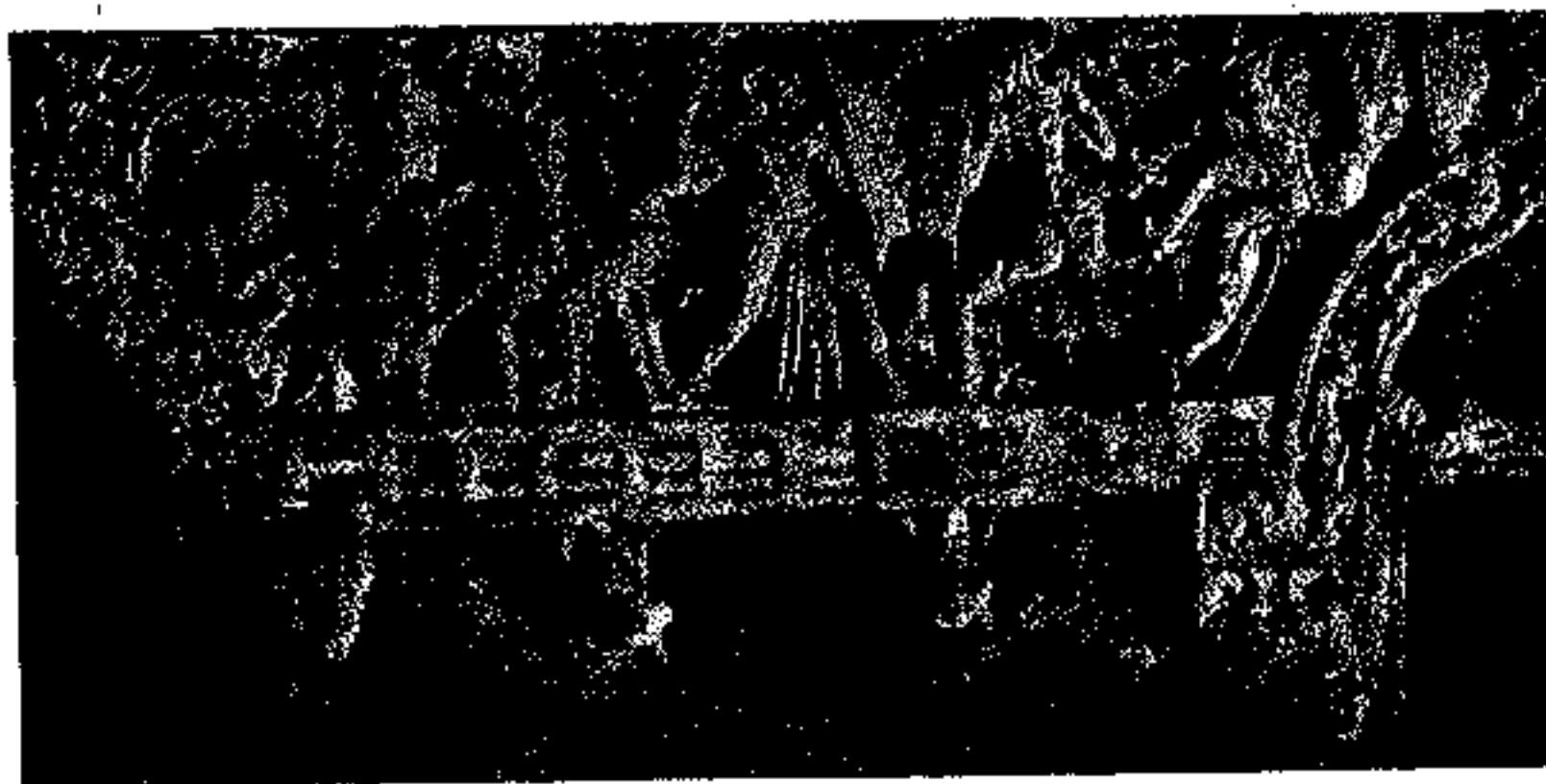


(छ) उदयगिरि — गुफा सं० १, ऊपरी तल, मुख्य भाग, वरामदे की पिछली निति की शिल्पाकृतियाँ



पार्गदरकि :- आचार्य श्री सुविधिसामृजी महाराज

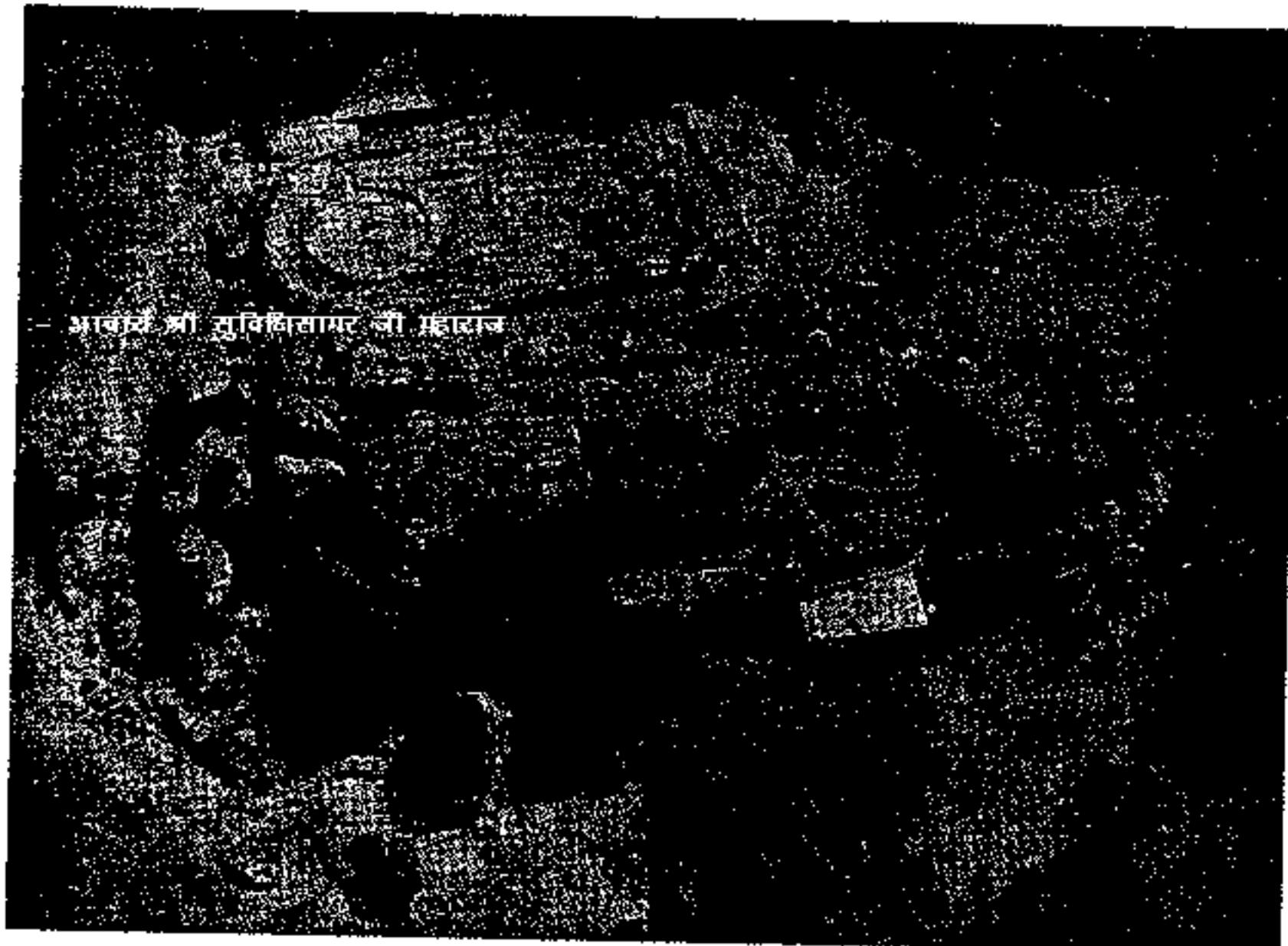
(क) उदयगिरि — गुफा सं० १, अरुली तल, मुख्य प्राय, बरामदे की पिछली चित्ति की शिल्पाङ्कितियाँ



(ख) उदयगिरि — गुफा सं० १०, बरामदे की पिछली चित्ति की शिल्पाङ्कितियाँ

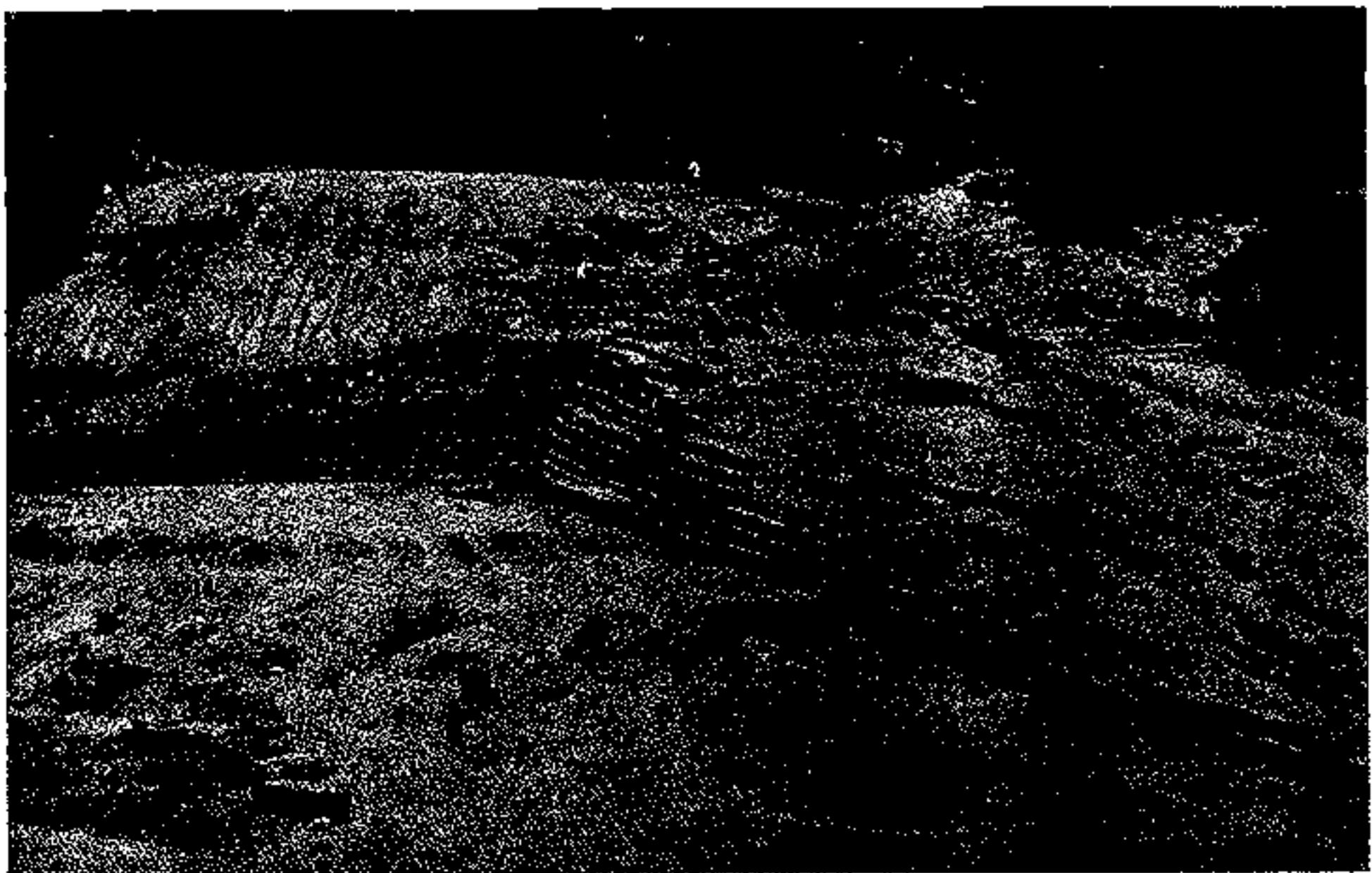
वालु-स्मारक एवं मूर्तिकला 300 ई० पू० से 300 ई०

[ भाग 2

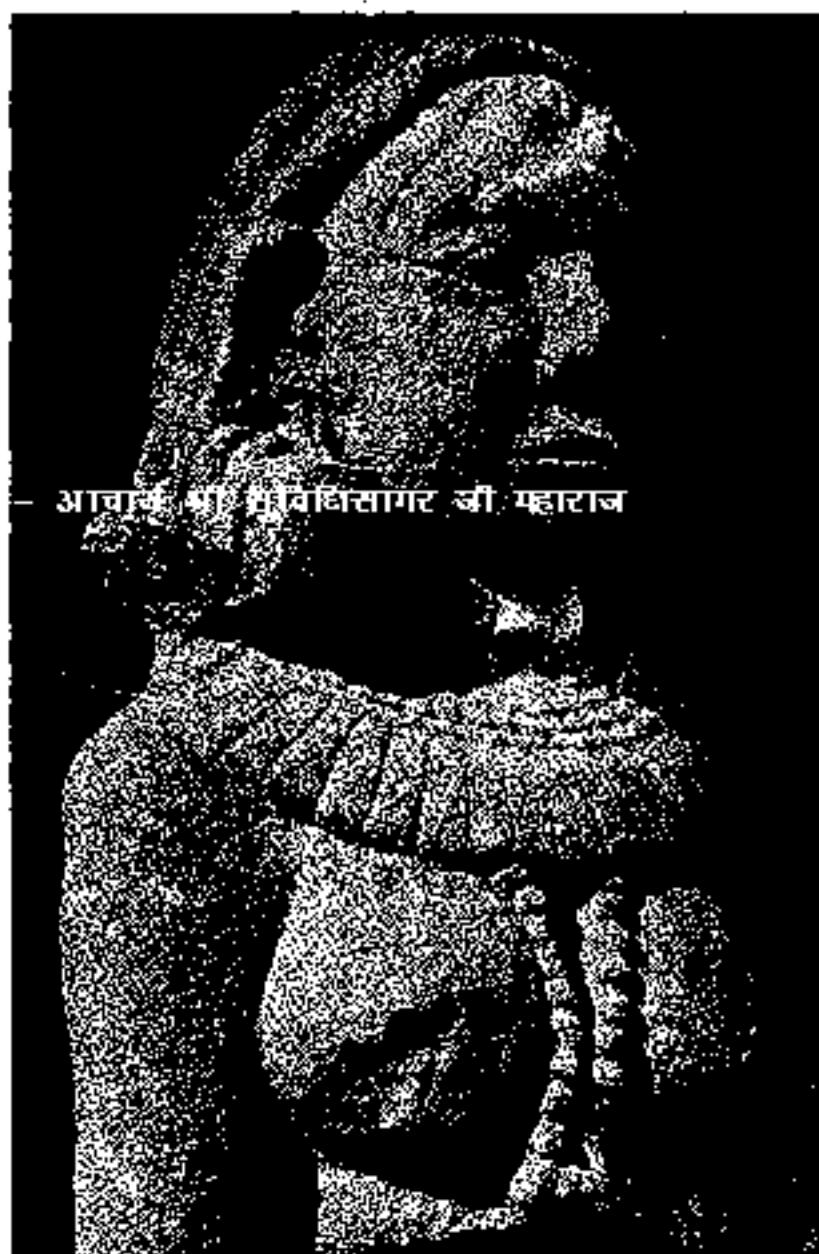


— आदर्श श्री सुविहितामर जी महाराज

उदयमिर — पर्वत किन्डर पर शर्षभृत्याकार मन्दिर



उदयगिरि — पश्चि मिलि से सक्रा हुआ ढलुको मार्ग



— आचार्य जयदेवदासगांड जी महाराज

(क) उदयमिति — यक्षी



(ख) उदयमिति — यक्षी, दृष्ट शरण

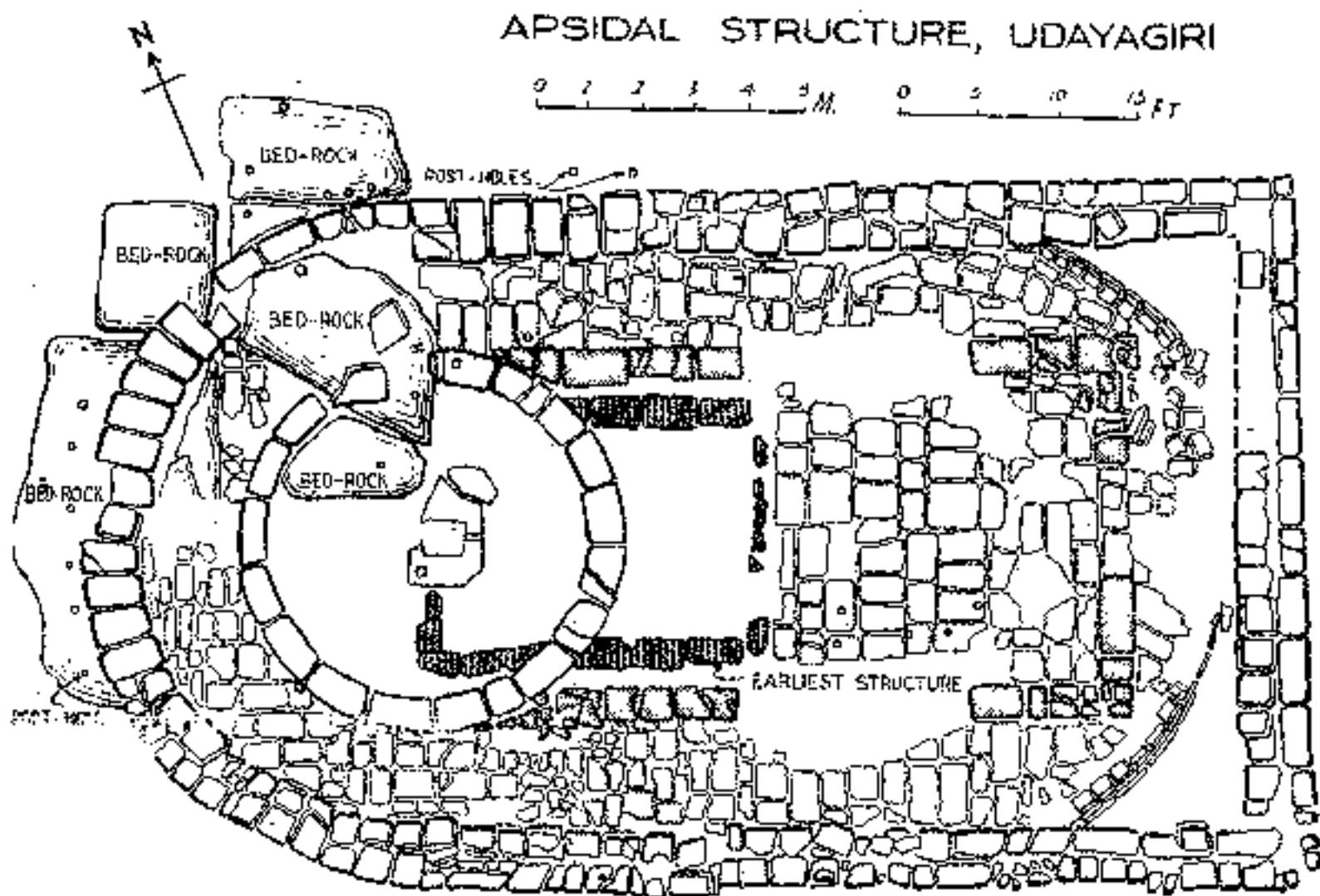
कुछ स्थानों पर सीधी चूने के पलस्तर के उखड़े हुए भागों से जात होता है कि गुफाओं की भित्तियों पर कभी पलस्तर किया गया था ।

गुफाओं को दो मोटे बर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पहली साढ़ी और बिना संभं वर्ग के बरामदेवाली, और दूसरी, सुव्यवस्थित संभयुक्त बरामदेवाली । इस बर्गोंकरण में कालक्रम का कोई महत्व है या नहीं, यह निश्चित नहीं किया जा सकता यद्यपि सामान्य आवारों पर पहले वर्ग की कुछ मुख्य दृश्ये इस की गुफाओं से पहले की बनी होती हैं । पहले वर्ग की गुफाएँ छोटी हैं । अधिकांशतः ये सामने की ओर खुली हैं और उनमें वास्तु संबंधी कोई अलंकरण नहीं है । कुछ गुफाओं में कोठरी की छत आगे निकली हुई है, जिससे एक बरामदा-सा बन जाता है; यथा, उदयगिरि की गुफा सं० १२ (बाघ गुफा) । अधिकांश गुफाओं के, जो सामने से पूर्णतः खुली हुई हैं, मुखभाग पर समानांतर उरेखन देखा जा सकता है । यह जात नहीं है कि ऐसा कोठरी से बरसाती पानी बाहर निकलने के लिए किया गया था या फिर काष्ठनिमित कोई वस्तु रखने के लिए । इनपर शिलालेख नहीं होने के कारण इन गुफाओं की तिथि निश्चित कर सकता कठिन है ।

यदि हम दूसरे वर्ग की गुफाओं के वास्तु संबंधी लक्षणों का परीक्षण करें तो उनके पृथक्-पृथक् निर्माणकाल में अधिक अंतर प्रतीत नहीं होता । स्थापत्य की दृष्टि से ये गुफाएँ एक समरूप वर्ग की हैं, जिनमें विकास की कोई उल्लेखनीय प्रगति परिलक्षित नहीं होती । सभी की विशेषता है एक प्रस्तर-पीठयुक्त बरामदा । इनके संभं एक ही प्रकार के हैं, जो नीचे और ऊपर बगाकार हैं तथा मध्य में अष्टकोणाकार हैं । वर्गों के कोण इस प्रकार ढलुवाँ बने हैं कि संकरण स्थलों पर (चित्र २३) अर्धवृत्त बन गये हैं । कोठरियों के मुखभागों, भित्ति-स्तंभों, तोरणों और वेदिकाओं (चित्र ३१) के अलंकरण एक जैसे हैं, कहीं-कहीं गोटों की संरचना अर्धगोलाकार छतों के समान है । इनमें से कोई भी किसी विशिष्ट स्थापत्य परंपरा का आभास नहीं देती । उनके वास्तुशिल्पीय लक्षणों और शिलालेखों की पुरालिपि के आधार पर उनका निर्माणकाल ईसा-पूर्व प्रथम शती तथा कुछ-कुछ दूसरी शती में भी संभव माना जा सकता है ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है (पृष्ठ ७८), इस युग की सभी शैलोत्कीर्ण गुफाएँ जैन मुनियों के आवास हेतु बनायी थीं और उनमें से किसी का भी निर्माण मंदिर के रूप में नहीं किया गया था । इससे स्पष्ट है कि पूजा के लिए इन पहाड़ियों के ऊपर कोई पृथक् निर्मित-भवन अवश्य रहा होमा । सौभाग्य से, प्रस्तुत पंक्तियों की लेखिका हारा उदयगिरि पहाड़ी की ऊबड़-खाबड़, ढलुवाँ और संकुचित चोटी पर, खारवेल के शिलालेखवाली शिला की चोटी के ठीक ऊपर, योड़ी खुदाई करवाने पर एक बहुत् अर्धवृत्ताकार भवन (रेखाचित्र ४, चित्र ३४) का निचला भाग दृष्टिगोचर हुआ । निससदैह यह भाग ही पूजा का स्थान था ।

खुदाई करने पर इस भवन की बाहरी भित्ति की अक्षवत् लंबाई २३.७७ मीटर और आधारिक चौड़ाई १४.६२ मीटर पायी गयी । यह कंकरीले शिलापट्टों से बनी है जिसके अधिकतम आठ



रेखाचित्र 4. उदयगिरि : पहाड़ी अवित्वका पर अर्धवृत्ताकार भवन की रूपरेखा

स्तर (रहे) मिले हैं। भवन के भीतर उसके अर्धवृत्ताकार सिरे पर एक बहुलाकार भित्ति बनी हुई थी जिसका ग्रन कंकरीले शिलाफलकबाला केवल एक ही स्तर (रहा) रोप रह गया है। इस अर्धवृत्ताकार भवन के भीतर अविकाश भाग कंकरीले शिलापट्टों से बनाया गया है और उसके नीचे कंकरीली मिट्टी भरी गयी है। उत्तरी किनारे की ओर, जहाँ बलुए पत्थर की तलशिला कुछ ऊँची थी, स्वयं शिला को ही भराव (खड़जा) के समानांतर कर दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तर-खण्डों को जोड़कर बनाया गया धरतल फर्श के उद्देश्य से नहीं बनाया गया था अपितु कुछ लंबा बनाया गया था ताकि वह तलशिला और प्रस्तर-खण्ड दोनों को ढँक दे। संभवतः प्रस्तर-खण्डों को छिणाने का उद्देश्य यह था कि पहाड़ी की चोटी के गढ़े भर जायें और एक ठोस तलबाली भूमि प्राप्त हो सके।

वृत्ताकार भित्ति के कुछ पत्थरों के बाहरी किनारे उस खड़जा के कपर आधारित थे। जो भी हो, वृत्ताकार भित्ति में इसके कोई चिह्न नहीं मिलते। अर्धवृत्ताकार भवन के छाँचे के भीतर वृत्ताकार भित्ति के सामने भराव की आयताकार भूमि पर बनी भित्तियाँ एक कक्ष का निर्माण करती थीं यद्यपि इस कक्ष के तीन ओर की भित्तियाँ अर्धवृत्ताकार भवन के समानांतर बनी हुई थीं। वृत्ताकार भवन की ही भित्ति का एक भाग कक्ष के पीछे की भित्ति का काम देता था क्योंकि

इस और कोई अन्य भित्ति नहीं थी । कठाकदार किनारोंवाली इस कक्ष की पाश्वभित्तियों के सिरे वृत्ताकार भित्ति से इतने सुसंबद्ध रूप से जुड़ते थे कि दोनों की बाज्य थोजना अर्धवृत्ताकार हो जाती थी । इसकी अंतरंग संरचना बराबर-पहाड़ियों (बिहार) की सुदामा गुफा और कोण्डवटे (महाराष्ट्र) के चैत्यगृह से मिलती-जुलती है । इन दोनों की भित्तियों की उपयुक्त जुड़ाई के अभाव में लेखक ने पहले यह समझा था कि आयताकार कक्ष, जिसकी भित्तियाँ वृत्ताकार भित्ति के समीप हैं, वृत्ताकार भित्ति के उपरांत निर्मित किया गया है । जो भी हो, भुवनेश्वर के अनेक भविरों के सादूर्ध के आधार पर, जहाँ गर्भगृह के अध्यभाग की भित्ति के समीप द्वारमण्डप की भित्तियाँ बिना उपयुक्त जुड़ाई के बनी हैं, अब यह स्वीकार किया जाता है कि कक्ष और वृत्ताकार भित्ति दोनों ही समकालीन हैं । आयताकार कक्ष की तीन भित्तियों के मध्य में एक खुला स्थान है, जो संभवतः द्वारे के लिए रखा गया होगा ।

क्योंकि वृत्ताकार भित्ति खुदाई करने पर एक रहे (स्तर) तक ही सीमित हो गयी है, उसकी ठीक-ठीक रचना और उपयोग का निश्चय कर पाना कठिन है । जो भी हो, इस पूरे भवन-समूह की संरचना बौद्ध चैत्यगृहों, उनके अर्धवृत्तों, उनकी मध्य तथा पाश्वबीशियों से इतनी मिलती-जुलती है कि यह बहुत संभव है कि वृत्ताकार भित्ति अर्धवृत्ताकार रचना के गर्भगृह के रूप में उपयोग में आती थी और आयताकार कक्ष सभामण्डप या मध्यबींध का काम देता था । इस समता के अनुसार यह कहा जा सकता है कि उनकी बाहरी भित्तियों और बाहरी वृत्ताकार भित्ति के अंतरंग सिरों के बीच के स्थान का उपयोग प्रदक्षिणापथ की पाश्वबींधियों के रूप में होता था ।

अर्धवृत्ताकार भवन की नींव के पास कंकरीले भूखण्डों के किनारों पर निर्मित तथा किञ्चित् पीछे की ओर भुकी हुई दो अर्धवृत्ताकार आधार-भित्तियों का निर्माण संभवतः आयताकार कक्ष की दो पाश्व भित्तियों के नीचे प्रस्तर-खण्डों द्वारा भरे गये गहरे भराव की सुरक्षा के लिए किया गया था ताकि वे ढह न जायें ।

यह असंभव नहीं है कि भवन के चारों ओर बाड़ लगी हुई थी क्योंकि हाथीगुम्फा के सामने अद्वृतरे के पास पाये गये भलबे के बीच में बलुए पत्थर के कुछ उत्कीणित देविकास्तंभ मिले हैं ।

अर्धवृत्ताकार भवन की बाहरी रूपरेखा का मोटा अनुमान रानीगुम्फा के धरातल के मुख-भाग पर किये गये शिल्पांकनों (चित्र २१) के उत्तरी भाग से किया जा सकता है ।

अर्धवृत्ताकार भवन की बाहरी भित्ति के चारों ओर तलशिला में लम्बाग नियमित अंतर पर अनेक छिद्र थे । स्पष्टतः इनमें स्तंभ लगाये जाते थे । यह ज्ञात नहीं है कि ये स्तंभ बाड़ में प्रयुक्त होने के कारण थे अथवा इनमें लंबे थे कि किसी सरदल को (जिसके शीर्षभाग से परनाला निकलता है) आधार दे सकें ।

अर्थवृत्ताकार भवन के उत्तरी सिरे पर तलशिला को काटकर और भराव के समानांतर कंकरीते शिलाखण्डों से छोड़कर नाली बमाथी गयी थी जो पानी के प्रवाह को बाहर निकाल दे।

वृत्ताकार भवन के कुछ नीचे, और दिखने में उससे असंबद्ध, एक छोटा आयताकार कक्ष था, जिसके कंकरीते शिलाखण्डों का एक रद्दा (स्तर) अवशेष है। प्रतीत होता है कि इस स्थल पर यह पहला भवन था।

निश्चित प्रमाण के अभाव में यह कहना कठिन है कि वृत्ताकार गर्भगृह में प्रतिष्ठापित वस्तु स्तूप थी, मंगल-प्रतीक या या तीर्थकर की प्रतिमा थी। इनमें से तीसरा विकल्प स्वयं ही प्रमाणित नहीं होता क्योंकि इन गुम्फाओं के मूल शिल्पाकान में तीर्थकरों की आकृतियों का सर्वथा अभाव है। इसके विपरीत हमें खण्डगिरि की गुफा सं० ३ (अनंत गुम्फा) और उदयगिरि की गुफा सं० ५ (जयविजय गुम्फा) के मुखभागों पर कल्पत्रूष (चित्र २७) के पूजन का अंकन मिलता है। साथ ही, खण्डगिरि गुम्फा सं० ३ की गिर्छली भित्ति पर उकेरे हुए पादपीठ पर एक नन्दिपथ उत्कीर्ण है जिसके पास्त्र में दोनों ओर तीन प्रतीक—श्रिकोण शीर्षमुक्त प्रतीक, श्रीवत्स और स्वस्तिक हैं। इन सदका अंकन मध्युरा के आयाम-पटों में हुआ है। उदयगिरि की गुफा सं० ६ (मंचपुरी) के मुखभाग पर अंकित जिस उपास्य-निमित्ति की पूजा एक राजपरिवार कर रहा है वह निश्चय ही तीर्थकर की प्रतिमा नहीं है, यद्यपि विकृति के कारण उसकी सही पहचान संभव नहीं है। विकृत विम्ब (जो आकार में कुछ बेलनाकार है) के ऊपर कदाचित् एक छत्र है जो एक ऊंचे और संभवतः गोल मंच पर रखा है।

पूर्वोक्त तथ्यों के आधार पर और गर्भगृह की वृत्ताकार आयोजना को ध्यान में रखकर यह जान पड़ता है कि उपास्य वस्तु या तो स्तूप या फिर वृत्ताकार पादपीठ पर रखा हुआ पावन प्रतीक रही होगी। एक उल्लेखनीय लक्षण, जिसकी व्याख्या साक्ष्य के अभाव में संभव नहीं है, वृत्ताकार भवन के बीच में एक अपरिष्कृत खण्डित शिला थी जिसपर थे बमीकार उकेरनी तथा छेनी के चिल। कोटर में भूलतः पुरावशेष थे या यह छत्रदण्ड का आधार था या फिर पदित्र चिह्न की चूल, यह अब केवल अनुभान का विषय रह गया है।

हाथीगुम्फा के सामने की गयी व्यवस्था से प्रमाणित होता है कि वृत्ताकार भवन का यह विम्ब अत्यंत पुनीत था और यात्रियों को आकर्षित करता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है उदयगिरि की चोटी सँकरी है। वस्तुतः अर्थवृत्ताकार भवन पहाड़ी के इस विशिष्ट भाग को संगम सूरा ही इस प्रकार आवृत करता है कि बचा हुआ शेष स्थान इतना चौड़ा नहीं रहा कि वहाँ बड़ी संख्या में लोग एकत्र हो सकें। हाँ, कभी-कभी लोगों के एकत्र होने पर आवश्यक स्थान की व्यवस्था करने के लिए हाथीगुम्फा के सामने गुम्फा सं० ६ और १७ की ओर की भित्तियों के निकट आवश्यक भराई करवाकर एक अस्थायी चबूतरा बना लिया जाता था। इस चबूतरे पर पहुँचने के लिए एक ढलुवाँ मार्ग (चित्र ३५) बनाया जाता था जो क्रमशः पहाड़ी की तलहटी

से चबूतरे तक ऊंचा होता जाता था। दोनों ओर आधार-भित्तियों पर सवा हुआ और कंकरीले शिलापट्टों से आच्छादित यह ढलुवाँ मार्ग एक रथ के सरलता से निकलने के लिए भी पर्याप्त चौड़ा था।

गुफा सं० १७ में प्रवेश की सीढ़ियों के पास चबूतरे की आधार-भित्तियों के किनारे के मलबे में उत्कीर्ण वेदिकाओं के कुछ टुकड़े और उकेरी हुई स्त्री-मूर्ति का ऊपरी भाग (चित्र ३६) मिला था। ये सब बलुए पत्थर से निर्मित पहली शरी ई० पू० के थे।

अपनी आयोजना के कारण अर्धवृत्ताकार भवन अपने ढंग का एक ही है जिसका उदाहरण अभी तक उड़ीसा के परवर्ती मंदिरों में नहीं मिल सका है। आयोजना से स्वतः उसकी प्राचीनता का ज्ञान होता है। जो भी हो, इस भवन की तिथि अनिश्चित है, किन्तु पारिस्थितिक साक्ष्य से अनुमानित की जा सकती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह भवन पहाड़ी की ओटी पर बना है जिसके ठीक नीचे की गुफा (हाथीगुफा, गुफा सं० १४) के ऊपरी सिरे पर खारबेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख उत्कीर्ण है जिसमें अन्य शब्दों के प्रतिरिक्त वह अपने क्रिया-कलापों का वर्णन करता है, जिनमें पहाड़ी (आदृनिक उदयगिरि) पर गुफाओं का उल्जनन, एक प्रस्तर-भवन और स्तंभ का निर्माण सम्मिलित है। स्थापत्य की दृष्टि से हाथीगुफा महत्वहीन है। वस्तुतः यह असमान आकार की एक छोड़ी प्राकृतिक गुफा है, जिसकी पार्श्वभित्तियों के छेनी से काटे-संबारे पूळभाग यह दर्शते हैं कि मानव ने यहाँ यदा-कदा आयोजित संग्रहितियों के लिए एक विहार के रूप में उनका विकास कर लिया था। भित्तियों पर कुछ नाम खुदे हैं जो सम्भवतः तीर्थयात्रियों के हैं, इनमें से कुछ गुप्त-कालीन लिपि में हैं। इतनी महत्वहीन गुफा के शीर्ष पर एक शक्तिसंपन्न शासक के महत्वपूर्ण अभिलेख की विद्यमानता, यह मानकर पूर्णरूपेण समझ में आ सकती है कि स्वयं खारबेल ने ही इस गुफा के ऊपर अर्धवृत्ताकार भवन का निर्माण कराया था।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, गुफाओं के अंतरिम भाग अत्यंत सादे हैं। तो भी अनेक गुफाओं की कोठरियों के मुखभाग प्रवेशद्वारों के ऊपर पशु-शीर्षयुक्त अर्धस्तंभों पर टिके हुए शिल्पांकित तोरणों (चित्र ३१) द्वारा सजाये गये हैं। शिल्पांकित तथा मूर्तियुक्त टोड़ों (चित्र ३२ और ३३) पर आधारित वेदिकाओं (चित्र २४ और ३१) और तोरणों को प्रायः एक दूसरे से जोड़ दिया गया है। कुछ गुफाओं में वेदिका-स्तंभों के ऊपरी भाग में आकर्षक शिल्पांकितियाँ (चित्र २४, ३० और ३३ ख) हैं जिनमें धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दृश्य अंकित किये गये हैं। शिल्पांकनों में से कुछ की विषय-वस्तु वर्णनात्मक है (चित्र ३२ ख और ३३ ख)। अनंतगुफा जैसी कुछ गुफाओं के तोरण-शीर्षों पर भी शिल्पांकन है (चित्र २७ और २८)। स्तंभों पर आधारित, बरामदों की छतों को सहारा देनेवाले टोड़े भी शिल्पांकित तथा मूर्तियुक्त हैं। बरामदों के अर्धस्तंभों में से कुछ के सामने बूहदाकार मानवाङ्कितियाँ, अधिकांशतः द्वारणालों की मूर्तियाँ, उकेरी हुई हैं। मूर्त्यकन तथा शिल्पांकन

की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध रानीगुप्ता के दो रक्षक-कक्षों के मुखभागों पर भी प्रचुर शिल्पांकन किया गया है।

साज-सज्जा में प्रयुक्त प्रायः सभी अलंकरण प्रतीक (नमूने) भरहुत और सांखी में मिलते हैं जिनसे उनकी सामान्य परंपरा का आभास मिलता है। इसके साथ ही मधुमालती लता, कंगूरे तथा पंखधारी पशु-जैसे कुछ पश्चिम एशियाई कला-प्रतीकों—जिनका उस युग में भारत के अधिकांश भागों में व्यापक प्रचार हुआ था—के प्रयोग से इस संभावना का भी अंत हो जाता है कि कला-प्रतीक और कला-परंपरा का स्तर और पृथक् रूप से विकास हुआ था। अलंकरण-प्रतीकों में स्वयं ऐसे चिह्नों का अभाव है जो विशिष्ट रूप से जैव हों, क्योंकि ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों मतानुयायियों ने भी इन्हीं कला-प्रतीकों का उपयोग किया है।

यद्यपि ये मध्यदेश की कला-परंपरा के अनुरूप हैं, तो भी, मूर्तियुक्त शिल्पाङ्कितियों का आदिकालीन भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान है। अनेक आङ्कितियों की मुख-मुद्राओं में प्रांतीय पुढ़ है। शिल्पांकनों के कार्य-कौशल में कोई एकरूपता नहीं है, फिर भी समग्र रूप से विचार करने पर, निश्चय ही वह भरहुत शैली से अधिक विकसित रूप प्रदर्शित करते हैं।

गुफा सं० १ (रानीगुप्ता) के मुख्य स्कंध के निचले तल में लगातार शिल्पाङ्कितियाँ हैं, जिनमें दिग्विजयी नरेश के विजय-अभियान का चित्रण किया गया प्रतीत होता है। इनमें राजा अपनी विजय-वाहा राजधानी से प्रारंभ करता है और अनेक देशों पर विजय प्राप्त करता हुआ राजधानी लौटता है। प्रजा अपने घरों से राजा के प्रस्थान को देख रही है। वह सोचने के लिए जी चाहता है कि शिल्पाङ्कितियों की यह लम्बी चित्रबलरी खारदेल के विजय-अभियानों से प्रेरित होकर बनायी गयी है।<sup>1</sup>

गुफा सं० १ के ऊपरी तल के मुख्य स्कंध के अग्रभाग की शिल्पाङ्कितियों (चित्र ३२ क और ३३ क) की तुलना सांखी के द्वारों के शिल्पांकनों से भलीभांति की जा सकती है और भरहुत-कला के

1. मित्रा, पूर्वोक्त, पृ 20-22. एक विद्वान् के अनुसार इस चित्र-बलरी के दृश्य तीर्थकर के रूप में पाश्चंनाथ के विहार और उनका जो सम्मान किया गया उसे दर्शाति है। उसी विद्वान् के अनुसार, गुफा सं० १ के ऊपरी तल स्था गुफा सं० 10 (गणेशगुप्ता) की सामने की भित्तियों के शिल्पांकनों में पाश्चंनाथ के जीवन की घटनाओं के दृश्य अकिस किये गये हैं जिनमें उनके द्वारा किया गया प्रभावती का उद्धार और आगे चलकर उससे विवाह की घटना भी सम्प्रसित है, [ओ'माले (एल एस एस), वर्षाल डिस्ट्रिक्ट गणेशियसं-पुरी, 1908, कलकत्ता, पृ 256 और 259]. जो भी ही, वासुदेवशरण अवधारण का सुझाव इन दृश्यों में से दो को दुष्यन्त-शकुन्तला और उदयन-वासवदह्ना की कथाओं से संबंधित घटनाओं के रूप में पहचानते की ओर था [वासवदह्ना एण्ड शकुन्तला सीन्स इन द रानीगुप्ता के इन उड़ीसा, जनन और दि इण्डियन सोसाइटी ऑफ ऑरिंग्स आर्ड, 14; 1946; 102-109.]

पुरातनिक लक्षण — जैसे अवभाग-विन्यास, दृश्यात्मकता का अभाव, मूर्त्यकन की आदिम परिकल्पना आदि—बब इनमें तभीं दिखाई देते। वे शिल्पांकन आकृतियों की विभिन्न स्थितियों—अव, पृष्ठ और पाश्व—के दक्षतापूर्ण अंकन में कलाकार के प्रशंसनीय कौशल को व्यक्त करते हैं। आकृतियों के मुख पूर्ण या तीन चौथाई या फिर अधैमुद्राओं में बनाये गये हैं। आकृतियों की मुद्राएँ सामान्यतः सरल और स्वाभाविक हैं। उनकी चेष्टाएँ सजीव और मनोभाव भलीभांति व्यक्त किये गये हैं। उनकी संरचना भी सामान्यतः संगत और प्रभावशाली है; विभिन्न आकृतियों एक दूसरे से संबंधित हैं। शिल्पांकनों में परिष्कव गोभीर्य है, वे रूप की सुषड़ता और स्वाभाविक आकृति-रचना का पर्याप्त प्रदर्शन करते हैं। स्त्री-पुरुषों की सुकुमार आकृतियों से सौम्य रूपरेखा का अंकन स्पष्ट भलकता है।

अन्य गुफाओं के, और एक सीमा तक गुफा सं० १ के निचले तल के भी, शिल्पांकन इस स्तर के नहीं हैं। वे सजीव और सुषड़ मूर्त्यन की दृष्टि से अपेक्षाकृत अपरिष्कृत तथा निम्न स्तर के हैं। आकृतियों कम सजीव, प्रतिरूप अभावजित और उनका वर्ग-संयोजन कम संगत है। कलात्मक उपलब्धियों में कहु जाताहता उह इन्य प्रत्यक्ष हो जाती है जब गुफा सं० १० (गणेशगुम्फा) के अपहरण-दृश्य (वित्र ३३ ख) की तुलना गुफा सं० १ (रातीगुम्फा) के ऊपरी तल के दृश्य (वित्र ३३ ख) से की जाती है। यह अंतर या तो कलाकारों की कुशलता में अंतर के कारण या उस सम्योत्तराल के कारण हो सकता है जिसने इन कलाकारों को मूर्तिकला-कौशल तथा संरचनाओं में अनुभव द्वारा दक्षता प्राप्त करने का अवसर दिया, यद्यपि समय का यह अंतराल बहुत लंबा नहीं रहा होगा।

देखला मिश्रा

## अध्याय ८

### पश्चिम भारत

मध्ययुगीन जैन परंपराओं से विदित होता है कि महावीर ने पश्चिम भारत, विशेषतः दक्षिण-पश्चिम राजस्थान में भिनमाल (भिलमाल) और आदू पहाड़ के समीप मुण्डस्थल (आधुनिक मुग्धथला), का प्रमाण किया था। पूर्णचन्द्र सूरि द्वारा भिनमाल में महावीर-मंदिर की प्रतिष्ठा का उल्लेख करनेवाले वि० सं० १३३४ (१२७७ ई०) के एक शिलालेख से विदित होता है कि महावीर भिलमाल पधारे थे।<sup>१</sup> मुग्धथला के जैन मंदिर से प्राप्त एक परवर्ती शिलालेख वि० सं० १४२६ (१३६६ ई०) से भी ज्ञात होता है कि महावीर इस स्थान पर आये थे।<sup>२</sup> किन्तु महावीर का विहार केवल पूर्वी भारत तक ही सीमित रहा जान पड़ता है। पूर्व में वे लाड (राढ़) गये जहाँ उन्हें स्थानीय आदिवासियों के हाथों बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

मौर्यशासन पश्चिम में राजस्थान में कम से कम बैराट तक, गुजरात में गिरनार तक और दक्षिणापथ में सोपर तक फैला हुआ था, जैसा कि इन स्थानों पर प्राप्त अशोक की राजाज्ञाओं से प्रमाणित होता है। और, यह बहुत संभव है कि ये भाग उसके पौत्र सम्प्रति के नियन्त्रण में बने रहे जिसका जैन धर्म का संरक्षकत्व बृहत्कल्पभाष्य और निशीथ-चूणि<sup>३</sup> जैसे आद्य ग्रंथों से भलीभांति प्रमाणित है। किन्तु इन क्षेत्रों से जैन कला का ऐसा कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुआ जिसे निस्संदेह सौर्य या शुग-युग का कहा जा सके।

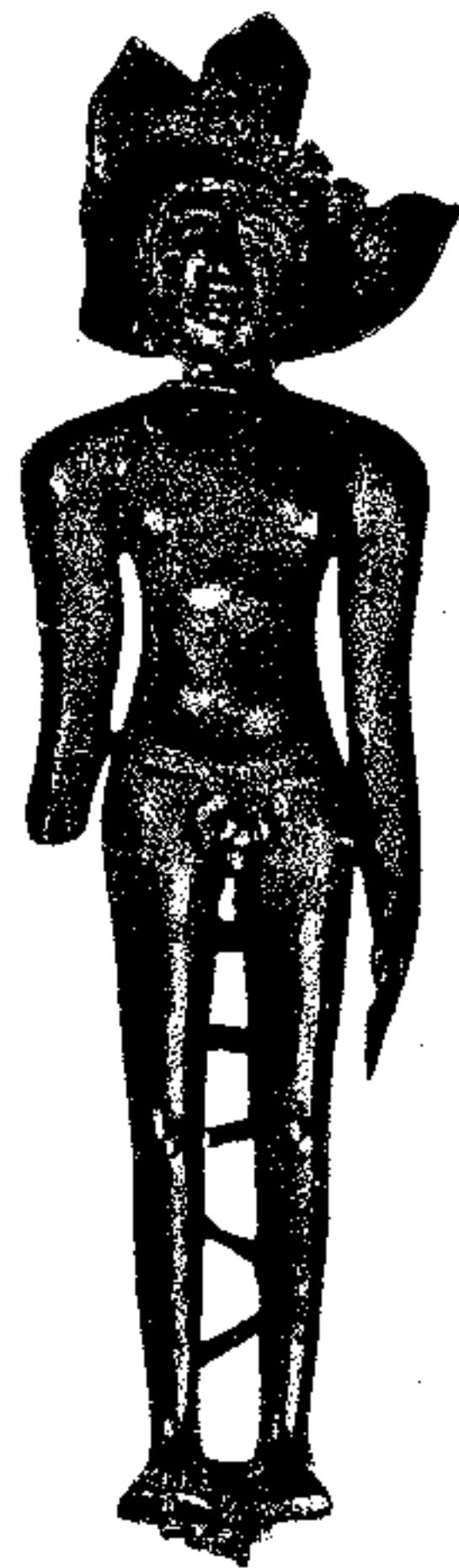
अजमेर जिले के बरली नामक स्थान से एक खण्डित शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें महावीर के पश्चात् ८४ वर्ष और मध्यमिका (मध्यमिका—चित्तौड़गढ़ के पास 'नगरी' नामक आधुनिक स्थान) का उल्लेख है।<sup>४</sup> जो भी हो, डी० सी० सरकार का मत है कि इसे वीरात ८४ मानने के लिए प्रमाण

१ आर्क्यौलॉजिकल सर्केन आफ इन्डिया, बैस्टन संकिल. प्रोफेसर रिपोर्ट, 1907-08, पृ 35.

२ जयन्तविजय. अर्द्धदाचल प्रदक्षिणा जैन-लेख-संस्कृत. ५. 1947. भावनगर शिलालेख ४८.

३ बृहत्कल्पभाष्य. ३. गाथा ३२७७-३२८९. पृ ९१७-९२१. / निशीथ-चूणि. अनुच्छेद ५. गाथा २१५४ और चूणि पृ ३६२. / हेमचन्द्र. स्थविराचली चरित्र या परिशिष्टपर्व. ११. ५५-११०.

४ इण्डियन एस्टेट्सरी. ५८; १९२१, २२९. / ओस्टा (गोरीशंकर हीराकन्द). भारतीय प्राचीन लिपिसामा० १९१८. अजमेर. पृ २-३. / लर्मल शोफ द विहार एण्ड डॉला रिपोर्ट सोसायटी. १६; १९३०; ६७-६८-



प्रित आँफ देल्स संस्थालय — पाश्वनाथ, कर्नल मूलि

काल्पनिक एवं सूलिला 100 ई० पू० से 300 ई०

[ गण 2



जूलीगढ़ — बाया पारा की गुफा

उपर्युक्त नहीं है।<sup>1</sup> प्रतएव इस शिलालेख के जैनों से संबंधित होने की बात अब नहीं मानी जाती।

चौथी-पाँचवीं शती ई० के एक प्राचीन ग्रंथ वसुदेव-हिण्डी में उज्जैन में एक जीवन्तस्वामी (महावीर के जीवनकाल में निर्मित प्रतिमा) का उल्लेख मिलता है।<sup>2</sup> बृहत्कल्पभाष्य (लगभग छठी शती ई०) में भी इसका उल्लेख है और इस ग्रंथ की टीका में उज्जैन में इस प्रतिमा की रथ-यात्रा के समय आर्य सुहस्ति द्वारा सम्प्रति को जैन धर्म में दीक्षित किये जाने का पूर्ण विवरण दिया गया है।<sup>3</sup>

जिनदास कुल दातव्यका-चूर्णि (खट्टी शती) में सिन्धु सौवीर में वीतभयपत्तन के उदायण की रानी द्वारा महावीर की चंद्रकाष्ठ-निर्मित जीवन्तस्वामी-प्रतिमा की पूजा करने का विवरण मिलता है। कालांतर में इस प्रतिमा को अवंति का प्रद्यौत उठा ले गया और अंत में विदिशा में इसका पूजन होता रहा।<sup>4</sup> किन्तु मौर्य और शृणकाल में अवंति-भालवा प्रदेश के पश्चिम भागों में जिन-दिम्बों की पूजा का अव्यय कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता।

इस प्रकार चंद्रकाष्ठ से निर्मित महावीर की प्रथम मूर्ति की पूजा वीतभयपत्तन के राजा उदायण की रानी द्वारा की गयी। अवंति का प्रद्यौत इस मूर्ति को उठा ले गया और कालांतर में यह पूजा के लिए विदिशा में प्रतिष्ठित की गयी। किन्तु प्रद्यौत मूल प्रतिमा तभी ले गया जब उसने वीतभयपत्तन में उसकी एक अनुकूलि स्थापित कर दी। महान् भाष्यकार भुनि हेमचन्द्राचार्य ने इन मूर्तियों का आगे का भनोरंजक विवरण अपनी कृति त्रिष्णिट-शलाका-पुरुष-चरित में दिया

1 सरकार (डी. सी.), वरली के गमेण्टरी स्टोन इस्लिङ्टन, जनेल ऑफ द विहार रिसर्च लोसायटी, 37; 1951; 34-38.

2 वसुदेव-हिण्डी, संपा : चतुरविजय सथा पुण्ड्रविजय, खण्ड 1, भाग 1, 1930, पृ 61. भावनगर, / जिनदास, आवश्यक-चूर्णि (खण्ड 3, 1923, खलाम, पृ 157) में भी उज्जैन की इस मूर्ति का उल्लेख है, जीवन्तस्वामी प्रतिमा के लिए द्रष्टव्य : शाह (यू. पी.), ए पुनीक जैन इमेज ऑफ 'जीवन्तस्वामी'. जनेल ऑफ ओरियल इस्टीट्यूट, 1; 1951-52; 72-79 और 'साइडलाइट्स ऑन द लाइन टाइम सेंडलबुड इमेज ऑफ महावीर', पृ 358-368.

3 बृहस्पतिभाष्य, 3, गाथा 3277, पृ 917 तथा परवर्ती, / कल्प-कूर्जि (अब भी वाण्डुलिपि रूप में; बृहत्कल्पभाष्य की टीका से प्राचीनतर) में भी इसका वर्णन है, द्रष्टव्य : कल्पाणविजय, वीर निर्वाण संक्षत् और जैन कालगणना, नागरी प्रसारिणी प्रक्रिया, 10; 1930; उद्धरण.

4 आवश्यक-चूर्णि, खण्ड 1, गाथा 774, पृ 397-401, (आवश्यक निर्युक्ति की टीका), / और द्रष्टव्य : हरिभ्र, आवश्यक-चूर्णि, खण्ड 1, भाग 2, 1916, सुख, पृ 296-300, / आवश्यक-निर्युक्ति, खण्ड 1, पृ 156 तथा परवर्ती, / जैन (जगदीश चन्द्र), साइफ एज डिपिक्टेड हस्त द लैन फैनस, 1947, लस्कर्ड, पृ 349, / शाह, पूर्वोक्त.

है, जिससे यह जात होता है कि क्षालांतर में विदिशा की मूल प्रतिमा की पूजा भैल्लस्वामी<sup>1</sup> के रूप में होने लगी और कीतभयपत्तन वाली अनुकृति एक रेतीली आधी में नगर के साथ ही लुप्त हो गयी। उद्धायण ने उसे एक मंदिर में प्रतिष्ठित किया था और राजकीय घोषणापत्र<sup>2</sup> प्रसारित कर उसकी पूजा हेतु दान दिया था। हेमचन्द्र के अनुसार चौलुक्य नरेश कुमारपाल ने, जिसका राज्य पश्चिम में सिन्धु तक, उत्तर में जालौर और राजस्थान के कुछ अन्य भागों तक और प्राथः सम्पूर्ण गुजरात तक फैला हुआ था, सौंदीर की राजधानी में विशेष अधिकारी भेजे थे। उन्होंने उद्धायण द्वारा प्रसारित किये गये घोषणापत्रों सहित काष्ठप्रतिमा को सोद निकाला। हेमचन्द्र आगे वर्णन करते हैं कि ये पत्तन लाये गये और कुमारपाल द्वारा, जिसका जैन धर्म के प्रति आकर्षण और संरक्षकात्मक सर्वेविद्वित है, नवनिर्मित मंदिर में मूर्ति की स्थापना की गयी।<sup>3</sup>

यदि यह समकालीन बृत्तात् सही है और यह विश्वास करता कठिन है कि हेमचन्द्र जैसी प्रतिष्ठावाला व्यक्ति इसे गढ़ने का साहस करेगा या केवल जनश्रुति के आधार पर ही इस प्रकार का वर्णन करेगा तो हमें यह स्वीकार करता पड़ेगा कि महावीर के जीवनकाल में ही जैन कला और जैन-पूजा का प्रसार न केवल मालवा-अवंति प्रदेशों में हुआ अपितु पश्चिम में सिन्धु-सौंदीर तक हो चुका था। जैन आमम ग्रंथ भगवती-सूत्र १३-६-१६१ के अनुसार राजा उद्धायण को, जो भगवान् महावीर के दर्शन करता चाहता था, धर्मोपदेश देने के लिए महावीर वीतभयत्तन आये थे।<sup>4</sup>

कायोत्सर्ग मुद्रा में पार्वनाथ की एक अत्यंत प्राचीन कांस्य प्रतिमा (चित्र ३७) प्रिन्स ऑफ बेल्स संग्रहालय, बम्बई, के संग्रह में है।<sup>5</sup> इसका दायीं हाथ और शीर्ष के ऊपर कणावली का भाग खण्डित है। इसके पादपीठ का पता नहीं है और दुभास्य से इसका मूल प्राप्ति-स्थान भी जात नहीं है, शैली में यह मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त एक मृण्मूर्ति के बहुत कुछ समान है।<sup>6</sup> इसके अंग लम्बे और पतले हैं जिनकी तुलना मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त नर्तकी की मूर्ति से की जा सकती है।<sup>7</sup> अङ्, विशेषतः तोंद और

1. विष्णुष्टावालाका-पुरुष-चरित, पर्व १०, सर्ग ११, विशेष रूप से इसीक ६०४ तथा परबतीं.

2. वही, सर्ग ११, ऐलोक ६२३ तथा परबतीं.

3. वही, सर्ग १२, ऐलोक ३६-९३.

4. जैन, पूर्वोक्त, पृ. ३०९। / बृहत्कल्पभाष्य, २, पृ. ३१४। / वही, ४, पृ. १०७३ तथा परबती। / वही, गाथा ९१२-९१३।

5. शाह (मू. पी). अर्ली बोन्ज ऑफ पार्वनाथ, बुलेटिन ऑफ विन्स ऑफ बेल्स स्युजियन, बम्बई, ३; १९५२-५३; ६३-६५ और चित्र।

6. मार्याल (जॉन). मोहन-जो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन, भाग ३, १९३१, लन्दन, चित्र ९५, उपक्रमांक २६-२७। / मैकेंफर्बर एक्सकेप्लोन्स फॉर्म मोहन-जो-दड़ो, भाग २, १९३८, नई दिल्ली, चित्र ८२, उपक्रमांक ६, १०, ११, और चित्र ७५, उपक्रमांक १, २१।

7. मार्याल, पूर्वोक्त, चि. १४, उपक्रमांक ६-८। इस कांस्य प्रतिमा के साथ कुछ मृण्मूर्तियों की तुलना के लिए द्रष्टव्य: मोर्डन (ही एच), अर्ली एराकोटाज, जर्मन ऑफ वि इण्डियन सोसायटी ऑफ आर्ट, ११, १९४३।

पेट, की संरचना लोहानीपुर से प्राप्त जिन-बिम्ब के पालिशयुक्त धड़ से, जो अब पटना-संग्रहालय में है (अध्याय ७, चित्र २१ क), और हड्डिया से प्राप्त लाल पत्थर के धड़ से बहुत मिलती-जुलती है, इस प्रकार यह कांस्यमूर्ति मोहन-जो-दडो शैली में बनायी गयी। यह शैली मौर्ययुग तक प्रचलित रही। इसकी रचना विलक्षण है और उसकी तुलना मोहन-जो-दडो की नर्तकी की कांस्य-मूर्ति से की जा सकती है। किसी अभिलेख के अभाव में इस कांस्य-मूर्ति के निर्माणकाल का ठीक-ठीक निश्चय करना या उसका प्राप्ति-स्थान बता सकना कठिन है, किन्तु पूर्वोक्त शैलीयत तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लगभग पहली शती ईसा-पूर्व से बाद की तहीं हो सकती, वरन् इससे भी प्राचीन होगी।

मोम-सौचा-विधि से ढाली गयी इस कांस्य मूर्ति का भार बहुत हल्का है। असंभव नहीं कि यह परिचय भारत के किसी भाग – सिंध, राजस्थान, गुजरात या कच्छ – से बम्बई संग्रहालय के लिए प्राप्त की गयी हो।<sup>1</sup>

बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार जैन मुनियों के लिए प्रतिष्ठानशुर से आगे दक्षिण में विधिवत् भिक्षा यात्रा कर्त्तव्य था। वास्तवि ने ही यह आदेश दिया कि वहाँ इस प्रकार की सुविधाएँ दी जाएँ ताकि जैन मुनि जैन धर्म के सिद्धांतों के प्रचार के लिए सम्पूर्ण दक्षिण की यात्रा कर सकें। कहा जाता है कि शूरपारक में जैन भतावलंबी थे। आर्य वज्र (पारंपरिक तिथि लगभग ५७ ई० पू० से ५० ई०) के शिष्य वज्रसेन ने शूरपारक (बम्बई के निकट आषुव्यिक सोणारा) के कुछ साक्षु-शिष्यों को दीक्षित किया था।<sup>2</sup> उनमें से नगेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर और निवृत्ति नामक चार शिष्यों ने जैन साधुओं के चार कुलों की स्थापना की थी। आर्य समूद्र और आर्य मंगु भी शूरपारक गये थे।<sup>3</sup> तथापि,

1 [ मोतीचन्द्र और गोरक्षकर ने इसकी तिथि ईसा की दूसरी शती सुझायी है और प्राप्ति स्थान-ठत्तर भारत, ब्रह्मणः प्रिन्स ऑफ बेल्स म्युजियम संबंधी उनका अध्याय, मेरे साथ हुए व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार में इस अध्याय के लेखक ने यह मत व्यक्त किया है कि इस प्रतिमा की समाप्तता सिन्धु-कला से है अतः यह कांस्य मूर्ति किसी परिचय भारतीय स्थान संभवतः सिंध से प्राप्त हुई होगी और भारतीय पुरातत्त्व सर्वेश्वर के किसी ऐसे अधिकारी ने जिसमें परिचय भारतीय स्थानों की विस्तृत खोज की होगी, इसे संग्रहालय के लिए प्राप्त किया होगा, लेखक ने यह भी लिखा है कि प्रोफेसर शासुदेवशरण थग्रवाल को इस बात पर विशेष ज्ञानवर्ष था कि इस मूर्ति पर श्रीवरस चिन्ह नहीं है जो उसके भारत से प्राप्त सभी लीर्णकर मूर्तियों के वक्षस्थल पर पाया जाता है। — संपादक]

2 बृहत्कल्पभाष्य, पृ ११७-२१। / तुलनीय : धर्मविजय, खंडा, पश्चात्याली-समुच्चय, १९३३, वीरभद्री, / कल्पसूत्र स्वविश्वाकर्णी, पृ ४। / मुण्डरनसूत्र, गुहपर्वकम्, पृ २६। / स्वात्मक-पश्चात्याली, पृ ४७-४८।

3 जैन (जे सी), भारत के प्राचीन जैनसीर्व, पृ ६५। / व्यवहार भाष्य, ६; २३९ तथा प्रवर्ती, / धर्मसाक्षरणि, तपापाच्छ, पश्चात्याली-समुच्चय, खंड १, पृ ४६, पर कहा गया है : श्री-विरात त्रि-पंचाशाद्-अधिक-चतु-शत-वर्षीयिकमे ४५३ भूगुक्षणे आर्य-संपुटाचार्ये इति षट्काल्याम् / प्रभावकर्त्तरिते तु चतुर्वर्षीत्याधिक-चतु-शत-४८४-वर्षे आर्य अपुटाचार्यः / सप्त-वर्षीय-अधिक-चतु-शत-४६७ वर्षे आर्य-मंगु।

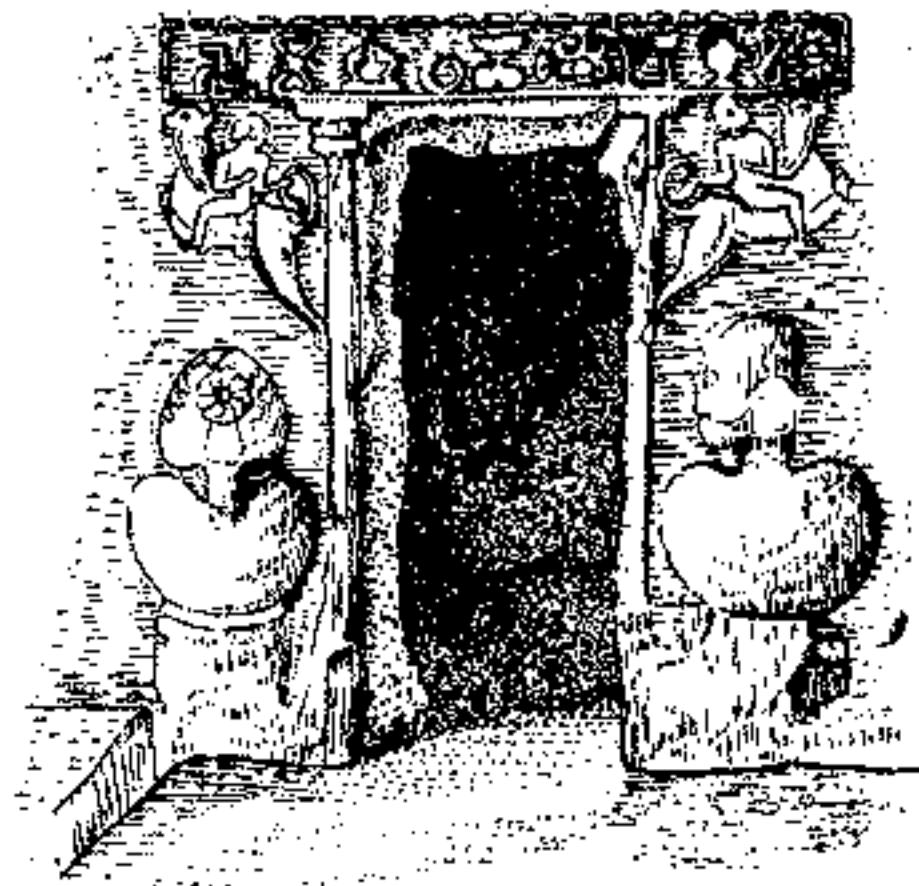
पश्चिम भारत या दक्षिणापथ से इस काल की एक भी प्राचीन जैन मूर्ति अवतक प्राप्त नहीं हुई है।<sup>1</sup>

भड़ोच के आर्य खपुट,<sup>2</sup> सौराष्ट्र (पालिताना के निकट) के आर्य-पादलिप्त<sup>3</sup> एवं बलभी (सौराष्ट्र में ही) के नागार्जुन के वृत्तान्तों से प्रमाणित होता है कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में जैन पश्चिम-भारत में अत्यंत सक्रिय थे।<sup>4</sup> आर्य नागार्जुन चौथी शती के प्रारंभ में आयोजित प्रथम बलभी परिषद् के अध्यक्ष थे। महान् जैन नैयायिक और डादकार-न्यचक के प्रणेता आचार्य मल्लवादी ने बलभी में एक विवाद में बौद्धों को चौथी शती के प्रारंभ में पराजित किया था।<sup>5</sup> पूर्वोक्त आर्य वज्ज्ञेन के मुख आचार्य वज्ज्ञ द्वारा आभीर देश,<sup>6</sup> दक्षिणापथ<sup>7</sup> और श्रीभाल<sup>8</sup> (मारवाड़ में वर्तमान भिन्नभाल) तक अवण करने का उल्लेख मिलता है।

1. सांकिलिया ने पुस्तके में कम्पोट से लगभग 12 किं० मी० दूर पाल नामक रूपान की एक गुफा से प्राप्त एक शिलालेख हाल ही में प्रकाशित किया है जिसका घाठ वे इस प्रकार करते हैं (1) नमो अरिहंतानं पायुन (2) द भद्रन्त इन्द्रसिंहेन लेन्स् (3) कारापितं फोदि च सहा च कहे सहा, उनका भत है कि यह एक जैन गुफा है, वे इस शिलालेख को ईसा से लगभग दूसरी शताब्दी-पूर्व का मानते हैं। द्रष्टव्य : स्वाध्याय (गुजराती प्रक्रिया) द्वितीया, 7, 419 तथा परवर्ती और चित्र, यह सुविदित है कि प्रारंभिक काल में अर्हत् शब्द का प्रयोग सामान्यतया बौद्ध और जैन दोनों द्वारा किया जाता था, यह कहना कठिन है कि केवल जैनों द्वारा इसका प्रयोग कब से प्रारंभ हुआ, क्योंकि इस शब्द की कार्या और अन्य गुफाएँ निश्चित रूप से बौद्धों से संबंध रहीं, अतः कोई भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह एक जैन शिलालेख है, किन्तु इस संभावना को पूर्णतया अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता, हमें वह स्मरण रखना चाहिए कि गुप्त-युग के पूर्व और कुषाणयुग की समाप्ति के पश्चात् किसी समय से, अर्हत् था अरिहंत शब्द का प्रयोग धीरें-धीरे केवल जैन तीर्थंकरों के लिए ही होने लगा,
2. पादश्वक लिप्युचित तथा चूर्णि पृ 542, निशीथ चूर्णि, 10, पृ 101, / बुहुत्स्वभाव्य, 4.5। 15 तथा परवर्ती, / पूर्वोक्त पाद-टिप्पणी भी द्रष्टव्य।
3. अद्वश्यक चूर्णि, पृ 554 / दिव्य लिप्युचित, पृ 497 तथा परवर्ती,
4. कल्पाणा दिव्य, पूर्वोक्त, पृ 110-18.
5. जग्न्मूर्चिय, द्वादशार-भृपचक, प्रस्तावना,
6. आवश्यक चूर्णि, पृ 396-97.
7. वही, पृ 404.
8. आवश्यक टीका, पृ 390 क. संभवतः आर्य वैर (वज्ज्ञ) आचार्यराज मुनि वैरदेव का ही नाम है जो राजनिर की सोनभण्डार गुफा के शिलालेख में अंकित है, यह भत उमाकान्त प्रेमानन्द शाह में जन्मल ओंक द विहार रिसर्च सोसायटी, 34; 1953; 410-12 में व्यक्त किया है।

[अन्य लोगों को इह भत पर संदेह है, द्रष्टव्य : अध्याय ] । इस आध्याय के लेखक ने व्यक्तिगत पत्र-च्यवहार में मुझे बताया है कि समस्त उपलब्ध दिग्ंबर और इतेऽबर साहित्य या एकावलियों में आचार्य वज्ज्ञ और उनके लिये वज्ज्ञेन (प्रकृत में वैर और वैरसेन) नामों के दो ही आचार्यों का उल्लेख मिलता है और इन्हीं का उल्लेख सोनभण्डार शिलालेख में किया गया होगा। अतः और शाह द्वारा अक्त भत संभावना पर बहुत अधिक आधारित है। इन गुफाओं की लियि के बारे में वे एस के सरस्वती के विचारों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, —संपादक]

जूनागढ़ में बर्जेस के सभी प्रसाधुओं के लिए निश्चित लगभग बीस शैलोत्कीर्ण गुफाएँ हैं जो बाबा-प्यारा-मठ की गुफाएँ कहलाती हैं। बर्जेस ने इनका वर्णन किया है। तीन पंक्तियों में बनी इन गुफाओं में गुफा ख के (चित्र ३८) के ऊपर चैत्य-गवाह-अलंकरण का आद्य रूप मिलता है। बर्जेस द्वारा वर्णित गुफा 'एक' एक आदिम कोठरी है, जिसकी छत समतल है और मूलरूप से चार स्तंभों पर आधारित है, इसका पृष्ठभाग अर्ध-वर्तुलाकार है। इस समूह की गुफा स० 'के' में दो कोठरीयाँ हैं, जिनमें उत्कीर्ण हैं मंगल-कलश और स्वस्तिक, श्रीवत्स, भद्रासन, मीनयुगल आदि चिह्न जो मथुरा के आद्याग-पटों पर मिलते हैं (रेखाचित्र ५)। इन चिह्नों से इन गुफाओं का जैन स्वरूप अंतिम रूप से सिद्ध नहीं होता क्योंकि एक कोठरी के सम्मुख इन चिह्नों के बनाने का अपूर्ण-प्रयास (कदाचित् परवर्ती) किया गया प्रतीत होता है। किन्तु रुद्रदामन के पुत्र जयदामन के पौत्र रुद्रसेन<sup>2</sup> के समय के एक स्पष्टित उत्कीर्ण शिलापट्ट (कोठरी १ के सामने भूमिगत) के मिलने से, जिसमें केवल-शान प्राप्त करनेवालों एवं कालजयी लोगों का उल्लेख है, यह पता चलता है कि कम से कम दूसरी शती ई० में इन गुफाओं पर जैन मतावलंबियों का अधिकार था।<sup>3</sup> यहाँ किन्हीं निश्चित बौद्ध चिह्नों का



रेखाचित्र ५. बाबा प्यारा की गुफा का प्रवेशद्वार (बर्जेस के अनुसार, गुफा स० 'के')

1 बर्जेस (ब्रैड्स). एण्टिक्विटीज ऑफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ. ऑफ़ यॉलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इण्डीयाइज सीरीज, २: १८७६. लंदन. पृ १३९ तथा परवर्ती। / सांकेतिका (एच डी). आर्कॉवैल्टांजी ऑफ गुजरात. १९४१. ब्रम्हदै. पृ ४२-५३।

2 मजूमदार (आर सी) तथा पुसालकर (ए डी), संपा. एज ऑफ इण्डीयाइज थूनिटी. १९६०. बम्बई. पृ ४१८ पर ए एम घट्टे ने यह सुझाया है कि वह दमयंती या रुद्रसिंह-प्रथम था।

3 बर्जेस, पूर्वोक्त। / सांकेतिका, पूर्वोक्त।

अभाव महत्वपूर्ण है। अतः यह मानना गलत नहीं होगा कि गिरनार के पास जैनों का एक विहार था।

धबला टीका के प्रणेता बीरसेनाचार्य बणित एक दिगंबर परंपरा के अनुसार महावीर-निबाणि के ६८० वर्षों पश्चात्, अर्थात् पहली शती ईसवी के अंत में या दूसरी शती में महान् जैन मुनि आचार्य धरसेन सौराष्ट्र में गिरनार (गिरनार) के समीप चन्द्रशाला गुफा में पुष्पदत्त और भूतबली के धर्मशास्त्र की शिक्षा दिया करते थे।<sup>1</sup> हीरालाल जैन ने इस गुफा की पहचान बाबा-प्यारा-मठ की गुफाओं से की है।<sup>2</sup> धरसेन से शास्त्र का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् बीरसेन ने पुष्पदत्त और भूतबली-द्वारा रचित सूत्रों पर अपनी टीका लिखी। पूर्वोक्त शिलालेख और दिगंबर परंपरा को ध्यान में रखते हुए, बाबा-प्यारा-मठ की गुफाओं का जैन धर्म से संबंधित होना स्पष्ट प्रतीत होता है। कल्पसूत्र स्थविरावली में उल्लिखित स्थविर ऋषिगुप्त से प्रारंभ होनेवाली सोरद्वियन्साहा (शाखा) से पुनः यह संकेत मिलता है कि ईसा-पूर्व लगभग दूसरी-पहली शती में सौराष्ट्र में जैन साधुओं का एक संघ विद्यमान था।

उत्तर-पश्चिम में जैन कला के संबंध में मार्क्झ का यह मत था कि सिरकप, तक्षशिला, कास्तूप (ब्लाक 'एफ') एक जैन स्तूप रहा होगा,<sup>3</sup> क्योंकि उसके ललधर की देवकुलिका में बने कला-प्रतीक दो, सिरकाले गहड़, की समता उन्हें भयुरा के आयाग-पट पर बने स्तूप शिल्पोक्तन में मिली, जिसे लोणशोभिका की पुत्री वासु ने निर्मित कराया था।<sup>4</sup> किन्तु इस स्थल के पर्याप्त उत्खनन के पश्चात् भी किसी अन्य जैन पुरावशेष के न मिलने संबंधी तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन परंपराएँ उत्तरापथ में प्रथम जैन तीर्थकर ऋषभनाथ के पुत्र बाहुबली द्वारा केवल एक धर्म-चक्र स्थापित करने का उल्लेख अवश्य करती है।<sup>5</sup> हरिमद्र कृत आवश्यक-नियुक्ति की आवश्यक-वृत्ति

1. तेण इव सोरद्व-विसय-गिरिनिभक्तपट्टण-चंदगुहा-ठिकेण ग्रहांग-महा-निमित्त-पारसेख गंध-बोच्छेष्ठो होहृदि ति जाद-नयेन पवयण-बल्छलेण दक्षिणाकहाइरिथारणम् महिमाए मिलियाणम् लेहो मेसिदो—धबला-टीका।

2. जैन (हीरालाल), भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का व्योगदान, 1962, भोपाल, पृ 41-42, 75-76, 309-10.

3. मार्क्झ (बॉल). गाहड़ हु तक्षशिला, तृतीय संस्करण, 1936, दिल्ली, पृ 88. चित्र 13. / सोतीचन्द्र, कुछ जैन अनुश्रुतियाँ और दुरात्म्ब, प्रेसी अभिमन्दन चंध, पृ 229-49.

4. योगेन (जे फ). केटेल्स आँक दि आर्यालॉजिकल म्युजियम एट भयुरा, 1910, इलाहाबाद, पृ 184 तथा परवर्ती, / वासुदेवशरण अग्रवाल ने जनैन आँक व यू पी हिस्टॉरिकल सोसायटी, 23; 1950; 69-70 में इस शिलालेख के पहले किये गये पाठ में संशोधन किया है।

5. बृहत्कल्पभाष्य, 5. गाथा 5824 चक्र वाच का उल्लेख करती है जिसकी आल्या टीकाकार ने 'उत्तरापथे धर्म-चक्रम्' की है।

टीका में तक्षशिला में धर्म-चक्र की स्थापना का जो वृत्तान्त दिया गया है उसका उल्लेख वसुदेव-हिण्डी और पउभचरित में नहीं है। इसके अतिरिक्त, दिगंबर स्रोतों में भी इस बटना का वर्णन नहीं पाया जाता। दिगंबर स्रोत बाहुबली को तक्षशिला के स्थान पर पोतनपुर से संबद्ध मानते हैं। अतएव सिरकप स्तूप का जैन धर्म से संबंधित होना तिक्ष्णत नहीं है।<sup>2</sup>

उमाकांत प्रेसानंद शाह

- 1 आवश्यकनिर्दुष्टि और उसपर हरिभद्र की टीका, J. 332 और पृ 144 तथा परवर्ती, इसमें यह वृत्तान्त आया है कि ऋषभनाथ तक्षशिला में वहलि-शब्दमिल्ल गये और वही उन्होंने वहलि के लोगों तथा यीनकों और पहलगों को धर्म का उपदेश दिया। इस वृत्तान्त के रूपों से जात होता है कि वृत्तान्त के लेखन के समय तक्षशिला बल्ल-विद्या (वहलि) प्रांत में समिलित था।
- 2 पूर्ण विवरण हेतु द्रष्टव्यः शाह (यू. पी.), स्कॉल इन जैन आद., 1955, बनारस, पृ 10 और टिप्पणी। / शाह (यू. पी.). बाहुबली : ए युनीक ब्रौज इन द स्यूजियम, बुलेटिन ग्रॉफ द प्रिम्स लॉक वेल्स स्यूजियम, डम्बर्ड, 5; 1953-54; 32, 39, चित्र 5-6.

## अध्याय ९

### दक्षिण भारत

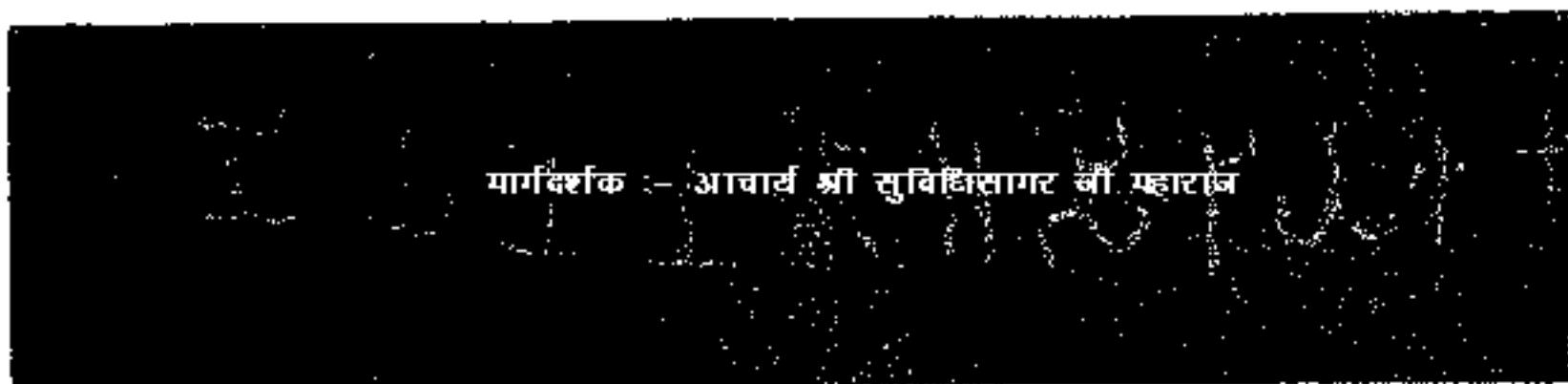
#### प्रस्तावना

दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रसार ईसा-पूर्व चौथी शती के अंतिम चरण के लगभग श्रुतकेवलों भद्रबाहु के साथ जैन समाज के आव्रज्जन से हुआ। दिगंबर परंपरा के अनुसार भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त (६०० ई० तथा परवर्ती श्रवणबेलगोल अभिलेखों में उल्लिखित प्रभाचंद्र) नामक एक राजा था। सामान्य धारणा यह है कि वह सुविळुधात मीर्य नरेश चन्द्रगुप्त ही थे। इसी परंपरा से ज्ञात होता है कि आव्रज्जन के फलस्वरूप जैन लोग कर्नाटक में श्रवणबेलगोला और वहाँ से तमिलनाडु पहुँचे थे। ऐसी मान्यता है कि तमिल क्षेत्रों में परवर्ती गतिविधि का नेतृत्व विशाखाचार्य ने किया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्रव्रज्जन का क्षेत्र उत्तर भारत (मालवा क्षेत्र) से कर्नाटक और वहाँ से तमिलनाडु की ओर रहा होगा।

इस परिपूष्ट एवं संपन्न परंपरा का उल्लेख हमें खारहवी-बारहवीं शताब्दियों तथा परवर्ती शंखों में मिलता है, जबकि इस गतिविधि का प्रथम अभिलेखाकित साक्ष्य श्रवणबेलगोल के शिलालेख से प्राप्त होता है जो ६०० ई० से पूर्व का नहीं है। इस प्रकार परंपरागत आख्यानों और उपलब्ध जैन पुरावशेषों की परस्पर संगति एक समस्या बन गयी है; क्योंकि, ६०० ईसवी से पहले के वास्तु-स्मारक तथा पुरालेखीय साक्ष्य, विशेषतः दक्षिणापथ में, प्रायः सर्वथा अनुपस्थित हैं।

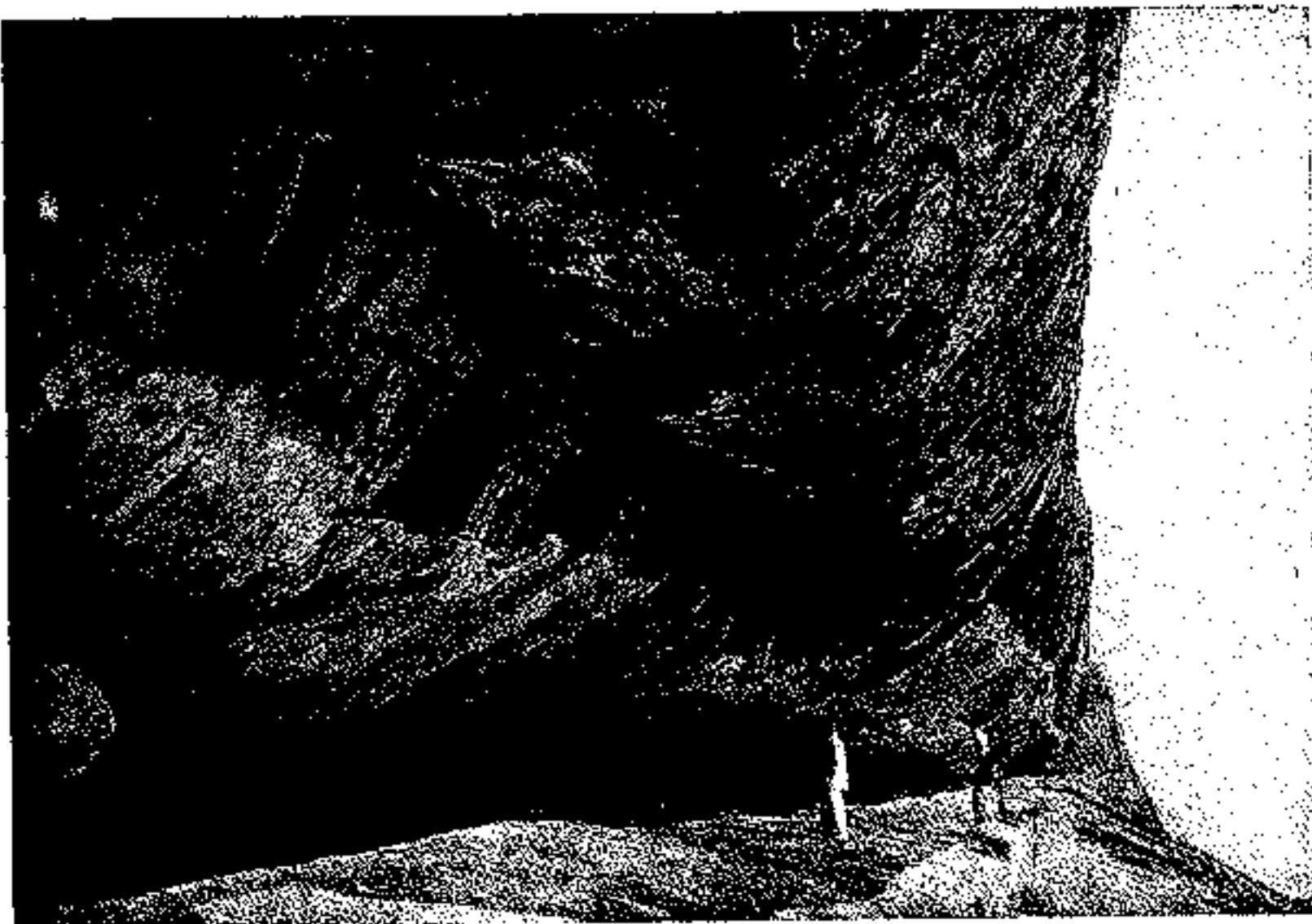
जैन धर्म के अनुयायी और ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियों के प्रथम सातवाहन नरेश सिंधुक के प्रसंग तथा शुणाह्य की बृहत्कथा आदि कुछ प्राचीन प्राकृत ग्रंथों के अतिरिक्त ऐसा कोई स्पष्ट और ऐतिहास-सम्मत प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जो प्राचीनकाल ६०० ई० तक दक्षिणापथ में जैन धर्म का अस्तित्व सिद्ध कर सके। शैलोत्कीर्ण और निमित शैलियों के जैन वास्तु-स्मारकों के अवशेष बादामी के चालुक्यों (सातवी-नौवीं शताब्दियों) तथा भलसेन के राष्ट्रकूटों (आठवीं-नौवीं शताब्दियों) के समय से मिलते हैं और ऐतिहासिक अध्ययनों में उनके उल्लेख का सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है।

आनन्द प्रदेश की स्थिति इससे अधिक भिन्न नहीं है। दक्षिण उडीसा में, जहाँ प्राचीनतम जैन शैलोत्कीर्ण गुफाएँ (खण्डगिरि-उदयगिरि पहाड़ियों पर) विद्यमान हैं, दसवीं-न्यारहवीं शताब्दियों से



पार्श्वांक — आचार्य श्री सुविद्धासागर जी महाराज

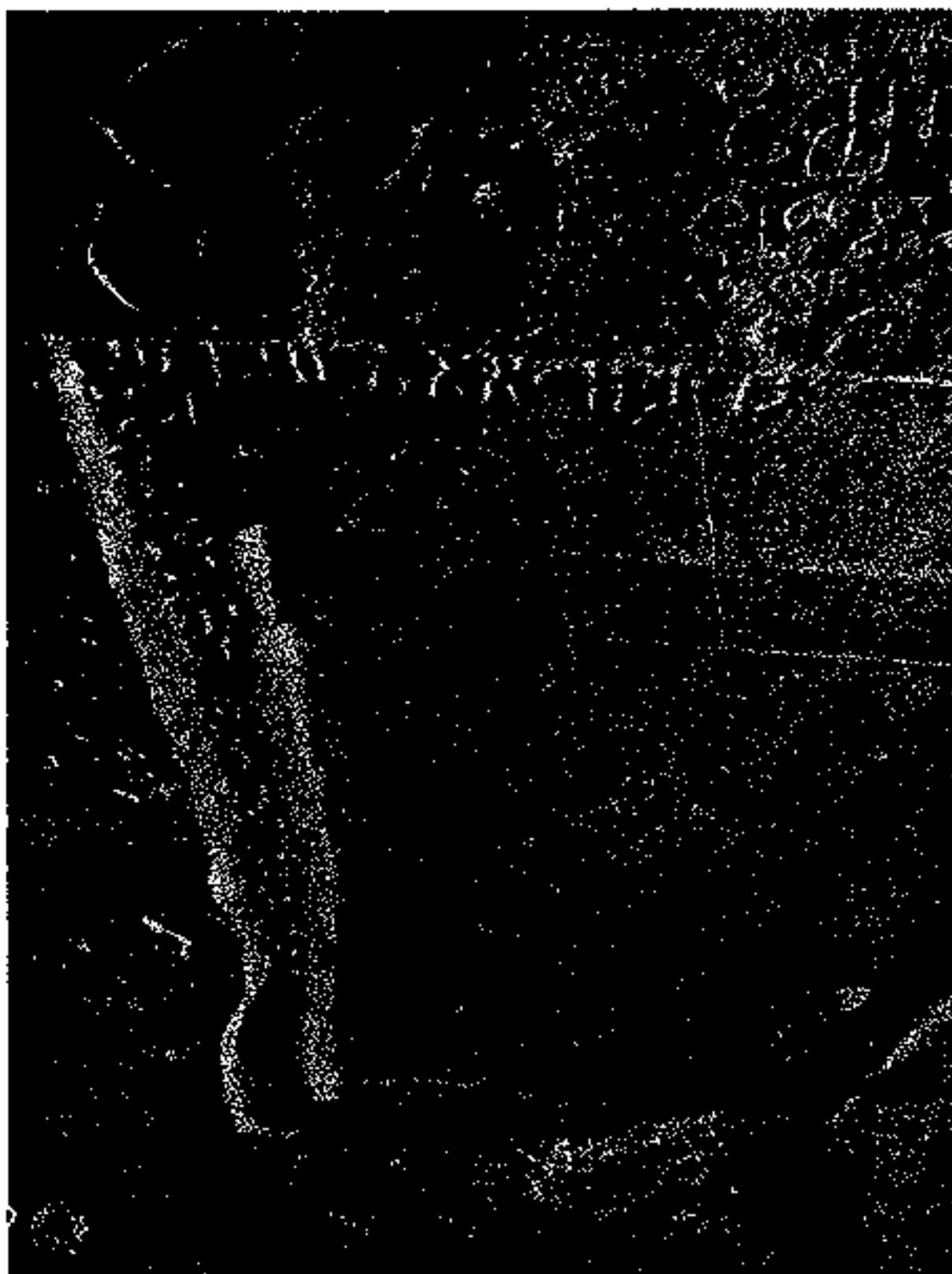
(क) मांगूलम — अभिलेख का एक अंश



(ख) दित्तश्वासल — जैन मुसियों की आवास-गुफा

वाल्यु-स्पारक एवं भूतिकला 300 ई० पू० से 300 ई०

( भाग 2

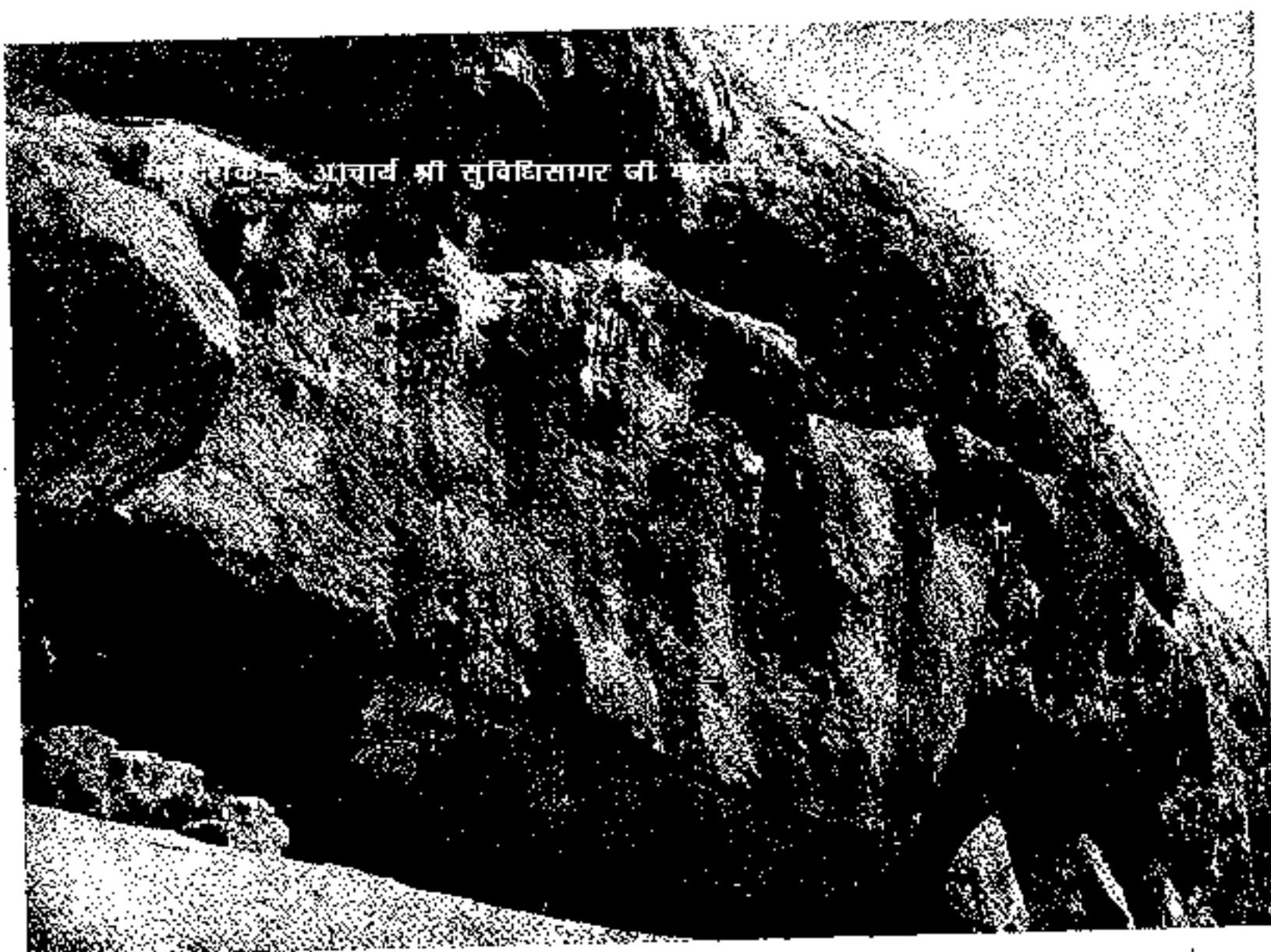


शितद्रवासन ... अभिलेखान्वित प्रस्तर-वाढ़ा



तेनिमली — जैन मूर्तियों की आवास-युक्ता, अलम पड़ी चट्टान पर उत्कीर्ण परबती शिल्पांकन

वास्तु-स्थारक एवं मूर्तिकला 300 ई० दू० से 300 ई०



पुण्यतीर — जैन मूर्तियों की आवास-गुफा

पूर्व के जैन पुरावशेष वस्तुतः बहुत कम संख्या में प्राप्त हुए हैं। दूसरी ओर ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणापथ के पश्चिमी और पूर्वी अंचलों में, बौद्धों की वास्तुशिल्पीय गतिविधि निरंतर बनी रही। पश्चिमी अंचल में यह गतिविधि ईसा-पूर्व दूसरी शती से लौटी शती ई० तक शैलोत्कीर्ण शैली में, तथा पूर्वी अंचल में ईसा-पूर्व दूसरी शती से लगभग पाँचवीं शती ई० तक निर्मित शैली में विकसित हुई।

दक्षिणापथ से तमिलनाडु की स्थिति भिन्न थी। वहाँ की पर्वत श्रेणियों में अनेक मनोहारी प्राकृतिक गुफाएँ हैं जिन्हें जैन मुनियों के आवास के योग्य बनाने के लिए उनमें प्रस्तर-शब्दायों और शिला-प्रक्षेपों का प्रावधान किया गया। विलक्षण बात यह है कि शब्दायों से युक्त ये गुफाएँ उस समय से बहुत पहले की हैं जब दक्षिणापथ में किसी जैन वास्तु-स्मारक का निर्माण किया गया होगा। समस्त तमिलनाडु में यत्र-तत्र स्थित ब्राह्मी-अभिलेखाकित ये गुफाएँ पूर्वी घाट के अनेक स्थानों, विशेष रूप से मदुरै के आसपास के क्षेत्र, में मिलती हैं।

ये आरंभिक जैन अधिष्ठान कई कारणों से महत्वपूर्ण हैं: (१) वे इस क्षेत्र के प्राचीनतम प्रस्तर-स्मारकों का प्रतिनिधित्व करते हैं, (२) ब्राह्मी लिपि में तमिल भाषा के प्राचीनतम अभिलेख उत्कीर्ण हैं और (३) वे तमिलनाडु में जैन धर्म के आरंभिक प्रसार का प्रमाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। फलस्वरूप, प्रस्तर और शैलोत्कीर्ण शैली की प्राचीनतम वास्तु-शिल्पीय गतिविधि और इस क्षेत्र में प्राप्त प्राचीनतम लेखों के अध्ययन में इनका अत्यधिक महत्व है, यद्यपि कलागत और सौदर्यगत विकास की दृष्टि से वे किसी गतिविधि का आरंभ कदाचित् ही करते हैं। तथापि, धार्मिक स्थापत्य के उपयोग में लायी गयी प्रस्तर-सामग्री का प्रबर्तन उन आद्य प्रस्तर-स्मारकों में देखा जा सकता है जो अधिकांशतः जैन हैं। इसमें कम ही संदेह है कि इन गुफाओं ने परवर्ती काल में जैन और ब्राह्मण धर्मों की उन शैलोत्कीर्ण गुफाओं का मार्ग प्रशस्त किया जो उसी क्षेत्र में विकसित हुई जहाँ ब्राह्मी अभिलेखाकित प्राचीन गुफाएँ विद्यमान हैं।

इन जैन-केन्द्रों की कुछ सामान्य विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। प्राकृतिक गुफाओं को इस प्रकार से परिवर्तित किया गया कि वे आवास के योग्य बन सकीं। कपर, बाहर की ओर लटकते हुए प्रस्तर-खण्ड को शिला-प्रक्षेप के रूप में इस प्रकार काटा गया कि उसने वर्षा के जल को बाहर निकालने तथा नीचे शरण-स्थल बनाने का काम किया। गुफाओं के भीतर शिलाओं को काटकर शब्दाएँ बनायी गयीं जिनका एक छोर तकिये के रूप में प्रयोग करने के लिए कुछ उठा हुआ रखा गया। शब्दाओं को छेनी से काट-काटकर चिकना किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ पर तो पालिश भी की गयी थी।

दाता या आवासकर्ता के नामों के उल्लेखयुक्त ब्राह्मी अभिलेख या तो शब्दाओं पर ही उत्कीर्ण हैं या कपर की ओर लटकते हुए शिला-प्रक्षेप पर।

इन गुफाओं के सामने स्तंभों पर आधारित खण्डेल की छत के रूप में अतिरिक्त निर्मण-कार्य भी किया गया था। स्तंभों को स्थिर करने के लिए उकेरे गये कोटर आज भी कुछ गुफाओं के सामने शिलाओं पर देखे जा सकते हैं। गुफाएँ प्रायः भरनों के समीप स्थित हैं; जल की सुविधा-पूर्वक प्राप्ति के लिए ही ऐसे स्थानों को चुना गया था।

इन स्थानों पर इनमें बर्देव परबर्ती काल वृथत्ति लालची-बीड़ी शताब्दियों में सूतियाँ उत्कीर्ण की गयीं जिनके साथ बट्टेजुत्तु<sup>1</sup> लिपि में अभिलेख भी मिलते हैं, जिनमें प्रसिद्ध जैन आचार्यों और कभी-कभी दाताओं के नाम का उल्लेख भी किया गया है। ये शिलांकन प्रायः प्रशिष्ठ शिला अथवा गुफा के समीप किसी सुविधाजनक स्थान या शिला पर किये गये हैं। इससे विदित होता है कि आठवीं-नवीं शताब्दियों तक ये क्षेत्र निरंतर जैनों के अधिकार में रहे। इन शताब्दियों में उन स्थानों की स्थिति में परिवर्तन हुए क्योंकि या तो उन्हें जैनों ने स्वयं भंग कर दिया या वे वलपूर्वक शैव या वैष्णव-केन्द्रों के रूप में परिवर्तित कर दिये ये। ये परिवर्तन, निस्संदेह, उस संघर्ष के परिणाम थे जो एक और बीड़ी और जैनों तथा दूसरी और इनके तथा ब्राह्मण मतों के बीच उठ खड़ा हुआ था और जिसमें भक्ति-पथ के समर्थकों ने ब्राह्मण मतों को गहरा आधात पहुँचाया। यह उल्लेखनीय है कि इस समूचे संघर्ष में, जैनों की चर्चा इन (प्रायः आठ) पर्वत-श्रेणियों के आवास-कर्ताओं के रूप में मिलती है। इनमें से अधिकांश पहाड़ियाँ मदुरै के आसपास हैं।

मदुरै के निकटवर्ती पहाड़ी क्षेत्र, कदाचित् तमिलनाडु, में जैनों के प्रमुख केन्द्र थे, क्योंकि ये वही क्षेत्र थे जहाँ अंततोगत्वा जैनों के कुछ सर्वाधिक प्रभावशाली चैत्यकास अस्तित्व में आये।<sup>2</sup> साथ ही मदुरै ही में बञ्जनन्दी ने लगभग ४७० ई० में जैनों के द्राविड़-संघ की स्थापना की थी।

इस क्षेत्र में जैन ईसा-पूर्व दूसरी शती तक पहुँच चुके होंगे (मांगुलम् के प्राचीनतम् ब्राह्मी अभिलेखों का यही समय माना गया है)। कनाटिक से आरंभ होकर इस यात्रा का मार्ग कोंगुदेश (कोयंबतूर क्षेत्र) की पर्वत-श्रेणियों, तिरुच्चिरापल्लि के पश्चिमी क्षेत्र और वहाँ से पुढ़क्कोट्टै के दक्षिण से होता हुआ मदुरै की पर्वत-श्रेणियों अथवा कनाटिक की पहाड़ियों से मदुरै तक का विशाल क्षेत्र माना जा सकता है। तोण्डैमण्डलम् (चिरलपट, उत्तर अकाट और दक्षिण अकाट ज़िले) की पर्वत-श्रेणियों में अवस्थित प्रस्तर-शय्याओं से युक्त गुफाओं से प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे कुछ जैन तमिलनाडु के उत्तरी अंचलों में भी पहुँचे थे। चोलदेश में तिरुच्चिरापल्लि और कावेरी के कछारों के पश्चिमी तटों को छोड़कर तोण्डैमण्डलम् के दक्षिण और पाण्ड्य राज्य के उत्तर में जैनों के प्रवेश के प्रमाण कम ही मिलते हैं।

1 बट्टेजुत्तु एक प्रकार की धीरा लिखी जानेवाली लिपि है जो दक्षिणी क्षेत्र में ब्राह्मी से विकसित हुई।

2 द्रष्टव्यः परबर्ती पृ. 101 पर मुकुप्पद्धिट् (समणरम्भ) के अंतर्मंत।

सज्जम् साहित्य के नाम से ज्ञात तत्कालीन तमिल साहित्य जैनों और उनकी आचार-संहिता के लिए विख्यात है। जैनों की उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि, उनके दर्शन और सिद्धांतों का परिचय हमें शिल्पदिकारम् और मणिमेखलै नामक महाकाव्यों में ही देखने को मिलता है, जो लगभग पाँचवीं-छठी शती ई० के माने जा सकते हैं। यद्यपि, इन महाकाव्यों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में सतभेद है। कुछ विद्वान् सज्जम् साहित्य मानकर इन महाकाव्यों को दूसरी शती ई० की रचनाएँ मानते हैं तो कुछ उन्हें आठवीं शती ई० जैसे परवर्ती काल का बताते हैं।

शिल्पदिकारम् में स्पष्ट प्रमाण है, कि कावेरिपूम्पट्टिणम् जैसे महत्वपूर्ण नगरों और चेर देश (केरल) में जैन मंदिर विद्यमान थे। उपर्युक्त साहित्य के अनुसार ये निमित शैली के मंदिर थे और उनके निर्माण में ईट, गारा और लकड़ी आदि सामग्री का उपयोग हुआ था जैसा कि सामान्यतः इस क्षेत्र में सातवीं शती के पूर्व तक होता रहा था।

शिल्पदिकारम् में एक ऐसी संस्था का उल्लेख है जिसका महत्व और प्राचीनता ध्यान देने योग्य है। इस संस्था को गुणवायिकोट्टम् (एक मंदिर विशेष ?) कहते थे और वह चेर देश में स्थित बतायी गयी है। इलज्जी अडिगल जो इस महाकाव्य का लेखक था, एक चेर राजकुमार था जिसने चेर के राजसिंहासन पर से अपना उत्तराधिकार छोड़कर संन्यास ले लिया था। संभवतः जैन दीक्षा लेकर वह गुणवायिकोट्टम् की सन्तियि में रहते रहा था। हाल ही में इस कोट्टम् की स्थिति चेर क्षेत्र में सिद्ध करने के प्रयत्न किये गये हैं और संयोगवश, इस महाकाव्य का रचनाकाल अब आठवीं शती बताया गया है।<sup>1</sup> यद्यपि, यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि इस महाकाव्य से व्यक्त होनेवाले जैन प्रभाव की प्रकृति और इसमें उल्लिखित जैन संस्थाओं के विशेष विवरणों से यह अत्यंत असंभव लगता है कि ऐसी कोई संस्था उस समय अस्तित्व में आयी हो जब सातवीं शती का धार्मिक संघर्ष समाप्त ही हुआ था। यह भी नहीं लगता कि वह सातवीं-आठवीं शताब्दियों में हुए ब्राह्मण-विद्रोह के चातक परिणामों से स्वयं को किसी असाधारण सीमा तक सुरक्षित रख सकी हो। दूसरी ओर, यह बहुत संभव है कि मूल रूप में यह मंदिर ईट और गारे से बनाया गया हो और बाद में उसे पाषाण से पुनर्निर्मित कर दिया गया हो, जिसके खण्डहर मध्य केरल के कोडुगल्लूर (केंगनोर) के समीप कुनवाय नामक स्थान पर स्थित माने जाते हैं।

आंतरिक काल के मंदिरों या चैत्यवासों जैसे किन्हीं महत्वपूर्ण जैन स्मारकों के अभाव में, शश्याओं से युक्त और ब्राह्मी-अभिलेखांकित इन प्राकृतिक गृफाओं का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि तमिलनाडु में इस काल के स्मारकों में केवल इन्हीं पर तिथि अंकित है।

<sup>1</sup> नारायणन् (एम जी एस), न्यू लाइट ग्रॉन कुण्डवायिरकोट्टम् एण्ड द डेट ऑफ शिल्पदिकारम्, जनवरी 1970; 48; 1970; 69। तथा परवर्ती।

इन प्रतिष्ठानों के लिए ब्राह्मी अभिलेखों में जो संज्ञाएँ मिलती हैं वे हैं—पाजि (गुफा), पल्लि (गुफा और व्यापक अर्थ में विद्यालय), अतिद्वानग् (आलन या शब्द्या) और कंचणम् (शब्द्या)। कूर (छत), पिण्ड (पर्ण) और मुशगी (व्यावरण) आदि स्थापत्य-विषयक शब्दों का प्रयोग भी हुआ है।

इन स्थानों से जुड़ी हुई असमंजस में डालमेवाली एक ऐसी परंपरा भी है जो उनका संबंध पाँच पाण्डव वीरों से जोड़ती है। दक्षिण भारत में ऐसे सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थानों का, जहाँ पुरावशेष विद्यमान हैं, स्थानीय अनुभूतियों के अनुसार महाकाव्यों की घटनाओं से वास्तव में अत्यंत चनिष्ठ संबंध है। यह तथ्य ब्राह्मण केन्द्रों के विषय में भी उतना ही सच है जितना कि जैन और बौद्ध स्थानों के विषय में। इसीलिए, ये पहाड़ियाँ और उनकी गुफाएँ, शब्द्याएँ और निर्भर सामान्यतः स्थानीय बोली में पञ्चपाण्डवमलै, पञ्चपाण्डवर टिप्प (या कुट्ट), पञ्चपाण्डवर पडुकै, ऐवशु नै आदि के नाम से जाने जाते हैं।



मदुरै तालुक :

#### गुफाओं का विवरण

मदुरै जिला

१—प्रान्तमलै (ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियाँ)—वर्गे नदी के सभीप स्थित इस ग्राम में एक प्राकृतिक गुफा है जिसमें एक ब्राह्मी अभिलेख है। इसमें कई शब्द्याओं के उत्कीर्ण किये जाने का उल्लेख है। गुफा की विशाल प्रक्षिप्त शिला पर जैन तीर्थकरों तथा सिद्धायिका यक्षी की परवर्ती काल की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। अभिलेख की बट्टेजुत्तु लिपि में आठवीं-नौवीं शताब्दियों के विस्थात जैनाचार्यों में से एक अज्जणन्दि का भी उल्लेख है।

यह ब्राह्मी अभिलेख ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों का माना गया है।

२—अरिद्वापटि (ईसा-पूर्व द्वितीय — प्रथम शताब्दियाँ)—अजगरकोयिल के मार्ग में भेलूर से आठ किलोमीटर पर अरिद्वापटि नामक ग्राम है। ग्राम में एक पहाड़ी है, जिसे वहाँ कंजिजमलै कहते हैं। पहाड़ी के पूर्वी भाग में एक गुफा है जिसके शिला-प्रक्षेप पर एक परनाला उकेरा हुआ है। गुफा के शीर्ष पर उत्कीर्ण एक ब्राह्मी अभिलेख में उल्लेख है कि उस गुफा का दान नेत्रेलि<sup>1</sup> के

1 रामन् (के बी) तथा सुव्वरायलू (वाइ). ५ अ० तमिल ब्राह्मी इस्त्रिक्षान इन अरिद्वापटि, जर्नल ऑफ इण्डियन हिल्ट्री, 49; 1971; 229-32।

चक्रिवर्न अतमन् औलिङ्गने ने किया था। इस अभिलेख में एक मुख्य अर्थात् धूप और पानी से बचाव के लिए गुफा के सामने लकड़ी की बलिलयों और ताढ़पत्रों से बने हुए एक अस्थायी छप्पर के निर्माण का रोचक उल्लेख है।

यहाँ अज्जणन्दि की एक मूर्ति है, जिसपर उत्कीर्ण एक परवर्ती वट्ठेजुत्तु अभिलेख में उनके नाम का उल्लेख है।

**३—मांगुलम्** (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियों) —यह ग्राम अरिट्रापट्टि के समीप है और यहाँ की पहाड़ी कजुगुमलै कहलाती है। पहाड़ी पर गुफाएँ हैं जिनमें चैलोल्कीर्ण शब्द्याएँ और छह ब्राह्मी अभिलेख हैं। इनमें से चार अभिलेखों में जैन आचार्य कणिनन्द का नाम आया है। प्राचीनतम् ब्राह्मी अभिलेख संभवतः यहाँ हैं और इनकी पुरातिष्ठि के आधार पर तथा एक प्राचीन पाण्ड्य नेहुञ्जियन् के संदर्भ के कारण इनका समय ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियों माना गया है (चित्र ३६ क.)।

इनमें से एक अभिलेख में उल्लेख है कि वेल-आरे नामक स्थान से आये किसी निराम के एक व्यापारी ने जाली (पर्ण ? ; पिण-ऊ) बनवायी।

**४—मुत्तुप्पट्टि** (समणरमले) (ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों) —मदुरे के पश्चिम में आठ किलोमीटर दूर, पूर्व-पश्चिम तीन किलोमीटर फैली हुई चट्टानी पहाड़ियों की एक श्रेणी समणरमले (समणों या जैतों की पहाड़ी) कहलाती है। इन पहाड़ियों का दक्षिण-पश्चिमी छोर कीजकुयिलकुड़ि (कीजककुड़ि) ग्राम के सामने और उत्तर-पश्चिमी छोर मुत्तुप्पट्टि ग्राम के निकट पड़ता है। इन पहाड़ियों पर विभिन्न स्थानों पर शब्द्याओं और ब्राह्मी अभिलेखों सहित अनेक गुफाएँ हैं। पहाड़ियों पर आठवीं-नवीं शताब्दियों की वट्ठेजुत्तु लिपि में अभिलेखांकित परवर्ती जैन मूर्तियाँ मिलती हैं।

मुत्तुप्पट्टि के पास की गुफाओं में शब्द्याएँ हैं जिन्हें स्थानीय बोली में पंच-पांडवर-पड़ुक्के कहते हैं। इनके ब्राह्मी अभिलेखों में आवासकर्ताओं और दाताओं के नामों का उल्लेख है। आठवीं-नवीं शताब्दियों की मूर्तियाँ महावीर, उनके अनुचरों और उनके देव-देवियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

कीजककुड़ि के समीप पेच्चपल्लम् और पेट्टिप्पोडलु नामक दो गुफाएँ हैं। इनमें से दूसरी कोंगर पुलियंगुलम् नामक ग्राम के सामने स्थित है। कोंगर पुलियंगुलम् (सेतिप्पोडवु गुफा) के ब्राह्मी अभिलेख रोचक हैं, क्योंकि उनमें उल्लेख है कि गुफा की रक्षा के लिए कूर या वितान, पत्तों और घास-फूस का उपयोग किया गया। यहाँ की और पेच्चपल्लम् की आठवीं / नवीं शताब्दी की मूर्तियों में पाश्वनाथ तथा अन्य तीर्थकरों और अंबिका, अविता, आदि दक्षियों की मूर्तियाँ हैं। उनमें प्रख्यात जैनाचार्य अज्जणन्दि की मूर्ति भी है।

समणरमलै नामक पहाड़ियों की पूरी श्रेणी वेष्टनाडु में स्थित कुरण्ड के तिरुकाट्टाम्पलिल नामक जैन विहारों का केन्द्र रही, जैसा कि नौवीं और परवर्ती शताब्दियों के अभिलेखों से ज्ञात होता है। तमिलनाडु के चैत्यवासों में यह कदाचित् सबसे बड़ा था, क्योंकि इस प्रतिष्ठान के सदस्यों का उल्लेख सुदूर दक्षिण में चित्राल या त्रिवेन्द्रम के दक्षिण में तिरुचराणन्तुमलै तक और सुदूर उत्तर के उत्तर श्रकाट जिले में स्थित करण्डे तक के अभिलेखों में मिलता है।

**५—तिरुपरकुरम्** (ईसा-पूर्व द्वितीय शती से द्वितीय शती ई० तक) —यह स्थान सुब्रह्मण्य की पूजा के लिए विख्यात है और यहाँ एक पाण्ड्यकालीन (नौवीं शती) शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर के सम्बन्ध निर्माण किये गये भवनों का विशाल समूह विद्यमान है। इस पहाड़ी पर सर्वप्रथम जैनों का आवास था। पहाड़ी के एक अन्य भाग में सर्वती तीर्थ नामक एक बहुत ऊँचे स्थान पर शश्याओं सहित प्राचुर्यिक-गुफाएँ विद्यमान हैं। उनमें जार हाथी अभिलेख है, जिनमें से एक इसलिए महत्व का है कि उसमें उल्लेख है कि श्रीलंका के एक गृहस्थ ने इस प्रतिष्ठान का निर्माण कराया था। इस गुफा के सभी प्राचीन विद्यमान बाहुबली और पार्वतनाथ की मूर्तियाँ, अन्य मूर्तियों की भूति आठवीं-नौवीं शताब्दियों की हैं।

**६—वरिच्चियुर (कुम्भतूर)** (ईसा-पूर्व द्वितीय शती से द्वितीय शती ई० तक) —वरिच्चियुर में इस पहाड़ी पर तीन अभिलेखों में प्रस्तर-शश्याओं का कच्छण (शश्या या आवास) के रूप में उल्लेख है। परजि (या पल्लि) वह शब्द है, जो गुफा या कंदरा के लिए इन सभी प्राचीन अभिलेखों में सामान्यतः पाया जाता है। इन दोनों शब्दों का प्रयोग कालांतर में जैनों के (और बौद्धों के भी) चैत्यवास या किसी धार्मिक प्रतिष्ठान के अर्थ में होने लगा। पल्लि शब्द का भी अर्थ-विस्तार हुआ और उससे विद्यालय या शैक्षणिक संस्थान का बोध होने लगा। प्राचीन भारत में जैनों और बौद्धों की प्रसिद्ध महान् शिक्षाशास्त्रियों के रूप में भी रही है।

#### मेलूर तालुक :

**७—अजगरमलै** (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ) —पञ्चपाण्डव शश्याएँ और ब्राह्मी अभिलेख अजगरमलै (प्राचीन तमिल साहित्य का इरुन्कुनूरम) में भी प्राप्त हुए हैं। इस स्थान ने कालांतर में मुरुग (सुब्रह्मण्यम्) और विष्णु की पूजा के एक प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में पवित्र विकास किया। इस प्रकार के जैन प्रतिष्ठानों का ब्राह्मण प्रतिष्ठानों के रूप में परिवर्तन तमिलनाडु के प्रायः सभी जैन (और कुछ बौद्ध) प्रतिष्ठानों के लिए एक साधारण-सी बात बन गयी थी। अजगरमलै की जैन मूर्तियों (आठवीं-नौवीं शताब्दियों) में से एक जैन आचार्य अज्जणन्दि की है।

**८—करुणालक्कुडि** (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ) —पञ्चपाण्डव रकुट्टु नामक पहाड़ी पर स्थित इस ग्राम में शश्याओं से युक्त गुफाएँ मिली हैं। यहाँ के एक ब्राह्मी अभिलेख में गुफा के लिए यालि शब्द का प्रयोग हुआ है।

९—कीजुवलवु (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ) — कीजुवलवु की पंचपाण्डवमलै में विशाल चट्टानें और गुफाएँ हैं। यहाँ के ज्ञाही अभिलेख में तोष्टि के एक श्रावक छारा इस चैत्यबास की स्थापना का उल्लेख है।

१०—तिरुवादवूर (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ) — इस ग्राम में भी ज्ञाही अभिलेखांकित गुफाएँ हैं।

#### तिरुमंगलम् तालुक :

११—विकिरभगलम् (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ) — नागमलै नामक स्थान पर गुफाओं और शश्याओं सहित उण्डानकल्लु नामक एक विशाल चट्टान है, जिसके ज्ञाही अभिलेखों में उन लोगों के नाम आये हैं, जो इन गुफाओं में रहते थे या जिन्होंने उनका दान किया।

#### नीलकोट्टै तालुक :

१२—मेट्टुपट्टि (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ) — इस ग्राम की सिद्धरमलै (सिद्धों की पहाड़ी) नामक पहाड़ी पर शश्याओं युक्त गुफाएँ हैं। चट्टान के शश्याओं युक्त निचले भाग को कमल की पंखुडियों का-सा आकार दे दिया गया है। इसी पीठ पर एक वृत्त के भीतर चरण-युगल उत्कीर्ण है, जिसके बीच में एक कमल बना है। कहा जाता है, ये चरण तांत्रिक भूत के व्याख्याता सहजानन्दनाथ के हैं (?)।<sup>1</sup> यहाँ ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियों के, दाताओं के नामोलेख सहित नी ज्ञाही अभिलेख हैं।

भद्रूरै जिले के उत्तमपलैयम्, ऐवरमलै (ऐयम्पलम्यम्), कुप्पलनत्तम् (पीयरमलै) और पलनि (पंचवन्म्पादुककै) की पहाड़ियों पर भी ज्ञाही शश्याओं सहित या ज्ञाहीन गुफाएँ हैं। इन स्थानों के ज्ञाही अभिलेखों की कोई सूचना नहीं है, तथापि वहाँ विद्यमान आठवीं-नौवीं शताब्दियों की मूर्तियों से स्पष्ट है कि ये स्थान जैनों से संबंधित हैं।

#### रामनाथपुरम् जिला

१३-१४—पिलैयपत्ति (पाँचवीं शती ई०) और कुलकुलि (इला की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ) — उपर्युक्त जिले के तिरुप्पत्तुर तालुक में स्थित हैं, इनमें ज्ञाही अभिलेख हैं पर दोनों ही स्थानों के मुका-मंदिर शैलोत्कीर्ण हैं और दोनों ही शैवमत से संबंध रखते हैं; जैनों से उनके प्राचीन संबंधों का प्रमाण बहुत ही कम मिलता है।

१ एनुआल रिपोर्ट आंन साउथ इण्डियन एपिफ्रामी\* 1907-08, भाग 2, अनुच्छेद 99, अभिलेख 1908 का 47. (\*आने के पृष्ठों में एम० ई० आर० के नाम से उल्लिखित).

### तिरुनेल्वेलि ज़िला

१५-१६—मरुकलतली (निवलप्पेरि) (ईसा-गुर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ) और वीर-शिखामणि तिरुनेल्वेलि तालुक में स्थित हैं, उनमें शाय्याओं और आहुरी अभिलेखों से युक्त गुफाएँ हैं। मरुकलतली अभिलेख में प्रस्तर-शय्या के लिए कंचनम् शब्द का प्रयोग हुआ है। वीरशिखामणि में प्रस्तर-शय्याओं के अतिरिक्त एक चरण-युगल भी है जो एक वर्ग के भीतर कमल पर उत्कीर्ण है। एक परवर्ती अभिलेख<sup>1</sup> के अनुसार यह चरण युगल भी सहजानन्दनाथ का है।

तिरुनेल्वेलि ज़िले के सेन्टमरम्, भलैयदिवकुरिच्चि और तिरुमलैपुरम् में भी कुछ प्रस्तर शय्याएँ और जैन मूलियाँ होने की सूचना मिली हैं।

### तिरुचिच्चरप्पलिलि ज़िला

१७—तिरुचिच्चरप्पलिलि (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ)—तिरुचिच्चरप्पलिलि में सुनहरी चट्टान नामक पहाड़ी पर शय्याओं से युक्त एक गुफा है। पलिलि शब्द का प्रयोग इस संदर्भ में स्थानवाची नाम के प्रत्यय के रूप में हुआ माना जा सकता है, जो इसके आरंभिक जैन संबंधों के कारण बन पड़ा है, क्योंकि यह शब्द सभी जैन प्रतिष्ठानों, विशेषतः विद्यालयों, के लिए प्रयोग में आया है। प्रस्तर-शय्याओं में से एक पर आहुरी अभिलेख है, जिसे संदेह के साथ चेण्कायपन्<sup>2</sup> पड़ा गया है।

यहाँ शैव मत के सातवीं शती के गुफा-मंदिर हैं और इन गुफाओं का निर्माण पल्लव शासक महेन्द्र वर्मन् (लगभग ५८०-६३०) के द्वारा किया गया भाना गया है। यदि यह परंपरा सही है कि यह पल्लव शासक जैन से शैव हो गया था और तिरुचिच्चरप्पलिलि के शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर उसके द्वारा उत्कीर्ण कराये गये मंदिरों में से प्राचीनतम हैं तो यह केन्द्र उन स्थानों में से एक भाना जायेगा जहाँ कालांतर में जैन प्रतिष्ठानों को शैव और वैष्णव प्रतिष्ठानों के रूप में परिवर्तित किया गया था उनके स्थान पर शैव और वैष्णव प्रतिष्ठान निर्मित किये गये।

१८—तिरुचिच्चरप्पलिलि ज़िले के कुलितालैं तालुक में स्थित विवयम् में पाँच मीटर ऊँची एक सुनदक्कपरै नामक अद्भुत चट्टान है। उसमें एक पंक्ति में उत्कीर्ण पाँच शय्याएँ हैं। उसकी एक छोटी पर एक चतुर्ज्ञोण पीठिका है, जिसपर महाबीर और उनके अनुचरों की परवर्ती मूलियाँ उत्कीर्ण हैं। कुछ परवर्ती अभिलेख भी हैं, जिनमें जैन आचार्यों के नामों का उल्लेख है।<sup>3</sup>

1 ई० ई० आर०, 1907-08. भाग 2. अनुच्छेद 20. 1908 का 42.

2 महादेवन् (शाई). कांपूस योंक समिल आहुरी इंसिप्संस. 1966. महाराष्ट्र, पृ 11.

3 1913 का 50.

१६—शितश्वासल (ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियाँ)---इन प्राचीन जैन प्रतिष्ठानों (चित्र १६ ख) में सर्वाधिक उल्लेखनीय और ईसा-पूर्व द्वितीय शती से नौवीं शती ई० तक निरंतर जैनों के प्रभुत्व में रहा एक प्रतिष्ठान शितश्वासल है जो तिरुच्चिरप्पलिल ज़िले (भूतपूर्व पुदुक्कोट्टै रियासत) के तिरुमयम् तालुक में स्थित में है।

स्थानीय पहाड़ी पर एतदिप्तम् नामक एक प्राकृतिक गुफा है, उससे लगे हुए सात ऐसे चौकोर गढ़े हैं जो गुफा तक पहुँचने में लीढ़ियों का काम करते हैं। वितान का काम देवेवाली ऊपरी प्रक्षिप्त शिला से इस गुफा की लम्बाई बढ़ गयी है। प्रस्तर-शब्दाएँ छेनी से चिकनी की गयी हैं। एक शब्द के समीप लगभग ईसा-पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दियों का एक ब्राह्मी अभिलेख (चित्र ४०) है। उसमें एरुभिसाटु (कर्नाटक क्षेत्र ?) के कुमलूर में उत्पन्न किसी काविटु-इतेष्ण नामक वृक्ष के लिए विष्वदिव्य इजापरे आरु वर्तिट्ट-अणम् (शब्द या आसन) के बनाये जाने का उल्लेख है।

पहाड़ी की दूसरी ओर, उक्त प्राकृतिक गुफा से नीचे के स्थान पर जैन मठ का एक गुफा-मंदिर है (दृष्टव्य : अध्याय १६)। मूलतः सातवीं शती में उत्कीर्ण किये गये इस गुफा-मंदिर का नौवीं शती में नवीनीकरण तथा पुनः अलंकरण किया गया, जिससे शात होता है कि यह जैनकेन्द्र निरंतर एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय तक महत्वपूर्ण रहा।

२०—नर्तमले—शितश्वासल के उत्तर में नर्तमले के समीप तीन पहाड़ियों का एक और समूह है जिनमें से एक का नाम अम्बचलम् पहाड़ी (या अलुरुत्तमले) है। गुफा के ऊपर की प्रक्षिप्त शिला पर पालिशयुक्त शब्दाएँ और सातवीं-नौवीं शताब्दियों की परवर्ती जैन मूर्तियाँ हैं।

२१—तेनिमले (तेनुर्मले)—उसी क्षेत्र में एक अन्य पहाड़ी है तेनिमले, जिसके पूर्वी भाग में एक अन्दर-मदम् नामक प्राकृतिक गुफा है, जहाँ प्राचीन काल में जैन भूनि तपस्या किया करते थे। इस गुफा के पासबंद में सातवीं-नौवीं शताब्दियों की कुछ जैन मूर्तियाँ हैं (चित्र ४१)।

#### करुर तालुक :

२२—पुगलूर (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ ?) पुगलूर में अरुनलर पहाड़ी पर शब्दाओं से युक्त गुफाएँ हैं (चित्र ४२)। इन शब्दाओं के उष्णीष पर बारह छोटे ब्राह्मी अभिलेख उत्कीर्ण हैं। एक चेर राजकुमार के द्वारा बनवाये गये अधिष्ठान या आवासगृह का दाता के रूप में यार्हर के एक अमण्ड (दिगंबर जैन साधु) चेरिकायमन् का उक्त अभिलेखों में से तीन में उल्लेख है। इन अभिलेखों का समय ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ माना गया है। ये और कोयम्बतूर ज़िले के अरच्चलु के तीन अभिलेख कर्नाटक से तमिलनाडु, विशेषतः मदुरै क्षेत्र की ओर, जानेवाले पार्श्व पर स्थित कोंगुदेश (वर्तमान कोयम्बतूर, इरोद, सलेम और करुर क्षेत्र) के प्राचीन अभिलेखों में विशेष

महत्व के हैं। तथापि, यह आश्चर्यजनक है कि यहाँ के बाह्यी अभिलेखों का समय मदुरै के अभिलेखों से बाद का माना जाता है। यह आशंका बहुत तर्कसंगत होगी कि अलग-अलग अक्षरों के विकास की अवस्थाओं का बोध करानेवाले इन बाह्यी अभिलेखों का समर्याकन अन्य ऐतिहासिक और भौगोलिक आधारों को महत्व न देते हुए केवल पुरालिपि-विज्ञान के आधार पर विश्वसनीय है या नहीं। यह सुझाव उपयुक्त होगा कि पाण्ड्य राज्य के मध्यभाग की ओर बढ़ते हुए जैन इन पहाड़ियों के परिसर में ठहरे थे।

२३—आखन्तर पहाड़ी के लगभग १० किलोमीटर दूर अर्धनारीफलैयम् नामक स्थान है, जिसमें एक चट्टान पर छेनी से शब्दाएँ उत्कीर्ण की हुई हैं। इस चट्टान के पास्त्र में ऐवरसुनै (पाँचों का स्रोत)<sup>1</sup> नामक एक जलस्रोत है।

#### कोयम्बत्तूर जिला

##### इरोद तालुक :

२४—अरच्चलूर (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ) — अरच्चलूर के बाह्यी अभिलेखों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उनमें से एक दाता के रूप में तेवन् चाटून् नामक जौहरी का नाम आता है।

#### उत्तर अकाट जिला

##### चेय्यर तालुक :

२५—ममन्दुर (ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दियाँ) — यह उन स्थानों में से है, जहाँ के प्राचीन जैन ब्रतिष्ठानों को या तो नवा आकार दिया गया या वे शैव रूप में परिवर्तित कर दिये गये। एकमात्र बाह्यी अभिलेखमुक्त यह गुफा स्थानीय पहाड़ी की दुर्घट ऊँचाई पर स्थित है और अभिलेख में उल्लेख है उस राजा का, जिसने तेनूर परम्पराधिपत्य किया और उस तचन (राजगीर) का, जिसने इस कुण्ड या पहाड़ी को काटा। विशेष महत्व तो इस पहाड़ी के शैलोट्कीर्ण गुफा-भंदिरों का है, जिनका समय महेन्द्रवर्मन-प्रथम का शासनकाल माना जा सकता है, जिसके जैन धर्म से शैव धर्म में परिवर्तित होने का आधार तेवारम् तथा शैवों के संस-अरित-साहित्य की परिपुष्ट परंपरा में विद्यमान है।

२६—उत्तर अकाट जिले के सेद्दुरमपत्तु में भी प्रस्तर-शब्दाएँ हैं, जिनपर प्रक्षिप्त शिला वितान की भाँति ढायी हुई हैं। इनमें से एक शब्दा पर उत्कीर्ण एक त्रिच्छत्र से इस स्थान का जैन संबंध निस्संदेह रूप से सिद्ध होता है।<sup>2</sup>

1 एम० है० आर०, 1927-28, भाग 2, अनुच्छेद 1.

2 एम० है० आर०, 1939-40 से 1942-43, भाग 2, अनुच्छेद 158.

### कश्मीर श्रक्षण जिला

२७—तिरुनाथरकुण्ठ (सिरुकदम्बुर) (पाँचवीं शती ई०) —इस ग्राम की एक विशाल शिला पर चौबीस तीर्थीकरों की बहुत-सी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। लगभग पाँचवीं शती—संक्रमण-काल—के दो परवर्ती बाहुदी अभिलेख हैं, जिनमें चम्दिरनन्द और इलयपडारन् नामक दो जैन आचार्यों की निषिधियों का उल्लेख है, जिन्होंने क्रमशः सत्तावन और तीस दिन का उपवास किया।

२८—सोलवन्दिपुरम् में जैन देवताओं की मूर्तियाँ सहित चट्टानों का एक अन्दमलै नामक समूह है। कुछ प्रस्तर शब्दाएँ हैं, पर उनपर कोई अभिलेख नहीं है।

### चित्तूर जिला (आन्ध्र प्रदेश)

प्राचीन तमिलनाडु के सुदूर उत्तरी भाग में (जो अब आन्ध्र प्रदेश का भाग बन गया है) कश्मिरपुरम् और नगरी नामक स्थानों पर पञ्चपाण्डव शब्दाओं सहित कुछ शुकाएँ हैं। इन स्थानों से कोई अभिलेख नहीं मिला है।

रं० चम्पकलक्ष्मी

भाग 3

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला

300 से 600 ई०

## आध्याय 10

### मथुरा

#### उपलब्ध सामग्री

बौद्धी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में गुप्त-शासकों के प्रादुर्भाव के साथ ही जैन कला और स्थापत्य को मथुरा में गहरा ध्वनि लगा प्रतीत होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ एक और पूर्व-गुप्तकालीन लाल चिह्निदार बलुए पत्थर की अनेकों तीर्थकर मूर्तियाँ, आयाम-पट, चैत्य-स्तंभ, वेदिका-स्तंभ, उष्णीष-स्तंभ सरदल और शिल्पीयों द्वारा बनाए गए होते हैं, वहीं दूसरी ओर गुप्तकाल में इस प्रकार की कलाकृतियों की संख्या में आइच्छेजनक कमी हुई है। पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा (पु० सं० म०) और राज्य संग्रहालय, लखनऊ (रा० सं० ल०) में जहाँ मथुरा के अधिकांश पुरावशेष संग्रहीत हैं, कमशः केवल अड़तीस और इक्कीस ऐसी जैन सूतियाँ संग्रहीत हैं, जिन्हें निश्चय रूप से गुप्त-युगीन कहा जा सकता है। इस प्रकार की कितनी सूतियाँ इस देश के अन्य संग्रहालयों में तथा किसी विदेशी में हैं, इसकी ठीक-ठीक सूचना सुगमता से उपलब्ध नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल की मथुरा-कलाकृतियाँ पर्याप्त संख्या में कहीं भी नहीं हैं।

गुप्त-काल की वास्तु-कलाकृतियों की स्थिति और भी शोकनीय है। लखनऊ या मथुरा संग्रहालय में से किसी में एक भी महत्वपूर्ण जैन कृति नहीं है। और न वहाँ मृण्मूर्तियाँ ही हैं।

उक्त तथ्यों के कारण स्वाभाविक रूप से ही यह विश्वास करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि कुषाणकाल के पश्चात्, मथुरा में जैन धर्म को पर्याप्त क्षसि उठानी पड़ी, किन्तु इसके क्या कारण थे, यह बता सकना कठिन है। यह विवरण तो प्राप्त होता है कि जैनों और बौद्धों में वाद-विवाद हुआ था, जिसमें जैनों की विजय हुई थी।<sup>1</sup> यदि जैनों की यह विजय तात्कालिक रही हो और गुप्त-काल में बौद्ध मथुरा में पर्याप्त प्रभावशाली भी थे, तो भी यह वाद-विवाद जैन धर्म की जड़ों को हानि नहीं पहुँचा सकता था।

<sup>1</sup> व्यवहारभाष्य, 5,27,28. / जिनप्रभ. विविध-कल्पसूत्र. संपा : जिनविजय. 1934. जान्मनिकेतन. पृ 17-18.

ब्राह्मण पंथों को राजवाद्य का मिलना एक और कारण बताया जा सकता है, किन्तु केवल यही एकमात्र कारण नहीं हो सकता। स्कंदगुप्त के कहाँ अभिलेख (४६०-६१ ई०) से यह प्रमाण मिलता है कि जैन धर्म का अस्तित्व अन्य स्थानों में था, क्योंकि गुप्त-शासक सहिष्णु थे।

कारण जो भी रहा हो, यह एक सत्य है कि गुप्त-काल में भयुरा में जैनों ने अपनी लोक-प्रियता खो दी थी। फिर भी जैनों का भयुरा में अपना संगठन था और जैन धर्म को गृहस्थों का किसी न किसी रूप में समर्थन मिलता रहा। बड़े और सामान्य आकार की जैन प्रतिमाएँ बनती रहीं और मंदिरों में प्रतिष्ठित भी की जाती रहीं, किन्तु चरमोत्कर्ष का समय अब नहीं रह गया था।

भयुरा से प्राप्त सामग्री निम्नलिखित मूर्तियों के रूप में हैं :

- (१) ध्यानस्थ<sup>१</sup> मुद्रा में आसीन तीर्थकरों की पच्चीस मूर्तियाँ (चार के चित्र यहाँ दिये गये हैं, चित्र ४३-४६)।
- (२) खड़गासन<sup>२</sup> मुद्रा में तीर्थकरों की छह मूर्तियाँ (दो के चित्र यहाँ दिये गये हैं, चित्र ४७)।
- (३) तीर्थकर मूर्तियों के लेईस वियुक्त सिर<sup>३</sup> (तीन के चित्र यहाँ दिये गये हैं, चित्र ४८-५०)।
- (४) कुछ खंडित कृतियाँ<sup>४</sup>।

आयामपटों और सरस्वती, खसभद्र, घरणेन्द्र जैसे जैन देवताओं या अन्य शासन-देवों या शासन-देवियों की पृष्ठक मूर्तियों का तो स्पष्ट रूप से अभाव है। यहाँ तक कि सर्वतोभद्र मूर्तियाँ तो लगभग न मिलने के समान हैं। भयुरा संग्रहालय में जो एक मूर्ति है भी (पु० सं० म० : बी-१, बी-६, बी-७ (चित्र ४६), बी-११, बी-२८, बी-३१, बी-३३, बी-७४, बी-७५, १५९५९, १५९८३, १८१३८८, ५४३७६९, ५७४३३८, ५७४३८२) वह परवर्ती संक्रमणकाल अर्थात् लगभग सातवीं / आठवीं शताब्दी की है।

अब जो सामग्री उपलब्ध है, उसपर विस्तार से विचार किया जायेगा।

1 रा० सं० ल० : जे-३६, जे-५२, जे-८९, जे-१०४ (चित्र ४३), जे-११८ (चित्र ४४), जे-१२९, जे-१२२, जे-१३९, जे-५८४ (?), शो-१८१ (चित्र ४५); पु० सं० म० : बी-१, बी-६, बी-७ (चित्र ४६), बी-११, बी-२८, बी-३१, बी-३३, बी-७४, बी-७५, १५९५९, १५९८३, १८१३८८, ५४३७६९, ५७४३३८, ५७४३८२।

2 रा० सं० ल० : जे-८३, जे-८६, जे-१०० जे-१२१; (चित्र ४७ क), पु० सं० म० : बी-३३, १२१२६८ (चित्र ४७ ख)।

3 रा० सं० ल० जे-५९ (केषल सिर), जे-१६४ (चित्र ५०) जे-१६८, जे-१७५, जे-१७६, जे-२००, जे-२०७, जे-२२२; पु० सं० म० : इ-३५, बी-४४ (चित्र ४८), बी-४५, बी-४६, बी-४८, बी-४९, बी-५०, बी-५३, बी-५९, बी-६०, बी-६१, १११३४, १५१५६५, १५१५६६, २९१९४४, ३३२३४८ (चित्र ४९), ६७१८९।

4 रा० सं० ल० : जे-२ ; पु० सं० म० : १४४४८, १५६२४।



सार्वदीक — भाषार्थ श्री सुविधासागर जी महाराज

मथुरा — शीर्षकर मूर्ति



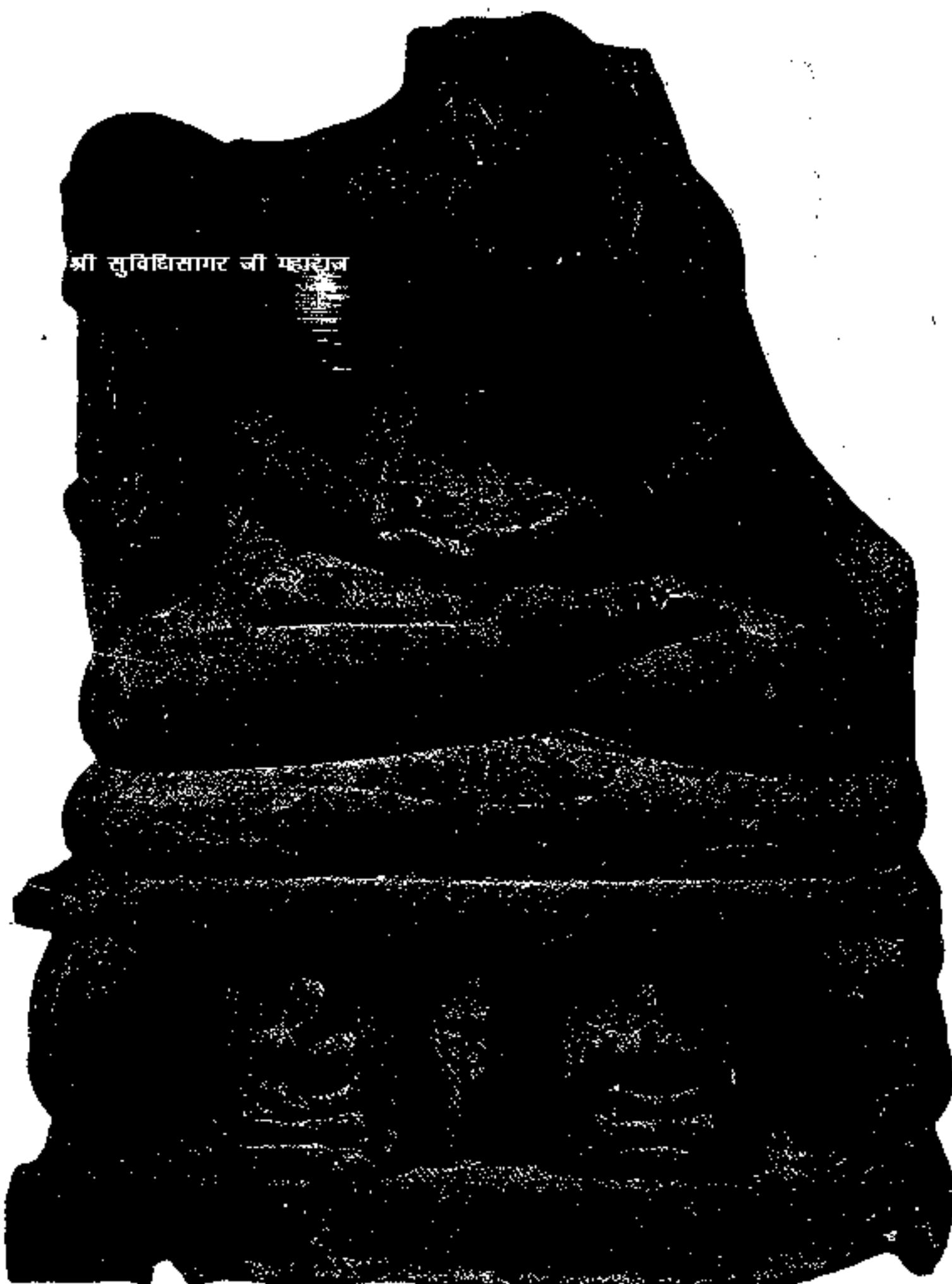
मधुरा — लीर्यकर मूर्ति



मधुरा — सीर्वकर मूर्ति

वास्तु-स्मारक एवं मूलिकता 300 से 600 फू.

[ भाग 3



मथुरा — शीर्यकर फूषभनाथ

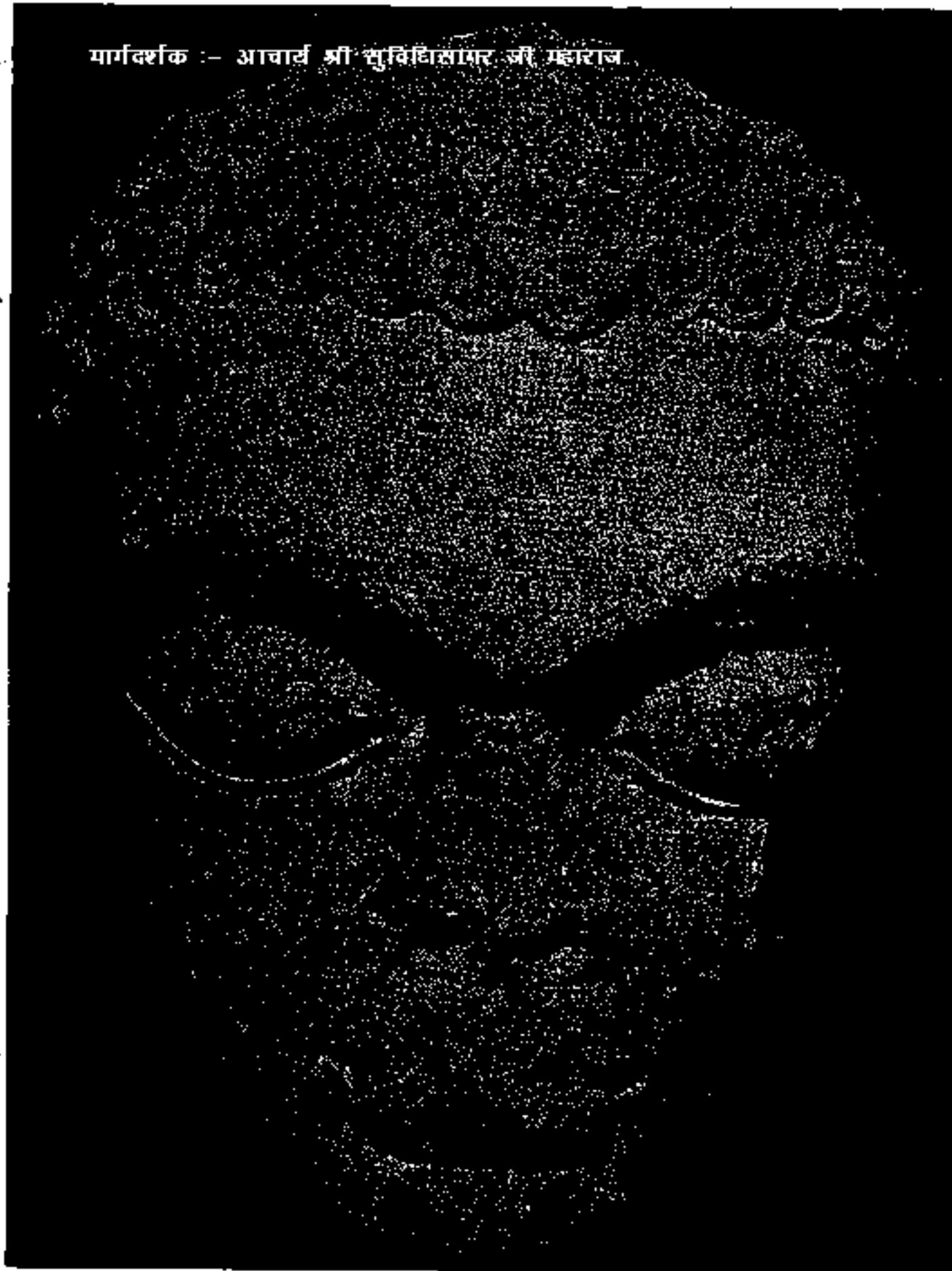


(क) मधुरा — लीर्खकर नेमिनाथ



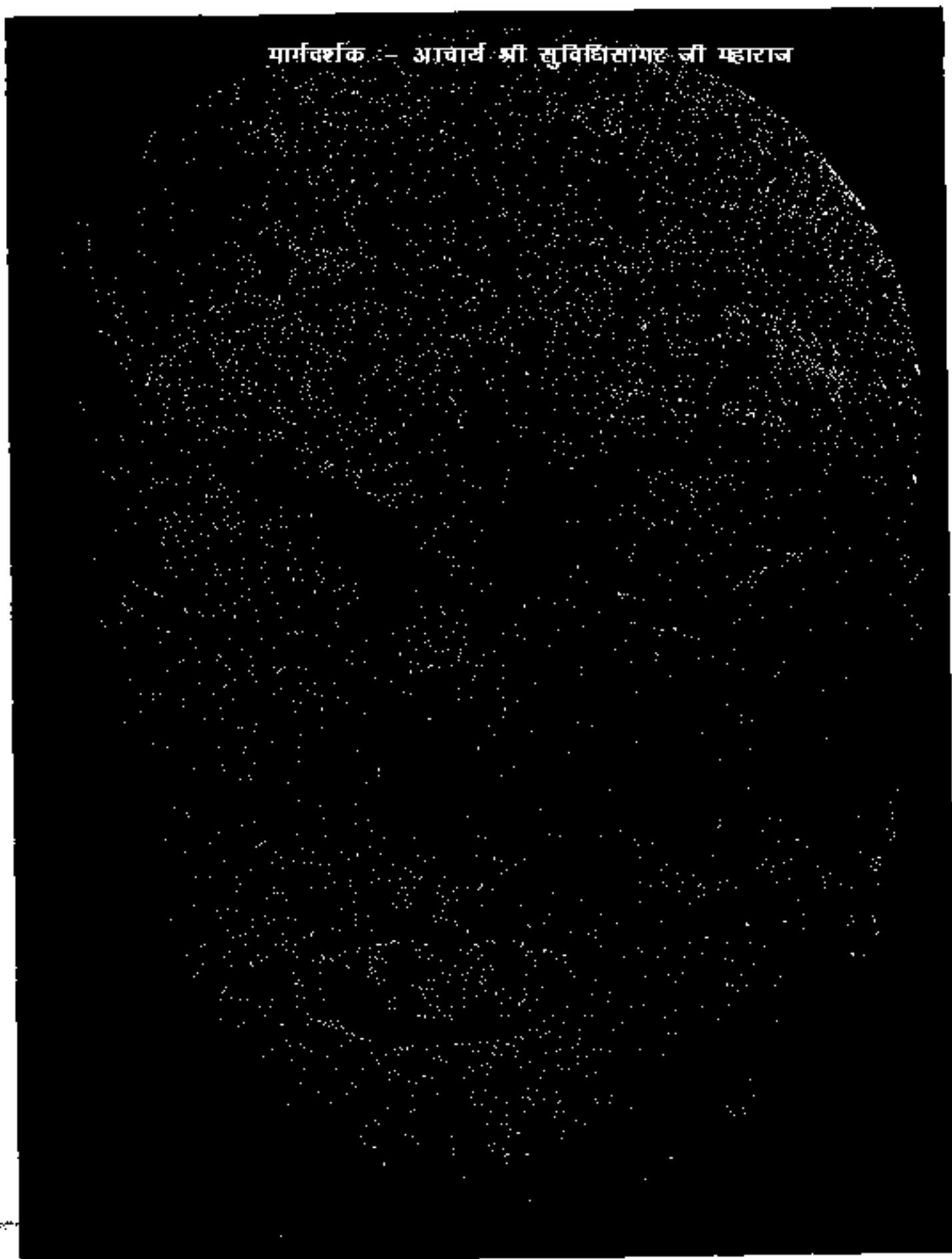
(ख) मधुरा — लीर्खकर ऋषभनाथ

यागदर्शक :- आचार्य श्री चूडिदिसामर जी महाराज

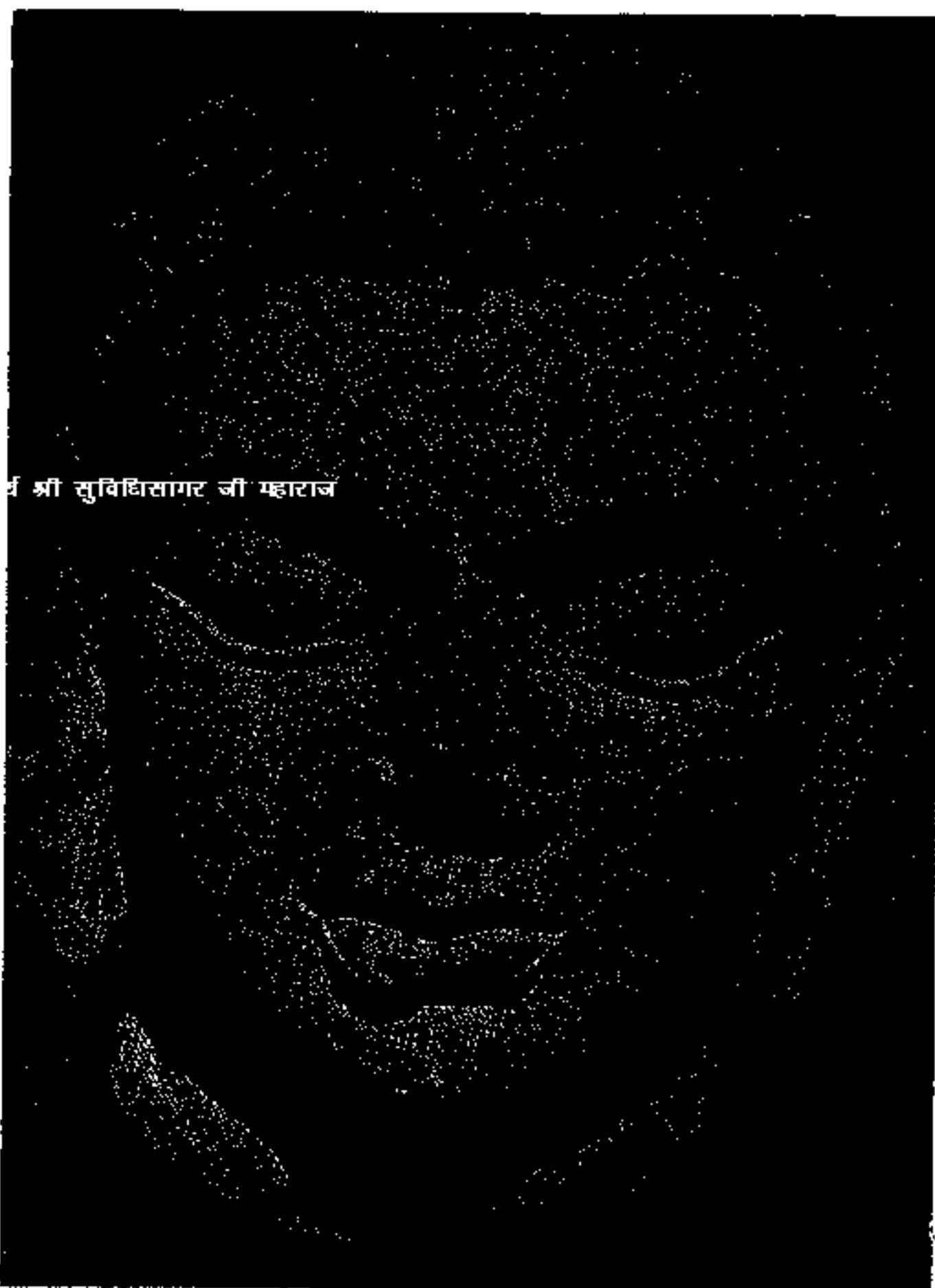


मधुरा — तीर्थेकर मूर्ति का शोध

पार्वतीक - आचार्य श्री सुविद्धिसामग्रे जी महाराज



मथुरा --- दीर्घकर मूर्ति का शीर्ष



श्री सुधिष्ठिसागर जी महाराज

मथुरा — शीर्षकर मूर्ति का शीर्ष

### ध्यानस्थ तीर्थकर मूर्तियाँ

ध्यानस्थ मुद्रा में आसीन तीर्थकरों की प्राप्त मूर्तियों में से दो निश्चय ही आदिनाथ की हैं (पु० सं० मा० : बी-६ और बी-७, चित्र ४६)। एक मूर्ति नेमिनाथ की थी (रा० सं० ल० : जे-८६) किन्तु वह अब पूरी तरह खंडित अवस्था में है और शिलापट्ट पर उनके अनुचर बलभद्र की मूर्ति ही योग्य बची है।

इन मूर्तियों में से तीन अभिलेखांकित हैं। (रा० सं० ल० : जे-५८४, जे-५२; पु० सं० मा० : बी-७५)। अंत में वर्णित मूर्ति पर वर्ष ६७ (अर्थात् ४१६ ई०) अंकित है।<sup>1</sup>

इन मूर्तियों (रा० सं० ल० : जे-५२, जे-५८४ (?), जे-११६; पु० सं० मा० : बी-६, बी-७ चित्र ४६, १५.६८३, ५७.४३८) में से अनेक पर चमरधारियों का चित्रण यह सिद्ध करता है कि यह कला-प्रतीक, जिसका अंकन पिछले युग में आरंभ हुआ था, धीरे-धीरे लोकप्रिय होता जा रहा था।

कुषाणयुग की पद्मासन प्रतिमाओं से तुलना करने पर इन मूर्तियों में निश्चय ही अधिक सजीवता और स्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है।

### खड़गासन में तीर्थकर मूर्तियाँ

पद्मासन की अपेक्षा खड़गासन में बहुत कम मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। खड़गासन में प्राप्त छह मूर्तियों में से दो आदिनाथ (पु० सं० मा० : बी-३३, १२.२६८, चित्र ४७ ख), एक नेमिनाथ (रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क) और चौथी प्रतिमा पाश्वनाथ (रा० सं० ल० : जे-१००) की हैं। जेव दो प्रतिमाओं की पहचान कर सकता कठिन है।

इस वर्ग में केवल एक (पु० सं० मा० : १२.२६८, चित्र ४७ ख) ही अभिलेखांकित है जिसमें यह उल्लेख है कि आदिनाथ की यह प्रतिमा सागर की थी और समुद्र हारा प्रतिष्ठापित की गयी थी तथा इसके स्वामी सागर ने किसी संगरक को हसे दे दिया था।<sup>2</sup> पुरालिपि के आधार पर, इस पुरालेख का—और स्वभावतः ही इस प्रतिमा का भी—समय चौथी शताब्दी का प्रारंभिक काल निर्धारित किया गया है।

इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश पद्मासन और खड़गासन प्रतिमाएँ उभरे रूप में उत्कीर्ण हैं, पृष्ठाधार शिलापट्ट के बिना नहीं।

1 चत्वारि (वासुदेवशरण), कैटेलिंग ऑफ द मधुरा मुजियम, अनेक ऑफ द पूर्व पौर्णिमिकल सोसाइटी, 23; 1950; 54.

2 वही, पृ. 56.

### शीर्ष

विद्युत शीर्षों के सूक्ष्म अध्ययन से निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं :

१. कुछ अपवादों को छोड़कर उनके केश नियोजित रूप में धूम्रताले हैं (चित्र ५०)। अपवादों में से एक पर लहरियेवाले केश हैं (पु० सं० म० : ३३.२३४८, चित्र ४६) और दूसरे के बालं कंधी से पीछे की ओर स्वारे हुए चिकित किये गये हैं (पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख)।

२. एक अपवाद को छोड़कर (पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख) शेष में उर्ण-चिह्न नहीं हैं।

३. एक मूर्ति के (पु० सं० म० : बी-४४, चित्र ४८) ललाट पर एक वर्तुलाकार चिह्न दृष्टिगोचर होता है, जो एक सौंकरी पट्टी द्वारा लटका हुआ कुण्डल-जैसा प्रतीत होता है। यदि यही चिह्न वाराणसी से प्राप्त अभितनाथ की लगभग सभकालीन मूर्ति (रा० सं० ल० : ४६.१६६, रेखाचित्र ६) पर नहीं पाया गया होता तो उसके संबंध में शीघ्र ही यह मान लिया गया होता कि किसी ने बाद में यह शशारत इस अभिप्राय से की होगी कि तीर्थकर की मूर्ति पर तिलक-मणि दिखाया जा सके। अतएव इस चिह्न पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।



रेखाचित्र ६. वाराणसी : अभितनाथ की मूर्ति का सिर (रा० सं० ल०, ४९.१९९)

४. सामान्यतया, भौंहें नाक के ऊपर एक बिंदु पर मिलती हैं, किन्तु इस विशेषतर को, जो कुछ ही मूर्तियों में पायी जाती है (रा० सं० ल० : जे-५६, केवल सिर (पु० सं० म० : बी-५३, १५.५६५, २६.१६४१ आदि)), उस युग का दर्शक नहीं माना जा सकता।

५. सामान्यतः आँख की पुतलियों चित्रित नहीं की गयी हैं। मधुरा संग्रहालय (पु० सं० म० : बी-४३) की एक मूर्ति को एक दुर्लभ अपवाह के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। मधुरा से प्राप्त अनेक गुप्तकालीन जंतेतर मूर्तियों से भी वह स्पष्ट होता है कि आँख की पुतलियों का चित्रण करने की प्रथा प्रचलित नहीं थी।

६. होठ साधारणतः मोटे और लम्बे हैं और कान कंधों को छूते हैं।

७. सामान्यतः जेहरा भीभीर है, किन्तु किसी-किसी में मधुर मुसकान भी दृष्टिगोचर होती है (रा० सं० ल० : जे-२०७, बी-४५, ६७-१८६ आदि)।

### खण्डित कृतियाँ

ऐसी कृतियाँ इतनी खण्डित हैं कि उन्हें ऊपर बताये गये बगों में से किसी भी बग में रखना कठिन है। उदाहरण के लिए राजकीय संग्रहालय, लखनऊ की जे-२ क्रमांकित कृति एक अभिलेखांकित पादपीठ है जिसपर वर्ष २६६ (३७७ ई०) अंकित है।

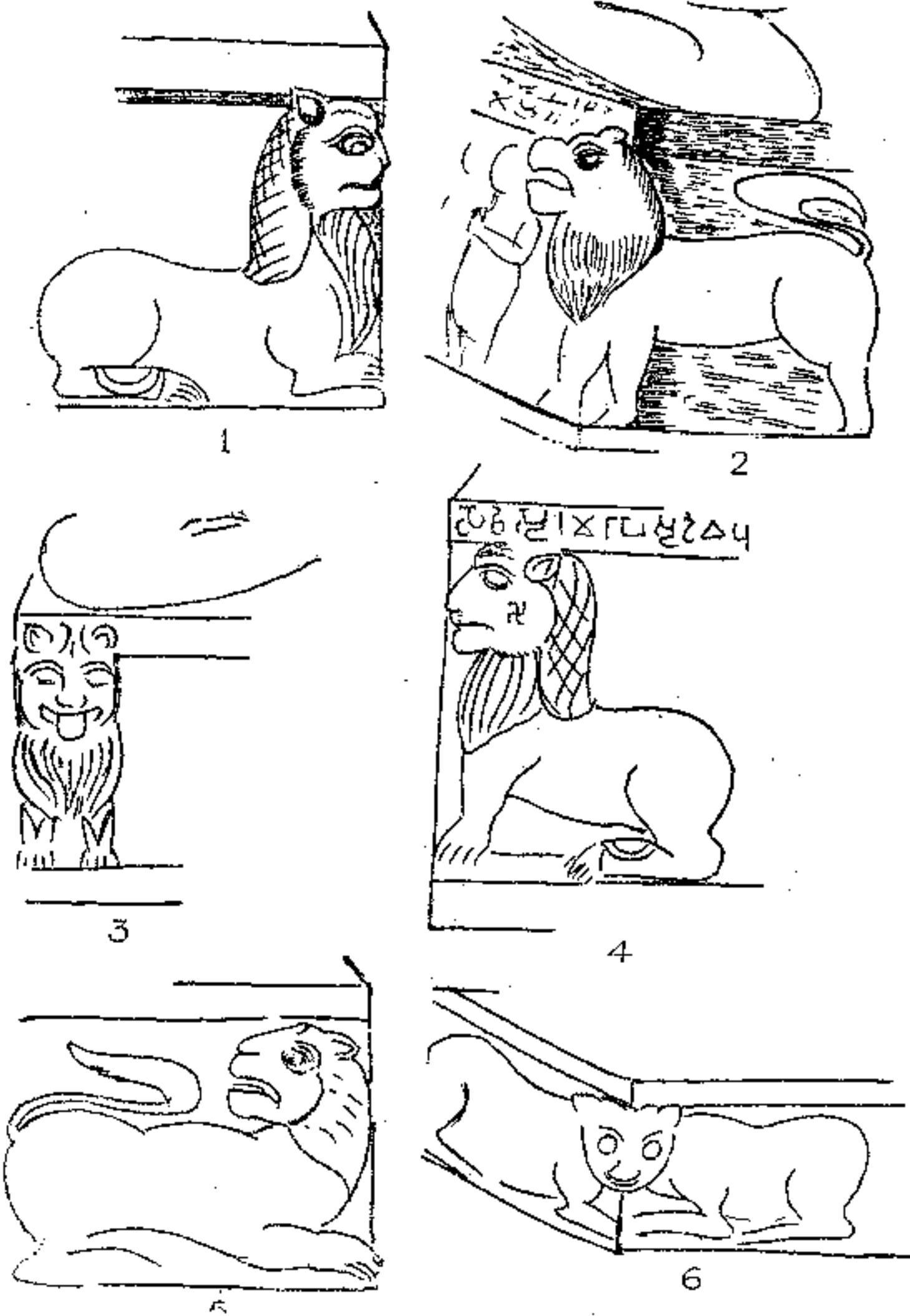
### विशेष लक्षण : आसन और उनका अलंकरण

प्रत्येक तीर्थकर के लिए किसी न किसी प्रकार का आसन बनाया गया है। इन आसनों में प्राचीनतम् अर्थात् गुप्त-काल से पहले के, आसन का रूप पादपीठ के साथ ही सदा होता था। गुप्त-काल में यह आसन एक प्रकार के गलीचे से ढका हुआ होने लगा, जिसके एक भाग को पादपीठ के सामने लटकता हुआ देखा जा सकता है (पु० सं० म० : बी-७, चित्र ४६ ; रा० सं० ल० : जे-११६)।

उक्त गलीचे के ऊपर एक भारी गद्दी है, जो ध्यानस्थ तीर्थकर के लिए आसन का काम देती है। इस गद्दी पर प्रायः आलंकारिक सज्जा होती है (पु० सं० म० : १५-६८३, बी-७, चित्र ४६ इत्यादि)। जो भी हो, एक आङूति पर कमल-पंखुड़ियों का अतिरिक्त अलंकरण भी है (पु० सं० म० : १८-१३८८)।

कुछ मूर्तियों में गद्दी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु ध्यानस्थ मूर्ति के पद्मासन की यत्र-सत्र अस्वाभाविक स्थिति से उसके अस्तित्व का आभास होता है (पु० सं० म० : बी-१ ; रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४ आदि)। उपर्युक्त उदाहरणों में, पद्मासनस्थ टांगे मेलदंड से ठीक समकोण नहीं बनातीं अपितु सामने की ओर झुकी हुई देखी जा सकती है – यह स्थिति तब होती है, जब कोई ऐसे ऊंचे आसन पर बैठे, जिसकी गद्दी छोटी हो।

सुसज्जित पृष्ठ-अवलंब का प्रारंभ भी गुप्त-काल में ही हुआ। एक कलाकृति में (रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४) सीधी छड़ों से युक्त एक पृष्ठ-अवलंब, अनुप्रस्थ धरनों (शहतीरों) और लपकते हुए सिंह के अलंकरण देखे जा सकते हैं।



रेखाचित्र 7. मधुर : पादपीठों पर अंकित शिह : 1—4, कुषाणकालीन (रा० सं० ल० : जे-20, जे-30, जे-34, जे-26); 5—6, मृद्धकालीन (रा० सं० ल० : जे-118, जे-121)

### पादपीठ

आसन के नीचे पादपीठ होता है। पादपीठ पर धर्म-चक्र अंकित करने की प्रथा कुषाणयुग से प्रचलित थी, जो या तो भरातल पर या किसी प्रकार के स्तंभ पर बनाया जाता था और उसके दोनों ओर प्रायः एक पंक्ति में खड़े हुए भक्त नरनारी दिखाये जाते थे। पादपीठ के दोनों सिरों पर लिह अंकित किये जाते थे। गुप्त-काल में यह संपूर्ण कला-प्रतीक सामान्य रूप से वही रहा, किन्तु उसमें निम्नलिखित परिवर्तन दिखाई देते हैं :

(१) धर्म-चक्र का आधार-स्तंभ बहुत ही कम दिखाई देता है (उदाहरण के लिए, पु० सं० म० : बी-६)। सामान्यतः धर्म-चक्र का आधार बहुत ही हल्का है (पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख) या वह सीधा धरातल पर ही अवस्थित प्रतीत होता है (रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४, जे-१२१, चित्र ४७ क)। संभवतः यह व्यवस्था इस लोकप्रिय धारणा को सूचित करती है कि दिग्बिजय के पश्चात् चक्र-रत्न तीर्थकर के पवित्र आसन या चरणों के नीचे विश्राम कर रहा है।

(२) धर्म-चक्र का साधारणतः मुखांकन किया जाता है। (रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७)। यद्यपि मूर्तिकार ने कभी-कभी उसका पाश्व-चित्र भी देना ठीक समझा (पु० सं० म० : १८.१३८८, बी-७, चित्र ४६)। प्रायः इस चक्र में सोलह और होते हैं, किन्तु इस विषय में कोई एकरूपता नहीं है। जब इस चक्र का मुखांकन किया जाता है तब वह स्वाभाविक रूप में दिखाई देता है, किन्तु उसका पाश्व-चित्रांकन अधिक अलंकृत होता है। कभी-कभी इस चक्र के मध्यभाग से एक ढोरी गुजरती हुई दिखाई देती है (पु० सं० म० : १८.१३८८)। इस ढोरी के कारण चक्र एक प्रक्षेपास्त्र के समान प्रतीत होता है, जिसे चलाने के लिए ढोरी आवश्यक थी, यद्यपि धर्म-चक्र तीर्थकर द्वारा प्रतिपादित धर्मतिथमों का चक्र था न कि कोई आयुध। गुप्त-काल के अंत तक, जैनों ने भी उस प्रसिद्ध 'हरिण और चक्र' कला-प्रतीक (पु० सं० म० : बी-७५) को अपना लिया था जो बौद्धों में लोकप्रिय और उनके लिए सार्थक था।

(३) गुप्त-युग में पवित्र चक्र के दोनों ओर भक्तों की पंक्तियों का अंकन, जिसका प्रारंभ कदाचित् गांधार-कला में हुआ था, धीरे-धीरे लुप्त हो गया। गुप्तकालीन अधिकांश मूर्तियों में या तो वह है ही नहीं (रा० सं० ल० : जे-११६; पु० सं० म० : १२.२६८, चित्र ४७ ख)। यह प्रतीकात्मक रूप में उसका चित्रण इस प्रकार हुआ है कि दो व्यक्ति हाथ जोड़कर घुटनों के बल बैठे हैं (रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४)।

(४) कुछ पादपीठों पर एक नयी विशेषता प्रमुख रूप से उभटकर आयी है; वह है परमेष्ठियों का चित्रण। कहाँ शिलालेख में उन्हें पंचेन्द्र कहा गया है और उनकी पहचान आदिनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पाश्वनाथ तथा महावीर के रूप में की जा सकती है।<sup>1</sup> एक ही पादपीठ पर

<sup>1</sup> देव (एस बी). हिन्दू शैक्षणिक सोनकिक्षम. 1956, फूला, पृ 103।

इन पाँच तीर्थकरों का चित्रण मध्युरा में गुप्त-काल में प्रारंभ हुआ प्रतीत होता है। इनमें से एक की मूर्ति तो केन्द्रस्थ होती थी और शेष चार का चित्रण लघु-मूर्तियों के रूप में पादपीठ पर या पीछे के शिलापट्ट पर किया जाता था (उदाहरण के लिए, पु० स० म० : बी-७, चित्र ४६; रा० स० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क)। उपलब्ध स्थान के अनुसार इन्हें पद्मासन या खड़गासन मुद्रा में अंकित किया जाता था। उदाहरणार्थ, नेमिनाथ की उपर्युक्त मूर्ति के पट्ट (रा० स० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क) पर तीन व्यानस्थ मूर्तियाँ हैं और एक खड़गासन-मुद्रा में।

(५) तीर्थकर के चक्रवर्तित्व को प्रतीक रूप में दर्शने के लिए पादपीठ पर अंकित सिंहों का भी विशेष अध्ययन आवश्यक है। कुषाणकाल से ही वे पादपीठ के दोनों ओरों पर निम्नलिखित में से किसी एक स्थिति में चित्रित किये गये हैं (रेखा चित्र ७, १-४) : (क) सामने की ओर मुँह करके खड़े हुए (रा० स० ल० : जे-३२, जे-३४, जे-४० आदि); (ख) सामने खड़े हुए किन्तु मुख पार्श्व की ओर, एक दूसरे की ओर देखते हुए; (रा० स० ल० : जे-२५, जे-२६; जे-३०, जे-३३ आदि); (ग) किन्तु सामने की ओर मुँह करके खड़े हुए, (क) और (ख) के बीच की स्थिति में (रा० स० ल० : जे-३५); और (घ) अगले पीरों को खड़ा करके पीठ से पीठ मिलाकर बैठे हुए (रा० स० ल० : जे-१४, जे-१७, जे-१८, जे-२७ आदि)।

गुप्त-काल में, सिंहों के अंकन में कुछ नयी शैलियाँ प्रचलित हुईं (रेखा चित्र ७, ५-६); (क) पीठ से पीठ मिलाकर उकड़ू स्थिति में पूँछ ऊपर उठाये हुए (पु० स० म० : १८-१९८८, बी-६, ५७-५८३८ आदि); (ख) पीठ से पीठ मिलाकर बैठे हुए किन्तु मुख सामने की ओर तथा सामने के पंजे कुछ ऊपर उठाये हुए (रा० स० ल० : जे-११६); और (ग) सामने की ओर मुँह करके चलने की मुद्रा में खड़े हुए (पु० स० म० : बी-७, चित्र ४६)।

प्रस्तुत कलाकृति (रा० स० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क) के पादपीठ पर अत्यंत मनोरंजक आकृतियाँ दिखाई देती हैं। इसपर कुषाण और गुप्त-काल की विशेषताओं का अद्भुत समन्वय है। पादपीठ के प्रत्येक कोने में, एक चैहरा ऐसा है जिसके साथ दो शरीर जोड़े गये हैं—एक सामने से और दूसरा पार्श्व में। पार्श्व में कुषाण-परंपरा सुरक्षित है, जबकि सामने के अंकन में गुप्तकालीन व्यवस्था पायी जाती है।

रेखा चित्र ७ में कुषाण और गुप्त-युगों के प्रचलन की क्रमशः फलक हैं।

### देव और किल्वर

इस वर्ग में निम्नलिखित सम्मिलित हैं : मालाधारी गंधर्व, अंतरिक्ष में ऋग्मण करते सुपर्ण, तीर्थकर के दोनों ओर चमरधारी या भक्ति-मुद्रा में खड़े हुए सेवक, तथा नेमिनाथ की मूर्ति के साथ कृष्ण-बलदेव। इनमें से अनेक का प्रारंभ कुषाणकाल से देखा जा सकता है। गुप्त-काल में निम्नलिखित

विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं : (१) वायुमण्डल में भ्रमण करते देवलोक के मालाधारी पुरुष (पु० सं० म० : १२-२६८, चित्र ४७ ख; रा० सं० ल० : जे-११८, चित्र ४४; जे-१२१, चित्र ४७ क); (२) मालाएँ लिये हुए वायुधारी गंधर्व-युग्म (रा० सं० ल० : जे-११६); (३) पूजन सामग्री लिये हुए देवलोक के प्राणी (रा० सं० ल० : जे-१०४, चित्र ४३); (४) तीर्थकर के दोनों ओर चमरधारी (पु० सं० म० : बी-६, बी-७, चित्र ४६; ५७-४३३८ आदि); (५) नेमिनाथ के पासर्व में कुण्ड-बलदेव (रा० सं० ल० : जे-१२१, चित्र ४७ क); तथा (६) ग्रह जो गुप्त-काल के अंत में अंकित किये जाने लगे थे। प्रस्तुत कलाकृति में (पु० सं० म० : बी-७५) केवल आठ ही ग्रह दिखाये गये हैं। किन्तु गुप्त-काल के पश्चात् सभी नींगहों का अंकन सर्वथा सामान्य बात हो गयी थी।

शासन-देवताओं का अंकन मथुरा में प्रचलित नहीं था।

### भामण्डल का अर्थकरण

कुषाणकाल की अनेक सूतियों में भामण्डल का अंकन यदि कहीं किया जाता था तो वह सादा होता था तथा उसकी कोर सजीली होती थी। किन्तु तीर्थकरों की सूतियों के पूर्ण अलंकृत भामण्डलों का नितांत अभाव नहीं था (उदाहरणार्थ, रा० सं० ल० : जे-८)। गुप्त-काल में भामण्डल को अनेक कला-प्रतीकों, यथा पद्मदल, पत्रावली, हार-यज्ञि, हस्त-नख, पत्रशाला आदि से अलंकृत करने की प्रथा चल पड़ी थी।

### शरीर-लक्षणों के रूप में शुभ चिह्नों का प्रयोग

ललितविस्तर नामक बौद्ध ग्रंथ में जो इसा की प्रारंभिक शताव्दियों में उपलब्ध था, ऐसे अनेक पवित्र चिह्नों का उल्लेख है, जो बुद्ध के शरीर पर पाये जाते थे।<sup>1</sup> कुषाणकाल की बुद्ध और वोषिसत्त्व की जो प्रतिमाएँ मथुरा में पायी गयी हैं वे इस साहित्यिक विवरण का दृश्य-साक्ष्य प्रस्तु करती हैं। जैनों ने भी अपने तीर्थकरों की सूतियों पर इस प्रकार के चिह्नों को अंकित करने की प्रथा को प्रायः अपना लिया था।<sup>2</sup> तीर्थकर-प्रतिमाओं की खुली हथेलियों पर चक्र-चिह्न तथा पैरों के तलुओं में चक्र और त्रिरत्न का अंकन बहुत पाया जाता है। ऐसी प्रतिमाएँ बहुत ही कम (उदाहरणार्थ रा० सं० ल० : जे-३६) हैं जिनके तलुओं पर त्रिरत्न नहीं पाया जाता। उँचालियों के सिरों पर, स्वस्तिक, श्रीवत्स, मीन, उलटा त्रिरत्न, शंख आदि शुभ प्रतीकों का सूक्ष्म रूप में अंकन करने की पद्धति भी कुछ सूतिकारों ने अपना ली थी (उदाहरण के लिए, रा० सं० ल० : जे-१७, जे-१८, जे-४०)। इसी प्रकार के प्रतीक कभी-कभी तलुओं पर भी पाये जाते हैं (ग्रन्थव्य, रा० सं० ल० :

1 ललितविस्तर, संस्कृत लेखन, 1902, हाले, पृ 105-06.

2 जोधी (एन. पी.), यूज ऑफ आर्सिव्हास सिम्बल्स इन द कूकारण आर्ट एट मथुरा, डॉ॰ मिराजी केलिसिलेशन बॉल्यूम, 1965, नामसुर, पृ 311-17.

जे-२६)। इनके अतिरिक्त कुषाणकालीन तीर्थकर प्रतिमाओं के वक्ष पर श्रीबत्स का अंकन लोकप्रिय था।

गुप्त-काल में पवित्र प्रतीकों के अंकन में निम्नलिखित परिवर्तन आये :

(१) डैगलियों के सिरों से प्रतीकों के सूक्ष्मांकन लुप्त हो गये।

(२) खुली हथेली पर चक्र का अंकन यद्यपि कुछ समय तक चलता रहा (द्रष्टव्य, पु० सं० म० : बी-१), तदपि परवर्ती वर्षों में यह या तो छोड़ दिया गया (द्रष्टव्य, पु० सं० म० : बी-७, चित्र ४६) या उसे व्यर्थ समझा गया।

(३) उक्त स्थान पर, सामूद्रिक शास्त्र की महत्वपूर्ण तीन स्वाभाविक रेखाओं अर्थात् मस्तिष्क, हृदय और जीवन-रेखाओं के अंकन का प्राधान्य हो गया। मणिकंध की रेखाओं का अंकन पहले की भाँति होता रहा।

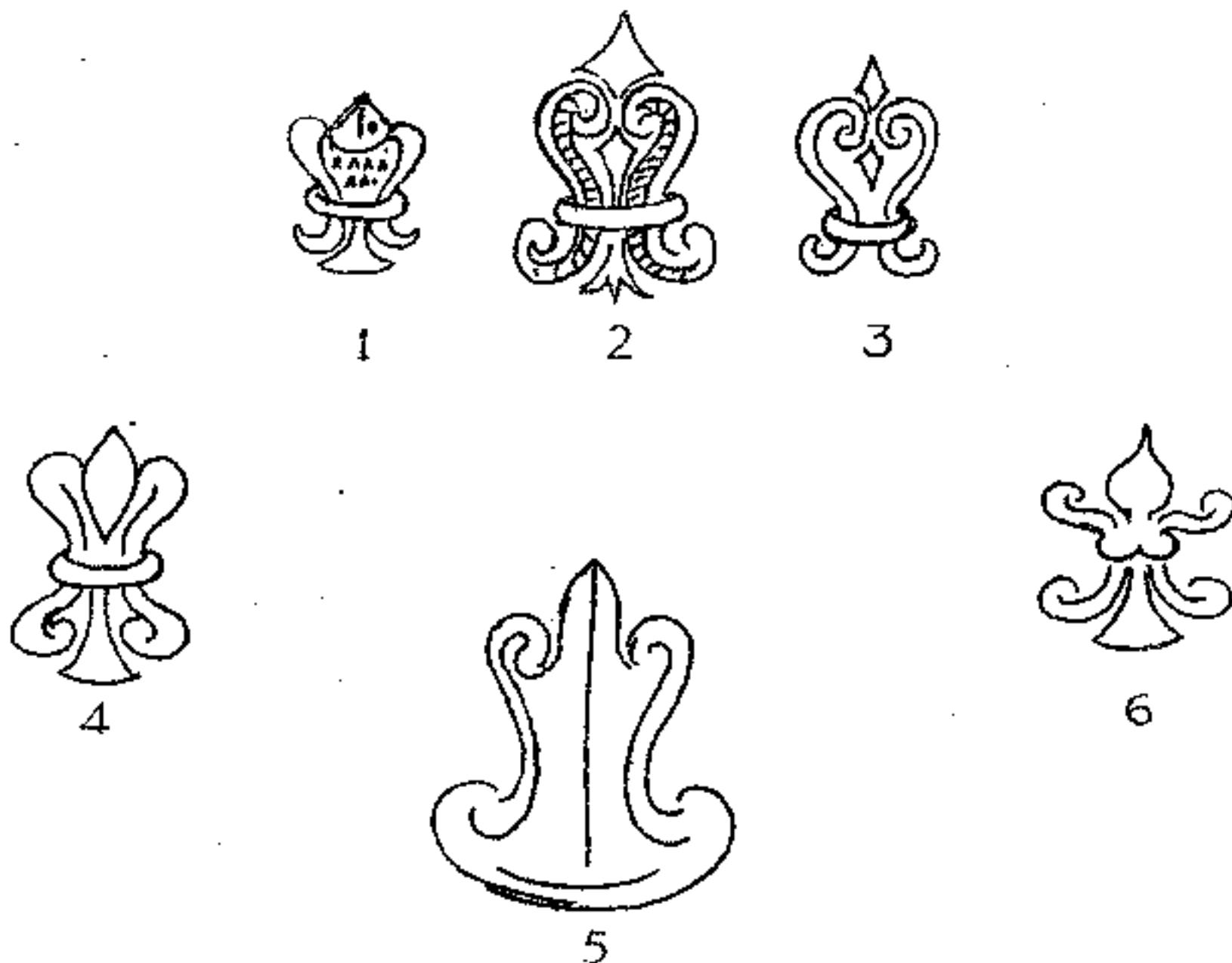
(४) वक्ष पर श्रीबत्स-चिह्न का अंकन पूरे युग में होता रहा। एक मछली के दोनों ओर दो 'सर्प' के चित्रण का पुराना रूप तब अत्यंत अलंकृत हो गया था। कुषाणकालीन चित्रण की तुलना में गुप्त-काल में 'श्रीबत्स' का विकास रेखा चित्र - में दिखाया गया है। प्रसंगवक्ष, यह कहना भी आवश्यक है कि यह चिह्न केवल मधुरा से प्राप्त गुप्तकालीन तीर्थकर-प्रतिमाओं के वक्ष पर ही दृष्टिगोचर होता है। अन्य स्थानों में इसका लगभग अभाव ही है।

### छत्र और लांछन<sup>1</sup> का अभाव

हस लेख को लमाप्त करने से पहले, कुछ वस्तुओं के अभाव पर ध्यान देना आवश्यक है। इनमें प्रथम स्थान छत्र का है। जो भी गुप्तकालीन तीर्थकर-प्रतिमाएँ इस समय उपलब्ध हैं, उनके सिर पर छत्र नहीं हैं। छत्र-क्रय और छत्रावली के चित्रण का चलन आगे चलकर हुआ।

यही बात लांछनों के संबंध में भी सही है। चौबीस तीर्थकरों में प्रत्येक का एक पारंपरिक चिह्न होता है जिसे संबंधित तीर्थकर का लांछन कहा जाता है। तीर्थकर-प्रतिमाएँ लगभग एक-सी प्रतीत होती हैं, कदाचित् इस कारण यह आवश्यक समझा गया कि उनमें भेद कर पाने के लिए प्रत्येक का एक चिह्न निर्धारित किया जाये। यह कोई बहुत पुरानी परिपाटी प्रतीत नहीं होती। मधुरा से

1. हिन्दी में इस शब्द के स्थान पर चिन्ह शब्द का प्रयोग अविक है। लांछन ने अब दूसरा ही अर्थ प्रहसन कर लिया है।



रेखाचित्र ४. श्रीवत्स चिन्ह—१-३, कुषाणकालीन (रा० सं० ल० : जै-१६, जै-३६, जै-१७); ४-६, गुप्तकालीन (रा० सं० ल० : जै-११८; पु० सं० म० : बी-६, बी-७)

प्राप्त कुषाण और गुप्त-कालीन किसी भी मूर्ति पर हमें लांछन देखने की नहीं मिलता। विभिन्न तीर्थकरों की पहचान के लिए तत्कालीन मूर्तियों में अभिलेख, केश-शैली तथा उनके सेवक जैसे साधन ही उपलब्ध हैं।

इसी प्रकार चौमुखी या सर्वतोभद्रिका और चौदोसी या चतुर्विंशतिका जैसी-तीर्थकर-मूर्तियाँ मथुरा में गुप्त-काल में लगभग नहीं के समान पायी गयी हैं। वही स्थिति मानस्तंभों की है।

डॉ० श्रीसकल पुरुषोत्तम जोशी

## अध्याय ॥

### पूर्व भारत

#### बास्तु-स्मारक

विचाराधीन अवधि में पूर्वी भारत में जैन बास्तु-स्मारकों और भूतियों के बहुत कम अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह संभव है कि क्राह्यण धर्म और बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के कारण इस प्रदेश से जैन धर्म तिरोहित हो गया हो। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि इस अवधि में और इसके कुछ समय उपरांत जैन प्रतिष्ठान अन्य लोगों के स्वामित्व में चले गये। उदाहरण के लिए, राजगिर स्थित सोनभण्डार मुफ़ाओं पर बैष्णवों ने अधिकार कर लिया था। इसी प्रकार कुछ समय उपरांत आठवीं शताब्दी में, पहाड़पुर स्थित जैन विहार को धर्मपाल ने बौद्ध विहार के रूप में परिवर्तित कर दिया था।<sup>1</sup> इस प्रकार के परिवर्तनों का प्रभाव जैन कला के अवशेषों की संख्या पर भी<sup>2</sup> उस भूमि में पड़ा होगा, जिसने जैन-धर्म को पालने-पोसने का गौरव प्राप्त किया है।<sup>3</sup>

इस अवधि की जैन साहित्यिक परंपरा में विभिन्न प्रकार के भवनों और कला-प्रतीकों का अद्भुत वर्णन मिलता है, जिसमें विमानों, तोरणों, स्तंभों, डाटों, राजमहलों उद्यानों, सभा-भवनों, कीड़ागनों, वीथिकाओं आदि के विवरणों के साथ धार्मिक और नागर-स्थापत्य का भी समावेश है।

1 तुलनीय : कुरीसी (एम एच) तथा घोष (ए). राजगिर, सं 4, 1956, दिल्ली, पृ 24.

2 एपिग्राफिका इष्टिका, 20; 1929-30; 60.

3 यह संभव है कि इस युग की जैन प्रतिमाओं को फिर से तराशा गया हो और उनसे अन्य घटों के देवताओं की मूर्तियाँ बनायी गयी हों। इस प्रकार का एक उदाहरण घरपत (बांकुरा) में मिलता है जहाँ पार्वतीवाय की मूर्ति को विष्णु की मूर्ति में परिवर्तित किया गया। तुलनीय : एन० के० बंदोपाध्याय कल बांकुरार मंदिर, जिसे डी० के० चक्रवर्ती ने बाबू छोटेलाल जैन स्मृति शंथ, कलकत्ता, 1967 के पृ 49 पर उद्धृत किया है। चक्रवर्ती यह भी भी व्यक्त करते हैं कि बंगाल में शैव मत का विकास जैन धर्म से हुआ, वही पृ 49.

4 मृक्खर्जी (एस सी), कल्चुरल हेरिटेज ऑफ बंगाल इन रिलेशन टू जैनिजम, बाबू छोटेलाल जैन स्मृति प्रांथ, पृ 145. / सरस्वती (बी), जैनिजम इन बंगाल, वही, पृ 141. / बेहरा (के एस), ए नोट ऑन जैनिजम इन उड़ीसा, वही, पृ 165.

अविष्ट जैन वास्तु-स्मारकों का रूप-प्राचीर्य या विषय-वस्तु का वैविध्य स्पष्ट ही इन वर्णनों से मेल नहीं खाता। इस अवधि के जो कुछ वास्तु-स्मारक राजभिर में हैं, मुख्यतः वे ही हमारे अध्ययन की सामग्री हैं। ये हैं वैभारभिर पर एक ध्वस्त मंदिर और इसी पहाड़ी की दक्षिणी ढलान पर पत्थर कटकर बनायी गयी दो सोनभण्डार गुफाएँ (दोनों का वर्णन तीके किया जा रहा है), जो इसी युग की मानी जाती हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण जैन वास्तु-स्मारक पाचवीं शताब्दी में विद्यात था, किन्तु आगे चलकर लुप्त हो गया। उसका पता (गुप्त) वर्ष १५६ (४७६ ईसवी) के पहाड़पुर के ताम्रपत्र-अभिलेख से चलता है।<sup>1</sup> यह विशाल जैन विहार बट-मोहाली में था और उसके अधिष्ठाता निर्यथ आचार्य (श्रमणाचार्य) गुहनन्दिन थे, जो काशी के पञ्चस्तुप-निकाय या नव्यावकाशिका से संबंधित थे।<sup>2</sup> आगे चलकर इस विहार का विस्तार किया गया और उसमें बौद्धों का विशाल मंदिर और विहार बना दिये गये। जो भी हो, इस स्थल पर जो खुदाई की गयी है, उससे पता चला है कि यद्यपि विहार का विस्तार किया था, तथापि सर्वतोभद्र प्रकार की रचना के अनुरूप उसकी मूल रूपरेखा वैसी ही बनी रही। विकास की दृष्टि से यह रूपरेखा विशेष रूप से जैन ही है।<sup>3</sup> अपने चारमोत्कर्ष के दिनों में बट-मोहाली का विहार जैन धार्मिक साधना का एक सक्रिय केन्द्र था। जब ह्वेनसांग पुष्ट्रवर्धन क्षेत्र में आया, तब उसने वहाँ एक सौ देव-मंदिर देखे जहाँ विभिन्न मतावलंबी एकत्र होते थे। उनमें बग्न निर्यथों की संख्या सबसे अधिक होती थी।<sup>4</sup>

### राजगिर के अवशेष

राजभिर में सोनभण्डार, तामक दो शैलोत्कीर्ण गुफाएँ<sup>5</sup> हैं जिनका शिल्प-कौशल संरचनात्मक भवनों के लिए अपेक्षित शिल्प-कौशल से भिन्न है। इन पूर्वी और पश्चिमी गुफाओं (चित्र ५१

1 एपिप्रार्क्षिया इण्डिया, 20; 1929-30; 59 तथा परवर्ती।

2 शिलालेख की छठी और तेरहवीं पंक्ति में उल्लिखित पंच-स्तुपान्वय की स्थापना श्रुतावलार के अनुसार पुष्ट्रवर्धन के अहंदबलय प्राचीर्य हारा की गयी, तुलनीय : छोटेलाल जैन का सेल, अनेकर्त, 1966, अगस्त; 239. अन्यथों के लिए और तुलनीय : देव (एस बी). हिस्ट्री ऑफ जैन मॉर्टिजम, 1956, पृना, पृ 558.

3 फर्म्युसन (जे). हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड इंस्टर्न आर्किटेक्चर, खण्ड 2, 1906, लंदन, पृ 28. / मुख्यर्जी, पूर्वोक्त, पृ 149. इस प्रकार की रूपरेखा संभवतः जैन समक्षसरण के आधार पर बनी होगी। समक्षसरण और उनकी प्राचीनता के लिए द्रष्टव्य : शाह (उपाकांत प्रेमान्वय), स्टडीज इन जैन आर्ट, 1955, बनारस पृ 123 तथा परवर्ती, इसी प्रकार की रूपरेखा राजस्थान में ओसिया और सायद्दी में तथा खजुराहो के खोसदयोगियी मंदिर में देखने को मिलती है, फिशर (के), केब्र एण्ड ट्रेम्पल्स ऑफ व जैन, 1957, अनींग (एस), पृ 5.

4 बोल (एस). बुद्धिस्त रिकार्ड्स ऑफ व वेस्टर्न ब्रह्म, खण्ड 2, 1906, लंदन, पृ 195.

5 कुरेशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ 26, चित्र 7 क. / कुरेशी (एम एच). लिस्ट ऑफ एंथ्रोप्ट मॉन्टेन्ट्स श्रोडेंडेड ब्रंडर एक्ट 7 ऑफ 1904 इन द प्रोविन्स ऑफ विहार एण्ड उडीसा, आर्क-यॉलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंग्लैंड सीरीज, 51, 1931, कलकत्ता, पृ 120 तथा परवर्ती, चित्र 80-81.

और ५२) का काल तीसरी या चौथी शती इसकी निर्धारित किया गया है। कविन्धम ने पश्चिमी गुफा का लादात्म्य प्रसिद्ध सप्तपर्णी गुफा के साथ स्थापित किया था जहाँ प्रथम बौद्ध संगीति आयोजित की गयी थी।<sup>1</sup> कालांतर में दूसरी गुफा का पता चलने पर, बेम्बर ने यह सुभाष्या कि ये दोनों गुफाएँ बुद्ध और उनके शिष्य आनन्द से संबंधित हैं।<sup>2</sup> पश्चिमी गुफा की बाहरी भित्ति पर उत्कीर्ण शिलालेख के प्रकाश में आ जाने के फलस्वरूप इन सुभाष्यों को अमान्य कर देना चाहिए। इस संस्कृत शिलालेख में यह घोषित किया गया है कि मुनि वैर (वज्र) ने इन दो गुफाओं का निर्माण साधुओं के लिए करवाया था और उनमें अर्हतों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित करवायी थीं।<sup>3</sup> ब्लॉक ने इस शिलालेख को तीसरी या चौथी शती इसकी का बताया था। कोनोब ने गुफा के निर्माण की तिथि एक शताब्दी और पीछे कर दी।<sup>4</sup> शाह ने कोनोब का समर्थन किया और शिलालेख में उल्लिखित मुनि वैर की पहचान नामक गद्दान् श्वेतांबर आचार्य से की है, जिनकी मृत्यु महावीर-निर्वाण के पूर्व (५७ ईसवी) में हुई थी।<sup>5</sup> शाह ने सरस्वती का ही मत माना है (यद्यपि एक भिन्न प्रमाण के आधार पर)। सरस्वती यह मानते हैं कि सोनभण्डार गुफा की समानता निश्चित रूप से मौर्यकालीन बराबर और नागार्जुनी गुफाओं से है और उसकी निर्माण-तिथि इन गुफाओं से बहुत परवर्ती नहीं हो सकती।<sup>6</sup> जो भी हो, ब्लॉक द्वारा सुभाष्यी गयी इस शिलालेख की तिथि को कुरैशी और धोष ने ठीक

1 श्राव्यैलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिपोर्ट्स, अण्ड 3, 1873, कलकत्ता, पृ 140 तथा परवर्ती, इससे पहले कविन्धम ने पिपल गुफा के साथ इसका लादात्म्य स्थापित किया था, (वही, 1, 1871, शिमला, पृ 24).

2 कुरैशी, पूर्वोक्त, 1931, पृ 121.

3 श्राव्यैलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1905-6, 1909, कलकत्ता, पृ 98 पर श्री ब्लॉक का अभिसत्.

4 वही, पृ 106.

5 शाह, पूर्वोक्त, पृ 14, जाह वज्र नाम के केवल दो ही जैन आचार्यों का अस्तित्व ल्वीकार करते हैं। इनमें से पहले का उल्लेख 'आवश्यक निर्यक्ति' में आया है और दूसरे का 'निलोक-प्रकृति' में। जाह के अनुसार, इनमें से प्रथम का उल्लेख सोनभण्डार शिलालेख में किया गया है। इस पहचान में कालक्रम संबंधी जो असंगति है उसके विषय में जाह का मत यह है कि यह शिलालेख ही संभवतः मरणोपरांत उत्कीर्ण किया गया हो, वे उक्त दो आचार्यों के अतिरिक्त वैर नामक किसी अन्य व्यक्ति का अस्तित्व स्थिरावलियों में उल्लिखित हुए विना नहीं रहता', द्रष्टव्य : शाह, (उपार्कति प्रेमानन्द) : अनंल अर्ट बिहार रिसर्च सोसायटी, 39, 1953, 410-12.

[डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा है—‘वैरदेव नाम के एक दिगंबर साधु का उल्लेख कन्दिका के चौथी शती इसकी की लगभग गण्यविधि के एक लेख में आया तो है (एपिग्राफिका कन्दिका, 10, 1905; 73 — संगादक)]

6 [आठवाँ शताब्दी भी द्रष्टव्य—संपा.] गुफाओं की सादगी में सुंदेह नहीं किया जा सकता। किन्तु यह तथ्य महत्व पूर्ण है कि ये, सोनभण्डार गुफाएँ उद्यगिरि (विदिशा) की गुफाओं से इतनी समान हैं कि वे भी पूर्ण रूप से शीलोत्कीर्ण नहीं हैं, सोनभण्डार गुफाओं के बाहरी भाग पर बने हुए कोटर यह संकेत देते हैं कि इनसे आरंभ से

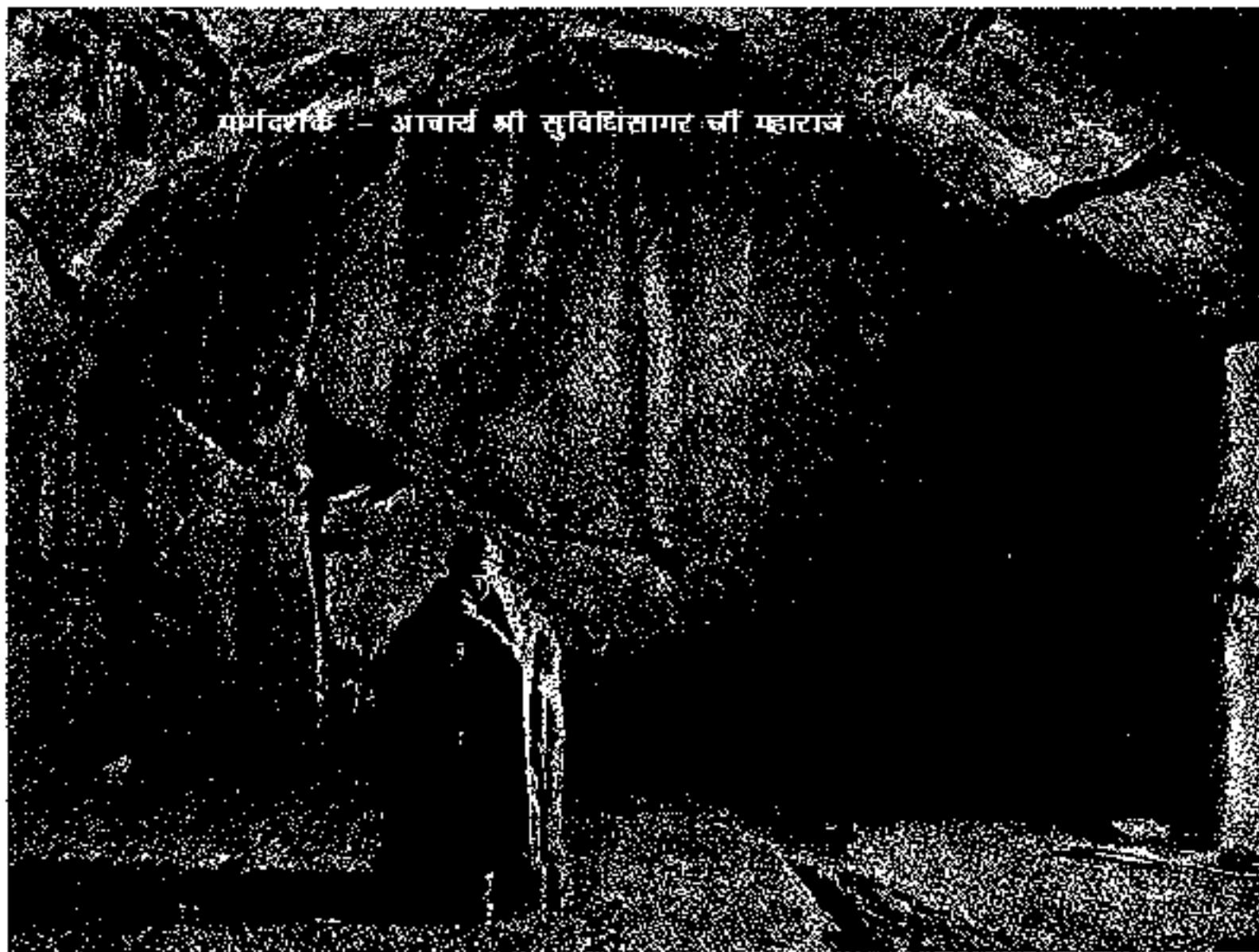


(क) राजगिर — सोनभण्डार, पश्चिमी गुफा, बाहरी दीर्घ

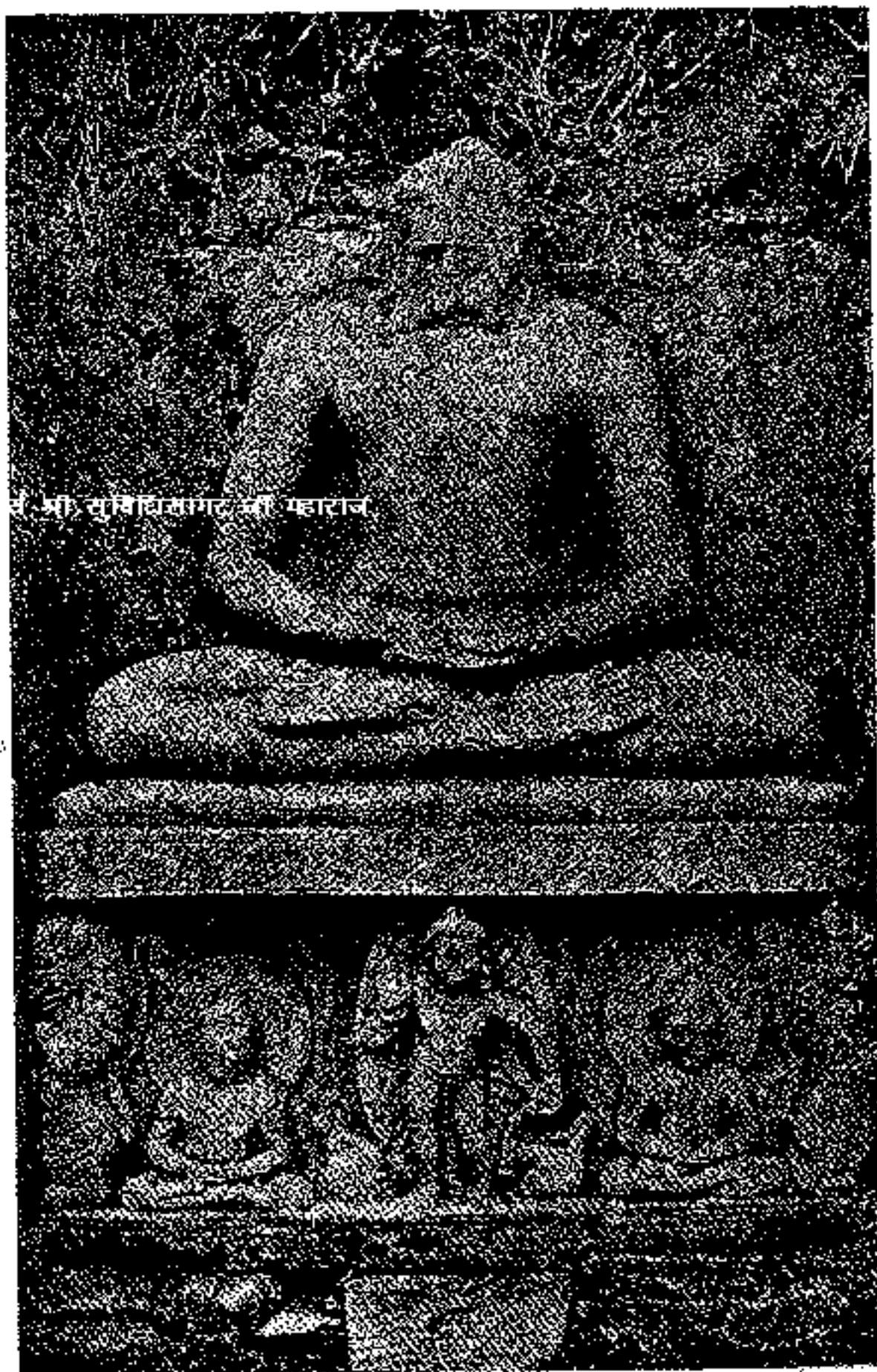
(क) राजगिर — सोनभण्डार, पश्चिमी गुफा, बाहरी दीर्घ



(ब) राजगिर — सोनभण्डार, पूर्वी गुफा, दक्षिणी दिशि पर तीव्रकारों की उत्कीर्ण गृहितियाँ



राजगिर — सोनमण्डार, पश्चिमी बुफा, अन्तःभाग, फर्श पर चीमुडी, परदर्ती शिल्प



राजगिर — चैम्पार पर्वत के मन्दिर में तीर्थकर नेमित्ताथ

(क) चौसा — सीर्पेंकर चतुष्प्रभ, काँस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)



(ख) चौसा — सीर्पेंकर चतुष्प्रभ, काँस्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)



(क) चीसा — लीर्खिकार याश्विनाथ, कोस्य मूर्ति  
(पटना संग्रहालय)



(ख) चीसा — लीर्खिकार याश्विनाथ, कोस्य मूर्ति  
(पटना संग्रहालय)

वास्तु-समरक एवं मूर्तिकला 300 से 600 ई०

[ भाग 3



चौसठ — तीर्थकर ऋषभनाथ, काल्य मूर्ति (पटना संग्रहालय)

भाना है। इस शिलालेख की लिपि और पूर्वी गुफा की दक्षिणी भित्ति पर उत्कीर्ण जैन तीर्थकरों की छह प्रतिमाओं से भी इस तिथि की पुष्टि होती है : पश्चिमी दोगमाधार गुफा के शिलालेख के निकट ही एक तीर्थकर-प्रतिमा के निचले आधे भाग की क्षीण रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है<sup>1</sup> गुफा के भीतर एक और शिल्पांकन की रूपरेखा है जिसमें एक ध्यानस्थ तीर्थकर और उनके साथ ही चौरी लिये हुए कलात्मक नारी-मूर्ति अंकित की गयी है। गुफाओं के ये विवरण शिलालेख में बणित विवरणों से मिलते हैं। वैभारमिरि का संबंध दिगंबर जैन आमनाय से रहा है, इस बात की पुष्टि ह्लेनसांग ने भी की है<sup>2</sup> उसमें लिखा है कि पिन्पु-लो (वैभार) पर्वत पर रहनेवाले दिगंबर 'सूर्य' के समान अदिराम लप-साधना करते थे। इस प्रकार श्वेतांबर-मुनि वज्र संबंधी प्रमाण शंकास्पद प्रतीत होता है। तीसरी-चौथी शती ईसवी के शिलालेख में जिन मुनि वज्र का उल्लेख है वे वही श्वेतांबर मुनि वज्र नहीं हो सकते जिनकी मृत्यु ५७ ईसवी में हुई थी। शिलालेख और तीर्थकर-शिल्पांकनों की संवत्ति दोनों सोनभण्डार गुफाओं से बैठाने के लिए, जबलक और अधिक तथ्य प्रकाश में नहीं आते, तबतक पूर्वोक्त तिथि ही मात्र होनी चाहिए।

इत गुफाओं की स्थापत्य शैली के विषय में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। पहली, अर्थात् पश्चिमी गुफा का माप  $10.3 \times 5.2$  मीटर, प्रवेशद्वार लगभग  $2 \times 1$  मीटर, और एक गवाढ़ लगभग  $0.6 \times 0.76$  मीटर है। ढार-स्तंभ ढलुबी हैं और उनका नीचे की अपेक्षा ऊपर का भाग लगभग  $1.5$  सेंटीमीटर का है। छत की रचना बक है जिसका विस्तार लगभग  $1.5$  मीटर है। इसमें ऊपर तथा पृष्ठ  $12.6$  में बणित सामान्य उभार की उत्कीर्ण तीर्थकर-प्रतिमाओं के अतिरिक्त भीतर-बाहर कहीं भी सौंदर्यात्मक महत्व की कोई बात नहीं है। फिर भी, इसकी भीतरी भित्तियों, ढार-स्तंभ और सामने की भित्ति<sup>3</sup> पर कुछ पुरालेख तथा अन्य शिलालेख हैं जो अब मिट-से गये हैं।

पश्चिमी गुफा की निकटवर्ती पूर्वी गुफा निचले स्तर पर स्थित है और उसकी समकालीन है।<sup>4</sup> जब कनिधम ने देखा था<sup>5</sup> तब उसका भीतरी भाग उसकी गिरी हुई छत के मलबे से भरा हुआ था। यह गुफा आयताकार है और पश्चिमी गुफा से छोटी है। इसके ऊपर हैंडों का एक भवन बना हुआ

ही काठनिमित किसी अतिरिक्त वस्तु का उपयोग किया जाता था। पूर्वी गुफा के सामने हैंट की एक अतिरिक्त निमिलि तथा एक बरामदा भी ध्यान देने योग्य है, ये विशेषताएँ उद्यगिरि की गुप्तकालीन गुफाओं में भी पायी जाती हैं। तुलनीय : अर्कू-थोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिपोर्ट्स, संपा : कनिधम, खण्ड 10; 1880, कलकत्ता, पृ. 86.

1. कुरैशी, पूर्वोक्त, 1931, पृ. 122.

2. भील, पूर्वोक्त, खण्ड 2, पृ. 158.

3. कुरैशी, पूर्वोक्त, 1931, पृ. 121-22। / कुरैशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ. 24-26.

4. मुनि धैर के शिलालेख में दो गुफाओं का उल्लेख है।

5. कनिधम, पूर्वोक्त, 1871, पृ. 25.

था। इस ऊपरी तल पर जाने के लिए चट्ठान को काटकर अनियमित आकार की सीढ़ियाँ बनायी गयी थीं। इसके गिरे हुए ऊपरी भवन के मलबे में से एक गरुड़ासन-विष्णु की प्रतिमा मिली थी, जिससे जात होता है कि आगे चलकर इसका उपयोग दैषणकों द्वारा किया जाने लगा था। शुका के भीतर दक्षिणी भित्ति पर छह छोटी तीर्थकर-प्रतिमाएँ शिल्पांकित हैं। 'दोनों ही गुफाओं के बाहर छतयुक्त बरामदा था जिसका संकेत पश्चिमी शुका की बाहरी भित्ति पर शहतीर के लिए बने छिद्रों और पूर्वी शुका के सामने के चबूतरे या आँगन से मिलता है, जिसकी इंटे आज भी दिखाई देती है'।<sup>1</sup>

वैभारिकि के अवस्था मंदिर में एक केन्द्रीय कक्ष है जिसका मुख पूर्व की ओर है। इसके चारों ओर आँगन है जिसके सामने सभी ओर पंक्तिबद्ध कोठरियाँ हैं। मुख्य भवन की पूर्वी भित्ति के पास तथा उनके कुछ निचले स्तर पर एक और कक्ष है जिसके उत्तर में सीढ़ियाँ हैं।<sup>2</sup> इस कक्ष में भी कुछ तीर्थकर-प्रतिमाएँ हैं जिन्हें इस युग की माना जा सकता है।<sup>3</sup>

### मूर्तिकला : प्रस्तर-मूर्तियाँ

पूर्वी ओर ने हमें इस युग की प्रस्तर और धातु-निर्मित कुछ प्रतिमाएँ तथा मृण्मूर्तियाँ विरासत में दी हैं। प्रस्तर-प्रतिमाएँ मुख्यतः राजगिर<sup>4</sup> से प्राप्त हुई हैं, जब कि चौसा (जिला भोजपुर) से धातु की सोलह प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनमें से छह इसी संदर्भित काल की हैं।<sup>5</sup> कुमराहार<sup>6</sup> और वैशाली<sup>7</sup> से हरिनीघमेष की कुछ मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो शैली और कला-कौशल की दृष्टि से यही दराती हैं कि प्राचीन कुषाणकालीन पद्धति इस युग में भी जारी रही। इस युग की दो और प्रतिमाओं की सूचना प्राप्त

1. कुरैशी और बोध, दूर्वाला, पृ 26.

2. वही, पृ 26, [इस मंदिर की तिथि के लिए अध्याय 15 येलिए.—संपादक]

3. अर्क्क्यूलॉजिकल सर्वे आँफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1925-26, 1928, कलकत्ता, पृ 125-26 में रामप्रसाद चंद्र का मत.

4. वही.

5. पटना म्युजियम, कंबेलॉग आँफ एण्डिविटीज, संया : परमेश्वरीसाल गुप्त, 1965, पटना, पृ 116-17, / प्रसाद (एच के), जैन ग्रोन्डेज इन द पटना म्युजियम, महावीर जैन विद्यालय गोल्डन लूबिली बॉल्ट्स, 1, 1968, वन्डई, पृ 275-83.

6. श्रलेकर (अकल लदाशिव) तथा मिश्र (विजयकान्त), रिपोर्ट थॉन कुमराहार एक्सक्षोप्लास्ट, 1951-55, 1959, पटना, पृ 109-11.

7. कृष्णदेव तथा मिश्र (विजयकान्त), वैशाली एक्सक्षोप्लास्ट, 1950, 1961, वैशाली, पृ 51, / सिन्हा (बी पी), तथा राय (सीताराम), वैशाली एक्सक्षोप्लास्ट, 1958-62, 1961, पटना, पृ 162-63.

हुई है; एक पहाड़पुर के खण्डहरों से। तथा दूसरी मैलामती से। वे दोनों ही स्थान अब बांग्लादेश<sup>2</sup> में हैं। इनकी प्राप्ति से पूर्वी भारत में इसी अवधि के जैन कलाकृतियों का एक संग्रह पूर्ण हो जाता है, इनके अतिरिक्त, राजगिर के मणियार मठ से भी कुछ नामी सूतियाँ मिलने की सूचना प्राप्त हुई है। यद्यपि जैन सुष्टिविद्या में नागों को व्यञ्जन-लोक के किन्तु रों की कोटि में रखा जाता है, परन्तु मणियार मठ से प्राप्त साध्य से ऐसा प्रतीत होता है कि इन वस्तुओं का जैनों से लंबांघ नहीं है। इसके विपरीत यह संकेत मिलता है कि राजगृह में एक प्रकार का सर्वदेव-मंदिर था, जिसमें ऐसे नाग देवता प्रतिष्ठित थे जिन्हें आसपास के क्षेत्रों के लोग पूजते थे।<sup>3</sup>

लघु मृण्मूर्तियों को छोड़कर जैन कला की अन्य कृतियाँ युग की सौदर्य-चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा सर्वत्र प्रचलित गुप्त-कला शैली का अंग हैं। यद्यपि उनका मूर्त्तन पारंपरिक पद्मासन या खड़गासन-भुद्रा में किया गया है, तदपि इस काल की तीर्थकर-प्रतिमाएँ प्राचीन परंपरा से कहीं अधिक प्रगतिशील बन सकीं। उनमें अत्यधिक स्थूलता नहीं रह गयी थी, इसके विपरीत उनमें कलाकार का प्रयत्न परिलक्षित होता है कि भुद्रा की कठोरता को कोमल बनाने के लिए आकृति की स्थूलता को सरल बनाए और सतत सरल रेखन्-युक्त सामंजस्य उत्पन्न करके दूर किया जाये। एक प्राचीन वानर रूप प्रदान करने की भावना सभी प्रतिमाओं में दिखाई पड़ती है, यद्यपि इसमें सफलता की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है। सामान्यतः प्रस्तर-प्रतिमाएँ कास्य प्रतिमाओं से कला की दृष्टि से अधिक सुधृढ़ हैं, और जहाँ कहीं उनमें प्राचीनता रह गयी है वहाँ उनका कारण संभवतः यह रहा है कि कलाकार कुषाणकालीन मथुरा शैली के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका। सभी रूप से ये प्रतिमाएँ उत्तर और मध्य भारत के अन्य क्षेत्रों की इसी प्रकार की कलाकृतियों के सदृश हैं।<sup>4</sup>

1. एधियाफिया इण्डिया, पूर्वोंति, / शाह, पूर्वोंति, पृ 13. यह प्रतिमा कमज़ोर पर सड़गासनस्थ तीर्थकर की है, जिसके दोनों ओर यथा ( ? शाब्द) की आकृति बनी हुई है। तुलनीय : अमेरिका; 1936, अगस्त ; 236.

2. रामचन्द्रन (ठी एन). रीसेंट आर्क्यॉलॉजिकल डिस्कवरीज असोसिएशन के मैलामाटी एण्ड लालमाई रेजिज, टिप्पेरा डिस्ट्रिक्ट, ईस्ट बंगाल. बी० सौ० लौ० बौ० बौ० यौ० संया : डॉ आर भंडारकर इत्यादि. खण्ड 2. 1946. पूना. पृ 218-19.

3. ब्राह्म, पूर्वोंति, पृ 104. करितम ने जब मणियार मठ में एक बैजनाकार रूपना की खुदाई करवायी तो वहाँ से पार्श्वनाथ की एक फायोसर्ग प्रतिमा के प्राप्त होने की सूचना श्री. (कुरैशी, पूर्वोंति, 1931, पृ 132.) किन्तु ब्राह्म को ऐसी और भी अनेकों सूतियाँ मिलीं और उनका ऊपर दिखा यथा निष्कार्बंधक प्रतीत होता है। तथापि पद्मावती की सबसे प्राचीन प्रतिमा राजगिर से प्राप्त होने की सूचना है। आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. एनुश्रूत रिपोर्ट, 1930-34. खण्ड 2. 1936. दिल्ली. पृ 276, चित्र 68 छ. / मैली (पी के). हिस्टोरिकल स्टडीज इन द कल्ट ऑफ बौद्ध मन्दिर. 1966. कालकत्ता.

4. ब्राह्म, पूर्वोंति, पृ 104. / आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ईस्टर्न सकिल. एनुश्रूत रिपोर्ट, 1905-6. 1907. कलकत्ता. पृ 14-15.

इन मूर्तियों की शैलीगत विशेषताएँ उन शैलियों को प्रदर्शित करती हैं जो सारनाथ तथा देवगढ़ में साकार हुई और जिन्होंने पूर्वी-भारत में मूर्ति-निर्माण-गतिविधि को प्रभावित किया।<sup>1</sup> राजगिर की जैन कला में कम से कम दो पृथक् शैलीगत वर्ग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। पहले वर्ग का प्रतिनिधित्व बैभारगिरि के छवस्त मंदिर से प्राप्त नेमिनाथ की प्रतिमा और पूर्वी सोनभण्डार गुफा की छह अन्य तीर्थकर-शिलाकृतियाँ करती हैं। इनमें दूसरे वर्ग की अपेक्षा अधिक लालित्य है एवं शारीर-रचना में अंगों का पारस्परिक संबंध अधिक अच्छी तरह दिखाया जा सका है। दूसरे वर्ग में तीन प्रतिमाएँ<sup>2</sup> आती हैं जो छवस्त मंदिर की उसी कोठरी में नेमिनाथ की प्रतिमा के साथ ही प्राप्त हुई थीं। इस वर्ग की प्रतिमाओं की विशेषताएँ हैं—अपेक्षाकृत सुगठित धड़, स्तंभ-जैसे पैर, और तामि के नीचे सुस्पष्ट मांस-पिण्ड जिसके नीचे एक गहरी उत्कीर्ण रेखा है जो आकृति को स्पष्ट काटती है।<sup>3</sup> यही बात गर्दन में भी देखने को मिलती है। दोनों ही वर्गों की तीर्थकर-प्रतिमाओं के हाथों का अंकन भी इस दृष्टि से असंगत है, कि सामने की भुजाएँ पार्श्व हाथों से जोड़ी गयी हैं। साथ ही, दोनों वर्गों में स्तंभ-जैसे पैर हैं तथा टांगों के अंकन में शीघ्रता से काम लिया गया है। इस प्रकार ये प्रतिमाएँ एक नयी शैली की सूचना देती हैं जो उस समय अपना स्थान बनाती जा रही थी। मिश्रित अंकन के अतिरिक्त इन प्रतिमाओं पर तीर्थकरों के दो परिचय-चिह्न भी अंकित हैं जो प्रतिमा-विज्ञान में स्वीकार किये जा रहे थे तथा जिनसे विभिन्न तीर्थकरों की पहचान करने में सहायता मिलती है।

विद्वाराधीन अवधि की जो प्राचीनतम प्रतिमा अभी तक पूर्वी भारत से प्राप्त हुई है वह है राजगिर की बैभार पहाड़ी (चित्र ५३) के छवस्त मंदिर से प्राप्त बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ की प्रतिमा।<sup>4</sup> काले पत्थर की इस प्रतिमा (७६×६६ से० मी०) पर एक अस्पष्ट शिलालेख पाया गया है जिसमें (महाराजाधिराज) श्री चंद्रभुप्त-द्वितीय (विक्रमादित्य) के नाम का उल्लेख है। इस तीर्थकर-प्रतिमा का शीर्ष बुरी तरह टूट-फूट गया है अन्यथा यह प्रतिमा पुष्ट-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। तीर्थकर-मूर्ति को सिंहासन पर ध्यान-मुद्रा में अंकित किया गया है। सिंहासन के अंतिम सिरों पर उत्तर सिंहों का अंकन किया गया है और एक अण्डाकार अर्द-युक्त चक्र की परिधि में एक राजपुरुष को खड़ा हुआ दिखाया गया है। उसके दोनों ओर दो केशाहीन तीर्थकर-मूर्तियाँ ध्यान-मुद्रा में उत्कीर्ण हैं।

1 तुलनीय : वीनर (शीला एल). क्रौंच गुप्ता द्वि वाल स्कल्पर. आर्किव्स एशियाई. 25; 1962; 167 तथा परवर्ती.

2 बून (बलौस). जिन हमेजेज अंक देवगढ़. 1969. लीडल. पृ 115-16, 222-24. चित्र 76. अपनी वर्गीकरण पद्धति में, बून ने इन प्रतिमाओं में से एक को बैठौल वर्ग (कला-प्रतीक १) के अंतर्गत रखा है और उसे प्रारंभिक मध्ययुग वौ बताया है।

3 इस विशेषता के कारण इन प्रतिमाओं की तुलना पौर्वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की सारनाथ शैली की अन्य प्रतिमाओं से भलीभांति की जा सकती है। तुलनीय : वीनर, पूर्वोक्त, पृ 168.

4 चंदा, पूर्वोक्त, पृ 125-26.

चक्र की परिधि में अंकित राजपुरुष की पहचान चंदा ने श्रिष्टनेमि (युद्धा राजकुमार नेमिनाथ) के रूप में की थी किन्तु शाह के अनुसार वह आकृति चक्रपुरुष<sup>1</sup> की है।

शैली की दृष्टि से इस प्रतिमा की समकालीन छह अन्य तीर्थकर-प्रतिमाएँ हैं जो पूर्वी सोनभण्डार गुफा<sup>2</sup> के भीतर की दक्षिणी भित्ति पर उत्कीर्ण की गयी हैं। इन छह शिल्पांकनों में से पाँच गुफा के प्रवेशद्वार (चित्र ५१ ख) के एक और हैं और छठी दूसरी और अकेली ही है। शिलाफलक पर पहली पाँच प्रतिमाएँ एक पंक्ति में उत्कीर्ण की गयी हैं। इनमें से पहली दो छठे तीर्थकर पद्मप्रभ की हैं। तीसरी तेहसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ की और अंतिम दो महाबीर की हैं। यह संपूर्ण रचना मुख्य रूप से इस तथ्य को प्रदर्शित करती है कि आमोद-आमोद की विभिन्न स्थितियों में क्रीडारत अनुचरों की मूर्तियों के पार्श्व में अंकित तीर्थकर-प्रतिमाओं के गतिहीन एवं रुदिकद्ध विवरण में कितभा विरोधाभास है। संपूर्ण रचना संतुलित रूप से की गयी है। विभिन्न तीर्थकर-प्रतिमाओं के लिए उचित ढंग से चौखटा बनाया गया है। वे सब मिलकर एक विस्तृत फलक पर चित्र-बदलारी का रूप धारण कर रहे हैं। इस फलक की समरूपता केवल उन दो छोटे-छोटे कमलों के कारण बिगड़ती है जो पद्मप्रभ की प्रथम दो मूर्तियों के नीचे बनाये गये हैं किन्तु रचना के संपूर्ण कला-कौशल पर इसका कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। जहाँ तक गैण विवरणों का प्रश्न है, इन शिल्पांकनों की प्रस्तुतीकरण-योजना लगभग एक जैसी ही है। भेद केवल विभिन्न तीर्थकरों के परिचय-चिह्नों के अंकन में ही दिखाई पड़ता है। इस प्रकार तीर्थकर-प्रतिमाएँ या तो पद्मासन मुद्रा में हैं या खड़गासन में, किन्तु इन सभी के साथ ऊपर से नीचे तक के स्तरों में अंकित हैं ये — (क) दोनों ओर हवा में झूलती हुई आकृतियाँ जिनके हाथों में या तो मालाएँ हैं या वे भक्तिभूब से केवल हाथ जोड़े हुए हैं; (ख) दोनों ओर सड़े हुए सेवक, जो चौरी लिये हुए हैं; (ग) दोनों ओर ध्यान-मुद्रा में आसीन एक-एक तीर्थकर-प्रतिमा। नीचे देवकुलिकाओं में उत्कीर्ण तीर्थकर-मूर्तियों के पादपीठ पर कुछ और विवरण भी हैं। पद्मप्रभ के शिल्पांकनों के साथ कमल उत्कीर्ण हैं तथा पार्श्वनाथ के साथ विपरीत दिशाओं की ओर मुख किये हुए दो ऐसे हाथी अंकित हैं, जो कलात्मक रूप से उत्कीर्ण चक्र के द्वारा एक-दूसरे से अलग दिखाये गये हैं; जबकि इसी प्रकार के चक्र के पार्श्व में महाबीर के साथ सिंहों का अंकन किया गया है।

प्रवेशद्वार की दूसरी ओर का एकमात्र शिल्पांकन आकार में बड़ा है, किन्तु बुरी तरह खण्डित हो चुका है। किन्तु उसमें भी शैली की वही विशदता है, जो अन्य मूर्तियों में दृष्टिगोचर होती है। उस पर कुछ और अधिक विवरण हैं — जैसे कि भासण्डल के ऊपर एक कल्प-वृक्ष उत्कीर्ण किया गया है और आसन पर एक सुविस्तीर्ण आस्तरक है। वृक्ष पर अशोक-पुष्प और पत्तियों के स्पष्ट गुच्छे हैं।

1. शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ. 14.

2. कृतिशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ. 26, चित्र 7 ख.

इसके विपरीत उपर्युक्त (पृ १२६) वैभार पहाड़ी पर नेमिनाथ की प्रतिमावाली कोठरी में खड़गासन-मुद्रा में, जो तीन जिन-मूर्तियाँ हैं, वे किसी अन्य कला-परंपरा की मालूम पड़ती हैं।<sup>१</sup> इनमें से एक प्रतिमा पर कमल के आसपास शंखों का चित्रण है, जो इसका नेमिनाथ की मूर्ति होना सूचित करता है। दूसरी प्रतिमा भी यद्यपि पहली से कुछ छोटी है और उसपर अतिरिक्त विवरण इतने स्पष्ट नहीं हैं फिर भी वह पहली से मिलती-जुलती ही है। ये दो प्रतिमाएँ अण्डाकार मूँह, सुध्यवस्थित धूधराले केश, कायोत्सर्व-मुद्रा और अपनी पूरी शोलाई में भलीभांति अलंकृत भामण्डल का प्रारूप प्रस्तुत करती हैं। इन प्रतिमाओं का परिकर तीर्थकर के दोनों ओर चमर तथा मालाधारी आकृतियों से युक्त है। इस वर्ग की तीसरी प्रतिमा सबसे छोटी और साधारण है। इसमें तीन परतों वाले उल्टे कमल-छञ्च के नीचे तीर्थकर को कायोत्सर्व-मुद्रा में दिखाया गया है और उनके साथ हैं चौरी-बाहूक। यह प्रतिमा क्षीण हो गयी है और उसके सूक्ष्म विवरण लुप्त हो गये हैं। इसी वर्ग और शैली की एक और प्रतिमा इस समय पटना स्थित गोपीकृष्ण कनोड़िया संग्रह में है। यह मूर्ति पाश्वनाथ की है और जहाँ तक परिकर के विवरणों का प्रश्न है, इसकी शैली विशेष रूप से गुप्तकालीन है। फिर भी, चेहरे का अंकन शेष आकृति से शैली में भिन्न है। ही संकता है कि कालांतर में इस प्रतिमा को फिर से काटा-छाँटा गया हो, जिसके कारण यह अंतर आ गया है।

### कांस्य मूर्तियाँ

उक्त प्रतिमाओं के पश्चात् चौसा से प्राप्त धातु की छह प्रतिमाएँ आती हैं, जो अब पटना संग्रहालय में हैं। ये सहज आकर्षण और अभिव्यक्ति की उपयुक्तता दर्शाती हैं। एक वर्ग के रूप में यह पश्चिम भारत में प्राप्त मूर्तियों से भिन्न हैं।<sup>२</sup> इनमें से दो (चित्र ५४) आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ की हैं जैसा कि उनके पश्चिम-चिह्न (अर्ध चन्द्र) से स्पष्ट है, जो शिरश्चक्र के ऊपर मध्य में दिखाया गया है। अन्य दो प्रतिमाएँ (चित्र ५५ क और ५६) प्रथम तीर्थकर कृष्णदेव की हैं, जिनकी पहचान उनके कंधों तक आये दालों के कारण हो सकी है। शेष दो (एक का चित्र दिया गया है, चित्र ५५ ख) क्षीण हो जाने और इस कारण विवरणों का पता तहीं लग पाने से पहचानी नहीं जा सकी है। सभी तीर्थकरों को पादपीठ पर ध्यान-मुद्रा में आसीन अंकित किया गया है और सभी के बक्ष के मध्य में श्रीवत्स-चिह्न तथा पीछे की ओर शिरश्चक्र है। जिस मूर्ति का शिरश्चक्र अब लुप्त हो गया है, उसके पीछे की चूल से ज्ञात होता है कि वहाँ पहले शिरश्चक्र था। कृष्णदेव की प्रतिमाएँ

१ ये प्रतिमाएँ सामग्र्यवलः गुप्त-काल की बतायी जाती हैं। तुलनीय : चंदा, पूर्वोक्त, पृ 126. / कुरैशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ 26. / शाह, पूर्वोक्त, पृ 14. / इन (पूर्वोक्त पृ 222-23) इनमें से एक को मध्यकालीन मूर्तियों के वर्ग में रखते हैं। चौड़ा बनाया हुआ था, तीसे संदिग्ध और एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक कम सूक्ष्म परिवर्तन यह सूचित करते हैं कि इन प्रतिमाओं में किसी सीमा तक उन शैलीगत विशेषताओं के आदर रूप विद्यमान हैं, जो रांकमणकालीन कला पर छावे हुए थे।

२ पश्चिम भारतीय काल्य मूर्तियों के लिए ब्रह्मण्ड : शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 16. / अध्याय 13 भी।

ठीक-ठीक अनुपात में बनायी गयी हैं। उसका चेहरा पुष्ट एवं अण्डाकार है। कर्ण-पिण्ड लम्बे और ग्रीवा का रेखन नियमित है। कंधे से कटि तक तथा उसके नीचे के भाग की संधि कुशलतापूर्वक अंकित की गयी है। प्रत्येक भाग स्पष्ट दिखाई पड़ता है किन्तु बड़ी कुशलतापूर्वक एक दूसरे में मिलाया गया है। इन विशेषताओं के कारण ये प्रतिमाएँ चन्द्रप्रभ की प्रतिमाओं से श्रेष्ठ जान पड़ती हैं, यद्यपि चन्द्रप्रभ की प्रतिमाएँ अधिक अलंकृत हैं। तथापि, ऋषभदेव की हथेलियाँ अनुपात का ध्यान न रखकर बड़ी बनायी गयी हैं और पैर के अंगूठे बाहर निकले हुए हैं। बालों को दोनों ओर लटकते हुए दिखाया गया है तथा सिर के बीच में बालों की मणि विशाली गयी है। बालों के गुच्छों की लहरों की भाँति कंधे पर फैला हुआ दिखाया गया है।

चन्द्रप्रभ की प्रतिमाओं में से एक (चित्र ५४ क) के मूलन में कुछ बातें और विस्तार से आयी हैं। तीर्थकर को एक ऐसे द्वि-स्तरीय आयताकार पादपीठ पर ध्यान-मुद्रा में अंकित किया गया है जो दो असंकृत स्तंभों के मध्य में देवकुलिका जैसा प्रतीत होता है। हत्थों के शीर्ष पर असंगत आकार के मकर-मुख हैं, जिनकी जिह्वाएँ कुष्ठली के रूप में बाहर निकली हुई हैं। तीर्थकर-शीर्ष के पीछे एक अर्ध-गोलाकार शिरदण्ड है, जिसकी परिधि पर गोल कंगुरे, कमल-पंखुड़ियों का एक भाषण्डल तथा सबसे ऊपर अर्धचन्द्र है। इस मूर्ति में उण्णीष, लम्बे कर्ण-पिण्ड और कंधों पर लटकते हुए बालों का अंकन, जैसा कि ऋषभदेव की प्रतिमाओं में होता है, एक आश्चर्य की बात है। चन्द्रप्रभ का मुख गोल है, घड़ छोटा है और कंधे तथा भूजाएँ कुछ बाहर निकली हुई हैं। कटि के नीचे का भाग अर्थात् टाँगों और हाथों के चुमाव (पद्मासन-स्थिति) का चित्रण सूक्ष्मता से नहीं हुआ है। चन्द्रप्रभ की दूसरी प्रतिमा (चित्र ५४ ख) पहली से कुछ छोटी है, किन्तु उसी के समान है। उपर्युक्त जा सकी मूर्तियों में से एक (चित्र ५४ ख) उसके द्वि-स्तरीय पादपीठ के विवरणों तथा शरीर के निचले भागों के अंकन की दृष्टि से इसी वर्ग की प्रतीत होती है।

समग्र दृष्टि से इन कांस्य मूर्तियों में शैलीगत अंतर है, विशेष रूप से मुखाङ्किति तथा शरीर के अंकन में। चन्द्रप्रभ की मूर्तियाँ ऋषभदेव की मूर्तियों से परवर्ती प्रतीत होती हैं।<sup>1</sup>

### मृण्मूर्तियाँ

उक्त मूर्तियों की तुलना में, मृण्मूर्तियों में कला-कौशल की कमी है और वे उस पुरातनता को दोहराती प्रतीत होती हैं, जो उन्हें विरासत में मिली थी। इस प्रकार की जो मूर्तियाँ वेशाली<sup>2</sup> में प्राप्त

1 तुलनीय : शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 13. श्री शाह ने कुछ चौसठ कांस्य मूर्तियों पर अपना मत व्यक्त किया है।

2 कृष्णदेव तथा मिथि, पूर्वोक्त, पृ 51, चित्र 12 ग 7. / सिन्हा तथा राय, पूर्वोक्त, पृ 162-63, चित्र 52, चित्र 1-9 / सिन्हा और राय इन मृण्मूर्तियों से संबंधित वेशाली की चौकी श्रवणि को कालक्रमानुसार लगभग 200-600 ई० मानते हैं।

वस्तु-स्मारक एवं सूतिकला 300 से 600 ई०

हुई हैं, उनमें से लगभग आधा दर्जन लघु मूर्तियों की पहचान शिशु-जन्म के जैन-देवता नैगमेष<sup>1</sup> के रूप में की गयी है। इनकी विशेषताएँ हैं—पशु-मुख किन्तु बकरे के समान आकृति, लम्बे लटकते हुए कान जिनमें या तो छेद किये हुए हैं या कटाक-चिह्न हैं। साधारणतः मङ्ग का अंकन टेढ़ी नाक<sup>2</sup> के नीचे गहरे कटाक-चिह्न के रूप में किया गया है। वैशाली में मिली नैगमेष की मृण्मूर्तियों में तीन प्रकार स्पष्ट दिखाई देते हैं—स्त्री, पुरुष और विशुसहित या विशुरहित दम्पत्ति। इन प्रकारों में भी स्त्री-मूर्तियों की प्रधानता है। कुषाणकाल की ऐसी ही लघु मूर्तियों में कानों के ऊपर सींगों का होना एक अतिरिक्त विशेषता<sup>3</sup> है। कुमराहार के चौथे और पाँचवें खुदाई-स्थलों से इस प्रकार की लगभग वारह लंघुमूर्तियों प्राप्त हुई हैं, जो चौथी अवधि (लगभग ३००-४५० ई०) तथा पाँचवीं अवधि (लगभग ४५०-६०० ई०) की हैं। वे पुरुष और महिला प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा शैली में वैशाली से प्राप्त कृतियों के समान हैं।

ये सभी लघु मृण्मूर्तियाँ हाथ की बनी हुई हैं और उनमें अहिच्छन्न की नैगमेष मूर्तियों<sup>4</sup> जैसा मनोहारी आकर्षण नहीं है। स्थूल रूप में हाथ से बनायी गयी, पुरातन और अपरिष्कृत में सूतियाँ किसी ऐसी सांप्रदायिक परंपरा की प्रतीत होती हैं, जो शास्त्रीय सुधार्यता तथा सुसंस्करण के द्वारा रूपांतरित नहीं हो पायी थीं। जो भी हो, एक सुझाव यह भी दिया जाता है कि हो सकता है कि पहाड़पुर मृण्मूर्तियों की कुछ प्राचीन फलकों का उस समय पुनः समायोजन किया गया हो, जब आठवीं शताब्दी में जैन विहार को एक नया रूप दिया गया था।<sup>5</sup> ऐसा कहा जाता है कि पहाड़पुर में कला-शैली का गुप्त-काल से अध्यकाल<sup>6</sup> की कला-शैली के रूप में रूपांतर हुआ था, किन्तु वर्तमान में जो कलावस्तुएँ उपलब्ध हैं, वे इस प्रकार की किसी कला-प्रक्रिया से जैन संबंधों की सूचना नहीं देतीं।

रमानाथ मिश्र

1 हरिमैनमेष के लिए द्रष्टव्य : जर्मन ऑफ दि इन्डियन सोसायटी ऑफ ओरियान्ड आर्ट, 29; 1952-53; 19 तथा प्रत्येक शृङ्खों में उपाकृत प्रेमानंद शाह का लेख।

2 एंड्रेष इन्डिया, 4; 1947-48; 134 में वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख।

3 कृष्णदेव तथा मिथ, पूर्वोक्त, पृ. 51

4 अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. 134-37, चित्र 48 क।

5 शासमृप्त (सी. सी.), श्रीरिक्षित एचड डेवलपमेंट ऑफ कल्पन स्कल्पचर्स इन इन्डिया, 1961, कलकत्ता, पृ. 229-34.

6 अमरिश (स्टेला), इन्डियन स्कल्पचर्स, लंदन, पृ. 216.

## अध्याय 12

### मध्य भारत

कुछ ही समय पूर्व तीर्थकरों की तीन अभिलेखाक्रित प्रतिमाएँ प्रकाश में आयी हैं, जो मध्यप्रदेश के विदिशा जिले में दुर्जनपुर भामक ग्राम में प्राप्त हुई हैं और इस समय विदिशा के स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। अभिलेख पद्मासनस्थ ध्यान-मुद्रा में तीर्थकर-प्रतिमाओं के पादपीठ पर अकित हैं। पादपीठों के दोनों ओर पंखधारी सिंह तथा मध्य में धर्म-चक्र उत्कीर्ण है, जिसकी परिधि का अंकन सामने की ओर है। इनमें से दो प्रतिमाओं (चित्र ५७ और ५८) की मुखाकृतियाँ विखण्डित हो चुकी हैं, किन्तु उनके पीछे भामण्डल तथा पादर्व में दोनों ओर चमरधारी पुरुष खड़े हैं। इन भामण्डलों की बाहरी परिधि नखाकार किनारी से अलंकृत है तथा केन्द्र में एक सुंदर खिला हुआ बहुदल कमल है। तीसरी मूर्ति (चित्र ५९) का प्रभामण्डल अधिकांशतः नष्ट हो गया है और यह भी निश्चित नहीं है कि इस मूर्ति के पादर्व में खड़े हुए सेवक अकित थे या नहीं। किन्तु तीर्थकर की मुसकानयुक्त मुखाकृति का एक अंश मात्र शेष है। नासिका, नेत्र और ललाट भाग खण्डित हो चुके हैं। शीर्ष के विशेष भाग में कानों के लम्बे छिद्रयुक्त पिण्ड दिखाई देते हैं। इन तीनों प्रतिमाओं के वक्षस्थलों पर 'श्री-वत्स'-चिह्न स्पष्टतः परिलक्षित हैं। प्रत्येक तीर्थकर का धड़ एक पूर्ण विकसित एवं सुपुष्ट वक्ष-स्थल युक्त है, जो गुप्तकालीन मूर्तिकला की अपनी विशेषता है। धड़ के दोनों ओर निकली हुई कोहनी और भुजाओं की स्थिति विशेष प्रकार की है, जो समूची प्रतिमा को एक त्रिकोणाकार रूप प्रदान करती है, जिसमें सिर त्रिकोण का शीर्षभाग और दोनों भुजाएँ त्रिकोण की दो भुजाओं का रूप प्रहृण करती प्रतीत होती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में और कम से कम जैन ध्यानावस्थित प्रतिमाओं में पद्मासन-मुद्रा का अंकन योगासन की एक आदर्श मुद्रा के रूप में मान्य रहा होगा।

ये मूर्तियाँ मात्र जैन धर्म के इतिहास तथा मूर्तिकला की दृष्टि से ही नहीं अपितु गुप्तकालीन कला के इतिहास की दृष्टि से भी विशेष महत्वपूर्ण हैं। चित्र ५७ क की मूर्ति का अभिलेख (चित्र ५७ ख) अन्य दो प्रतिमाओं के अभिलेखों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित है। इस अभिलेख के श्रनुसार महाराजाविराज रामगुप्त ने इन प्रतिमाओं का निर्माण तथा प्रतिष्ठा गोलक्यान्त्या के सुपुत्र चेतु-

<sup>1</sup> गह (जी एस), श्री इस्कल्यान्त्र बौद्ध रामगुप्त, जनरल ऑफ दि ओरियण्डल इन्डीडब्ल्यूट, मङ्गोदा, 18; 1969: 247-51 तथा एथिराफियां इच्छिका, 38; 1970: 46-49.

क्षमण और उनके शिष्य तथा चंद्र-क्षमाचार्य-क्षमण-श्रमण, पाणिपात्रिक (अपनी हथेलियों की ही भिक्षा करने वाले) के पट्ट शिष्य आचार्य सर्पसेन क्षमण की प्रेरणा से तथा जलपात्र के रूप में उपयोग करते थे।

आचार्य चंद्र निवन्धय ही दिगंबर थे और वह संभवतः धार्मनीय संघ से संबद्ध थे, क्योंकि हठना तो हमें ज्ञात ही है कि दिगंबर भगवती-आराधना के रचयिता शिवार्थी ने स्वयं को पाणिदलभोद कहा है, जिसका लात्पर्य हाथ पर रखकर भोजन करनेवाले जैन साधु से है। सर्पसेन जागसेन नाम का ही दूसरा रूप रहा होगा, क्योंकि पश्यदिवाची नामों का प्रचलन प्राचीन साहित्य में भी अपरिचित नहीं है।

रामगुप्त को यहाँ महाराजाधिराज कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि वह कोई छोटा-सा सामंत नहीं था। किसी रामगुप्त द्वारा प्रचालित ताम्रमुद्राएँ भी हमें विदिशा क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। इन तीनों अभिलेखों की पुरालिपि में उल्लिखित महाराजाधिराज रामगुप्त चौथी शताब्दी का गुप्त-शासक रामगुप्त ही संभवित है, जिसका उल्लेख विशाखदस ने अपने देवी-चंद्रगुप्त (नाटक) में चंद्रगुप्त-हितीय के बड़े भाई के रूप में किया है।

पादपीठों के केन्द्र में धर्म-चक्र या ही अंकन है। उसके पाइव में दोनों ओर हरिणों का अंकन नहीं है। चित्र ५८ में धर्म-चक्र का अंकन पादपीठ के केन्द्र में है। पादपीठों पर तीर्थकरों का कोई सांछन अर्थात् परिचय-चिह्न अंकित नहीं है।

यीवा में एकावली धारण किये हुए अनुचरों की आकृतियों का अंकन कुशलतापूर्ण है। चित्र प५७ के में, दो अनुचर एक विशेष प्रकार का कुषाणकालीन शिरोभूषण पहने हुए हैं, जिसके केन्द्र में चूड़ामणि अंकित है, जबकि चित्र प५८ में एक अनुचर तिकोनी टोपी पहने है, जो शककालीन टोपियों से मिलती-जुलती है। ये प्रतिमाएँ, जिनका रघुनाथकाल रामगुप्त के अल्प शासनकाल के अंतर्गत ३७० से इसवी के लगभग निर्धारित किया जा सकता है, इस तथ्य का निविच्छिन्न साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं कि इस विचाराधीन प्रवधि की तीर्थकरण-प्रतिमाओं में कोई स्थान प्राप्त नहीं कर पाये थे।

विदिशा के निकट उदयगिरि की एक गुफा (गुफा २०) में गुप्त-संवत् १०६ (कुमारगुप्त-प्रथम का शासनकाल) का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है<sup>2</sup> जिसमें पादवंशाथ की एक प्रतिमा के निर्माण का

१ धर्म-नक्क के पार्श्व में दोनों और हरिहरों का अंकन त तो यथुरा की कृष्णकालीन जैन प्रतिमाओं में पाया जाता है और न चन्द्रमुखकालीन राजपिर में स्थापित नेभिनाथ की प्रतिमा के पादपीठ पर (दलटब्ब, चित्र ५३)। यहाँ भी यही विवरण दिया गया है कि दोनों प्रभाव के कारण यह कला-प्रतीक किसी परवर्ती अवधि में अपनाया गया है।

2 गुप्तकालीन अभिलेखाक्रित जैन भूतिवों के लिए द्रष्टव्यः पलीट (जे एफ). इस्कॉल्यूस आर्फ दि अली गुप्ता कार्य  
को रूपसं इस्कॉल्यूतम इष्टिकारम. 3. 1888. कलकत्ता. पृ 258 संया परवर्ती. / बनर्जी (रामालदास).

उल्लेख है, जो उनके सिर पर भयंकर तार-फण के कारण भय-मिश्रित पूज्य भाव को प्रेरित करती है। उक्त शिल्पांकित मूर्ति अब नव्वप्राय समझी जाती है। जो मूर्ति इस समय गुफा में स्थित है, वह बहुत परवर्ती काल की है। तथापि, इस शिलालेख से यह पर्याप्त स्पष्ट नहीं है कि पार्वतीनाथ की प्रतिमा इस गुफा में एक पृथक् प्रतिमा थी, क्योंकि शिलालेख में 'आचीकरत्' शब्द का उपयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'निर्माण करवाया गया'; उत्कीर्ण करने वा मूर्ति को प्रतिष्ठापित करने का भाव इसमें नहीं है। हो सकता है कि शिलालेख में संदर्भ आंशिक रूप से खण्डित हो चुकी पार्वतीनाथ की उस वर्तमान प्रतिमा का हो जो गुफा की भित्ति पर उत्कीर्ण है (चित्र ६० क)।<sup>१</sup>

विदिशा के निकट बेसमगर से तीर्थकर की एक उल्लेखनीय खड़गासन-प्रतिमा प्राप्त हुई है जो इस समय ग्वालियर संग्रहालय<sup>२</sup> में सुरक्षित है। इस प्रतिमा में तीर्थकर के सिर के सभीप दो उड़ती हुई मालावाहक मानव-आकृतियाँ हैं, वृत्ताकार प्रभामण्डल के केंद्र में कमल है तथा उसकी परिधि का बाहरी किनारा गुलाब के छोटे-छोटे फूलों से अलंकृत है। पैरों के सभीप दो भक्त (शीर्षविहीन) अर्धतिष्ठमुद्रा में अंकित हैं। तीर्थकर की बुटनों तक लम्बी भुजाएँ, कुछ-कुछ गोलाकार और चौड़े कंधे तथा घड़ की संरचना से संकेत मिलता है कि इस प्रतिमा का रचनाकाल लगभग छठी शताब्दी का उत्तरार्ध रहा होगा। इस रचनाकाल का समर्थन प्रतिमा का विशिष्ट शिरोभूषण तथा सिर के दोनों ओर प्रभामण्डल के सम्मुख उड़ती हुई मालावाहक मानव-आकृतियाँ (चित्र ६१) का अंकन भी करता है।<sup>३</sup>

मध्यप्रदेश के पश्चा जिले में गुप्तकालीन शिवमंदिर के लिए प्रसिद्ध नचना नामक स्थान के सभीप सीरा पहाड़ी से गुप्तकालीन जैन प्रतिमाओं का एक समूह प्राप्त हुआ है, जिनमें से कुछ परवर्ती-काल की भी हैं।<sup>४</sup> चित्र ६२ में तीर्थकर पद्मासन-मुद्रा में अंकित हैं। उनके सिर के पीछे एक विस्तृत प्रभामण्डल है जिसके शीर्ष के निकट दोनों ओर उड़ते हुए गंधर्व-युगल अंकित हैं। तीर्थकर के पार्वत में दोनों ओर चमर-घर यथा खड़े हुए हैं जो मुकुट पहने हैं, और जिसके सामने का अलंकरण कुषाणों के

एवं छाँक वि हृषीरियल गुप्ताज. 1933. बनारस. पृ 104, 106, 108, 129 तथा चित्र १४. / शाह (उमा कांत श्रेमानन्द). स्टडीज इन जैन आर्ट. 1955. बनारस. पृ 14-15.

१ जैन (हीरालाल). भारतीय संस्कृति में जैन-घर्व का योगदान. 1962. भोपाल. पृ 39।. / फिलर (कलीन). केवल एण्ड ट्रेस्यस्ट ऑफ द जैन्स. 1956. अलीगंज. पृ 6 तथा चित्र.

२ शाह, पूर्वोक्त, चित्र २४; पूर्वती ग्वालियर राजध के आर्क्यौलॉजी विभाग का नेमेटिव सं. ७८६. ये नेमेटिव इस राम्य मध्य प्रदेश के पुरातत्त्व विभाग के अधिकार में हैं और संभवतः ग्वालियर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

३ विक्रम-समृद्धि-चंद्र. 1944-55 (वि. सं. 2000). ग्वालियर. पृ 203 के सामने का चित्र.

४ इन प्रतिमाओं का विवेचन नीरज जैन ने दो चित्रों सहित अनेकांत, दिल्ली. 15, 19; 222-23 पर किया है। ये प्रतिमाएँ नचना के ब्राह्मण मंदिरों के निकट जलाशय के सभीप पहाड़ी की दो गुफाओं में लेटी हुई अवस्था में पायी गयी दर्तायी जाती हैं। मैंने यहाँ मात्र उन्हीं प्रतिमाओं का विवेचन किया है, जिनके छाया-चित्र भारतीय पुरातत्त्व संचयण, उत्तरी क्षेत्र, ग्रामरा से प्राप्त ही सके हैं।

विशेष शिरोभूषण के समान है जिससे इस प्रकार के मुकुटों का विकास हुआ है। इन दोनों यक्षों के शरीर-विन्यास का अंकन, यक्षों और गंधवों के गले का आभूषण-एकावली, गंधवों का सजीव चित्रण, तथा सौंडनी, एहसेले आदि से उनकी समानता के कारण इस प्रतिमा का रघुनाथ काल लगभग चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध प्रतीत होता है जो मुप्त-शासन का प्रारंभिक काल था। मुकुट पर इसी प्रकार के कला-प्रतीक का अंकन उद्यगिरि की एक गुफा के विख्यात वराह-फलक पर अंकित नाम तथा दो या तीन खड़ी हुई छोटी आकृतियों के शिरोभूषणों में पाया गया है। तीर्थकरों के शीर्ष तथा शरीर के अंकन की मथुरा की लगभग चौथी शताब्दी की प्रतिमाओं से समानता भी तिथि की पुष्टि करती है। पादपीठ के मध्य में धर्म-चक्र और उसके दोनों ओर दो छोटे-छोटे सिंह अंकित किये गये हैं। इसी स्थान से प्राप्त, आगे वर्णित ऋषभनाथ की खड़गासन प्रतिमा के पादपीठ की सादृश्यता के आधार पर कहा जा सकता है कि तीर्थकर की यह पद्मासन मूर्ति महावीर की है जिस पर उनका परिचय-चिह्न सिंह अंकित है।<sup>1</sup>

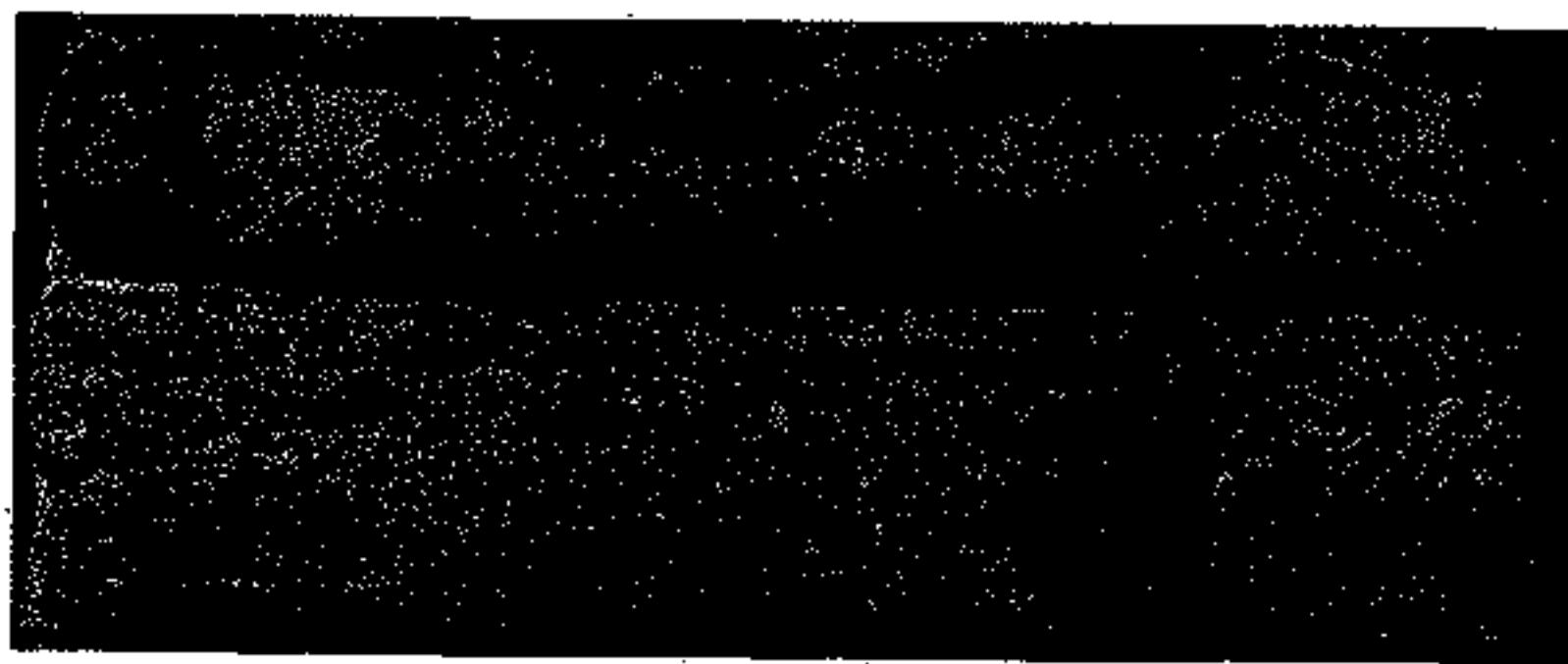
सीरा पहाड़ी से प्राप्त ऋषभनाथ की खड़गासन प्रतिमा (चित्र ६३) के पादपीठ पर धर्म-चक्र तथा उसके दोनों ओर दो भक्त अंकित हैं। पुनीत चक्र की परिधि को सामने की ओर से उसी प्रकार अंकित किया गया है, जैसे मथुरा की कुषाणकालीन प्रतिमाओं के पादपीठ पर। साथ ही, इस प्रतिमा के पादपीठ के दोनों सिरों पर विशिष्ट भारतीय वृषभ अंकित हैं, जो ऋषभनाथ का परिचय-चिह्न है। परवर्ती जैन मूर्तियों में सिंह को पादपीठ के दोनों पाशवों में अंकित किया गया है, जो सिंहासन का सूचक है, जबकि बौद्ध मूर्तियों के समान धर्म-चक्र के पाश्व में दोनों ओर दो हरिणों का अंकन है। किन्तु इस प्रतिमा में वृषभ-चिह्न तो इसी प्रकार दर्शया गया है, किन्तु धर्म-चक्र के पाश्व में हरिण अंकित नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि यह प्रतिमा उस प्रारंभिक काल की है, जब प्रतिमाओं में परिचय-चिह्नों के अंकन का आरंभ ही हुआ था और जब तीर्थकरों के परिचय हेतु चिह्नों की परिपाणी पूर्णरूपेण निर्धारित नहीं हो पायी थी। इस सादृश्यता के आधार पर चित्र ६२ में दर्शयी गयी तीर्थकर-प्रतिमा को महावीर की प्रतिमा माना जा सकता है।

इन दोनों मूर्तियों की शैली शास्त्रीय मुप्त-शैली के विशिष्ट कुषाण-प्रकारों से पलायन की सूचक है। किन्तु महावीर की प्रतिमा एक सुंदर कलाकृति है, जिसमें विशेष रूप से मुखाकृति का अंकन अत्यंत उत्कृष्टता के साथ किया गया है। इसी स्थान से उपलब्ध और इसी काल की, संभवतः इससे

1. मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त कुषाणकालीन जैन प्रतिमाओं में तीर्थकरों के लालन (परिचय-चिह्न) नहीं पाये गये हैं। राजगिर की मुप्तकालीन जैन प्रतिमाओं में लालन तो पाये गये हैं, किन्तु इनकी स्थिति पाँचवीं शताब्दी में भी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हो पायी थी। उदाहरण के लिए, राजगिर की बैमार पहाड़ी पर स्थित नेमिनाथ की प्रतिमा के चित्र में द्वष्टव्यः आर्क्योलॉजिकल रेव्न ऑफ इण्डिया, एनुग्रह रिपोर्ट, 1925-26, संपा, रामप्रसाद चंदा, 1928, कलकत्ता, पृ 125 तथा परवर्ती, / शाह, प्रवीक्षा, पृ 14, चित्र १८ [और द्वष्टव्यः इस शंथ में चित्र ५३ — संपर्क] इस प्रतिमा के पादपीठ के केन्द्र में धर्म-चक्र के दोनों ओर दो शंख अंकित हैं। शंख नेमिनाथ का परिचय-चिह्न है।



(क) दुर्जनपुर — तीर्थिकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय)



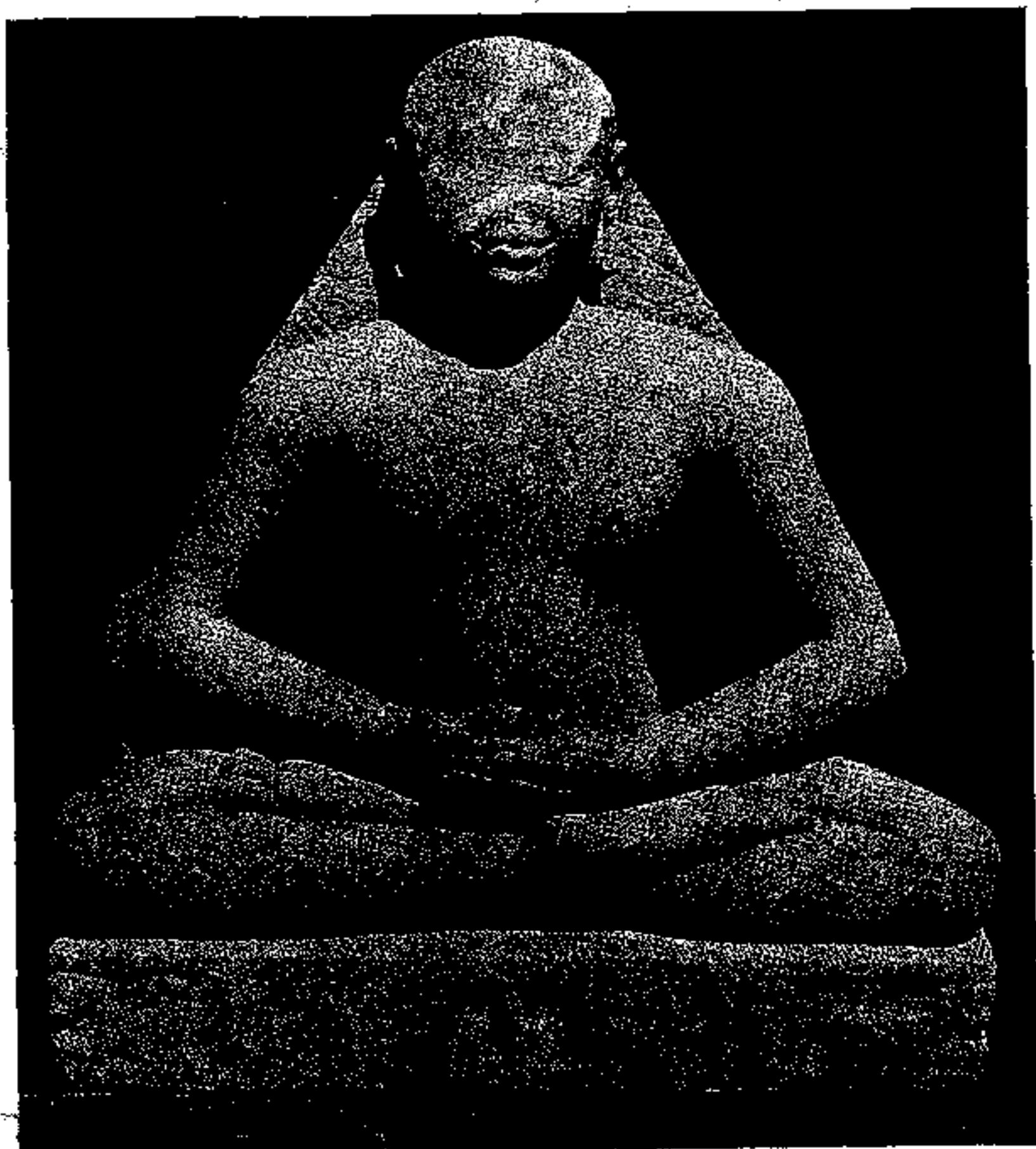
(ख) दुर्जनपुर — छष्टर वाली मूर्ति के पादसीठ पर अधिलेख

वर्त्तु-स्मारक एवं सूतिकला 300 से 600 ई०

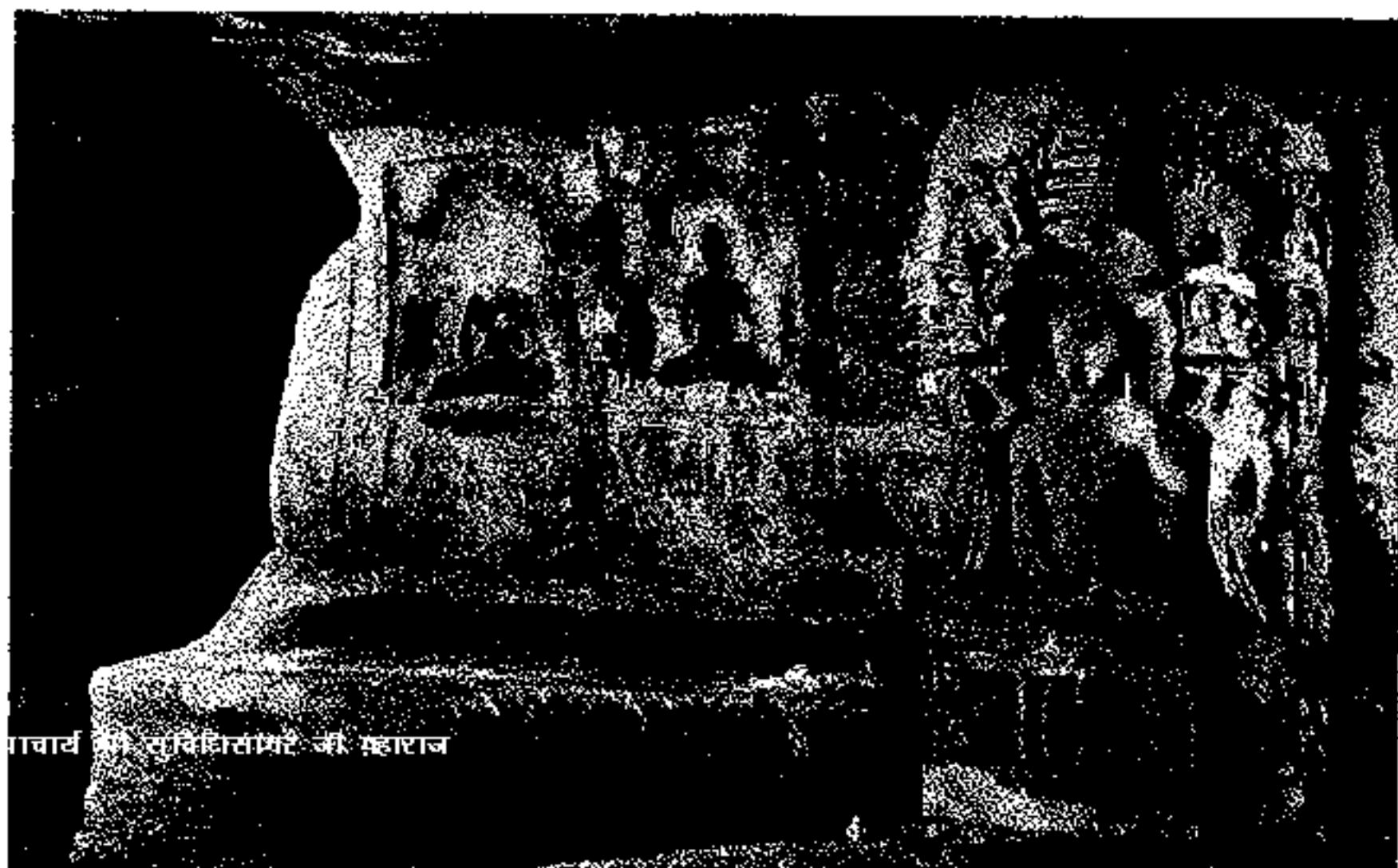
[ भाग 3



दुर्गतपुर — सीर्यंकर मूर्ति (विविशा संग्रहालय)



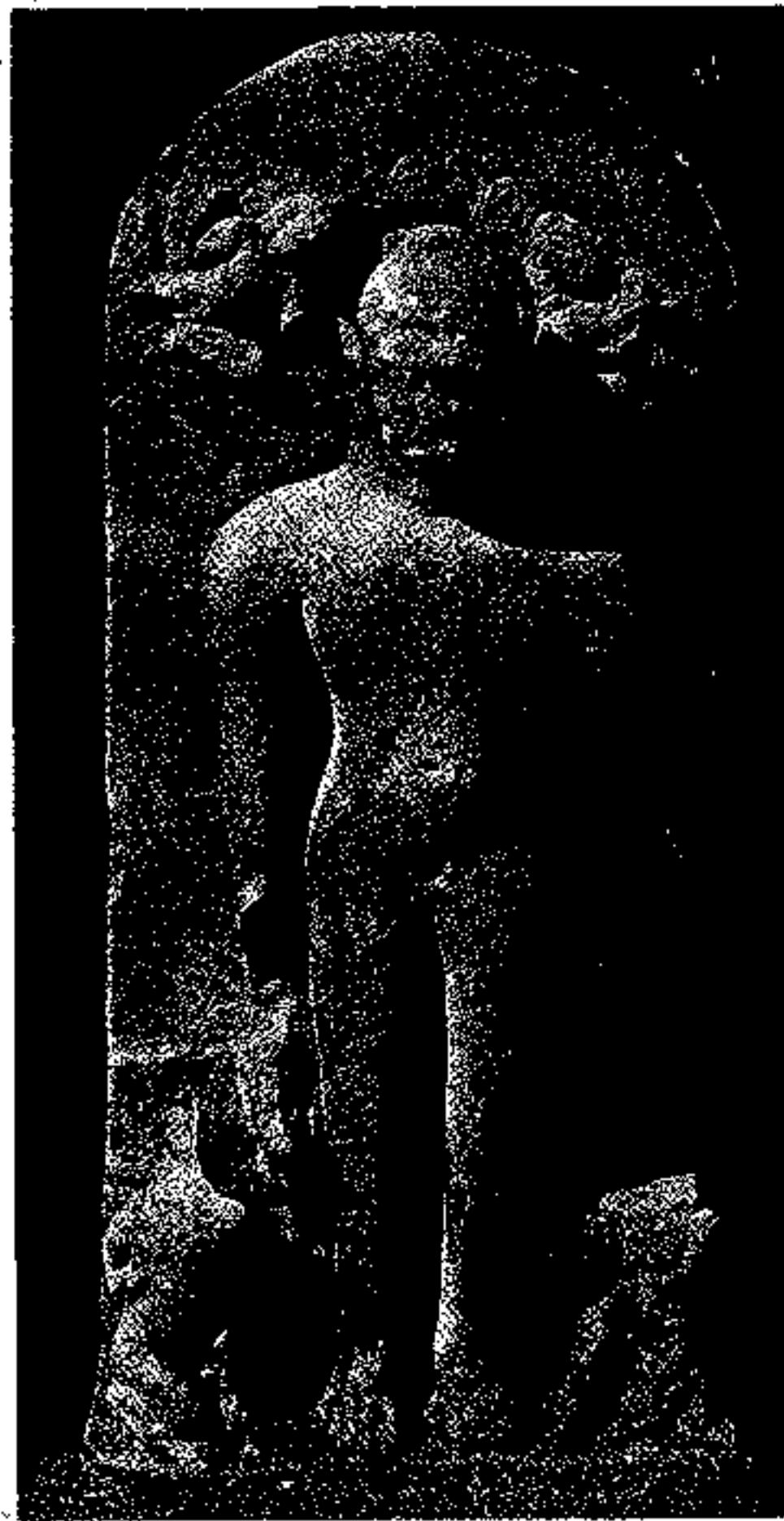
हुजरतपुर — कीर्तकर मूर्ति (विदिशा संग्रहालय)



(क) उदयगिरि — गुफा चित्ति पर उत्कीर्ण तीर्थकर तथा उभके फार्वे में हीर्षकर पाश्वनाथ की एक धरमातिकालीन प्रतिमा



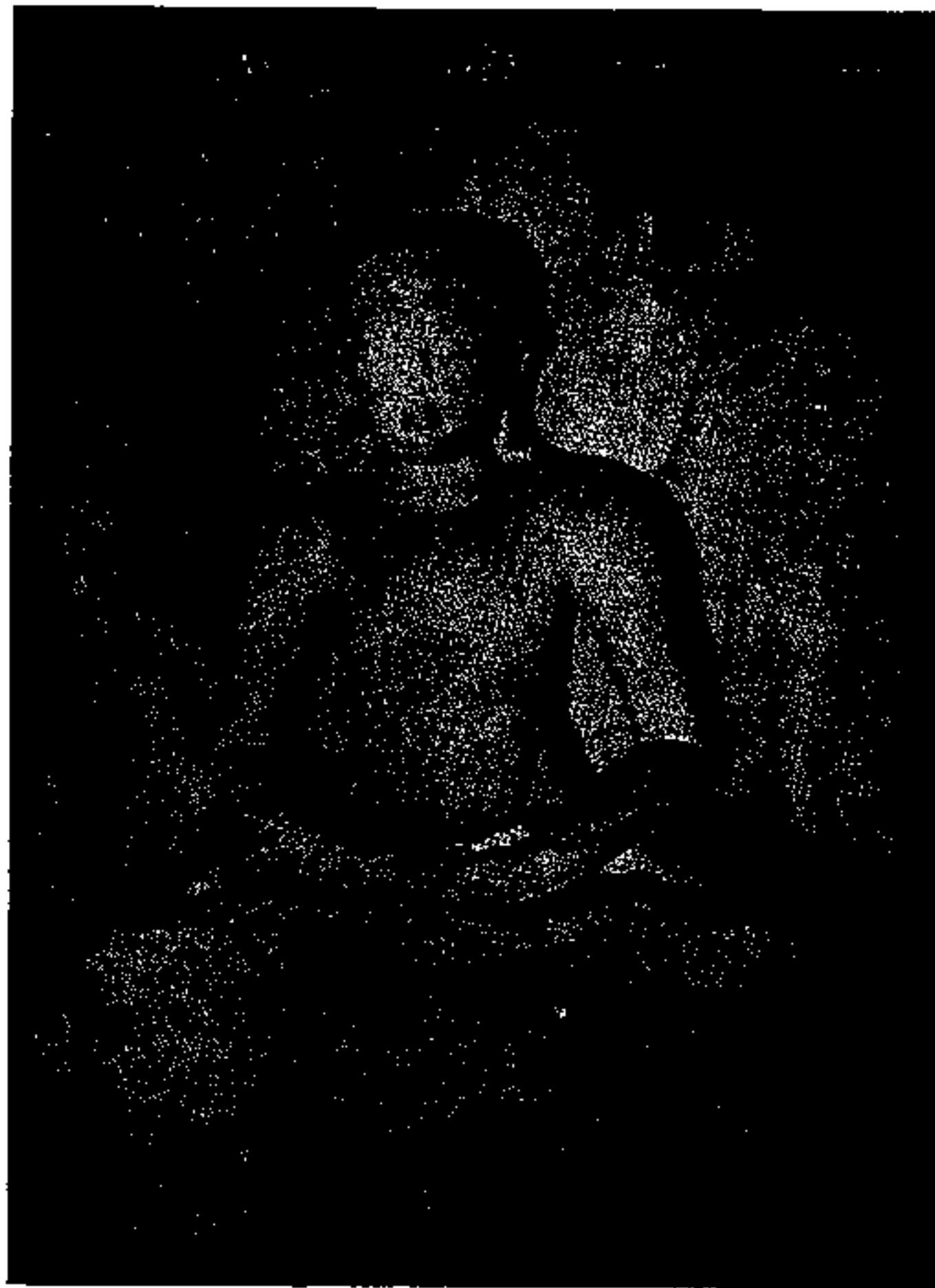
(ख) म्बालियर — उत्कीर्ण तीर्थकर मूर्तियाँ



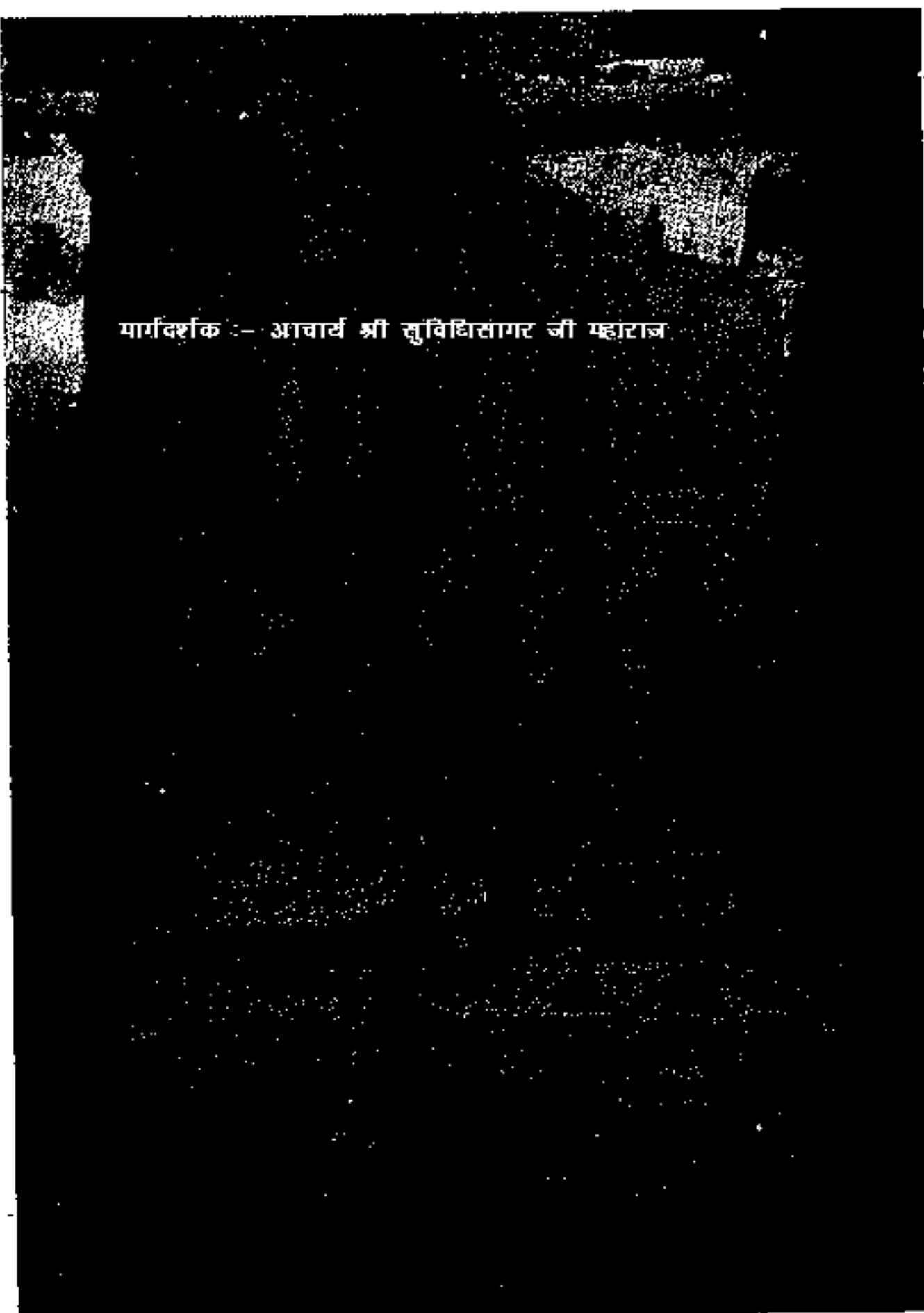
विदिशा - तीर्थकर मूर्ति, (उत्तराञ्चल संघरण)

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 300 से 600 फू०

[ भाग 3



सीरा पहाड़ी — लीर्यकर-महावीर

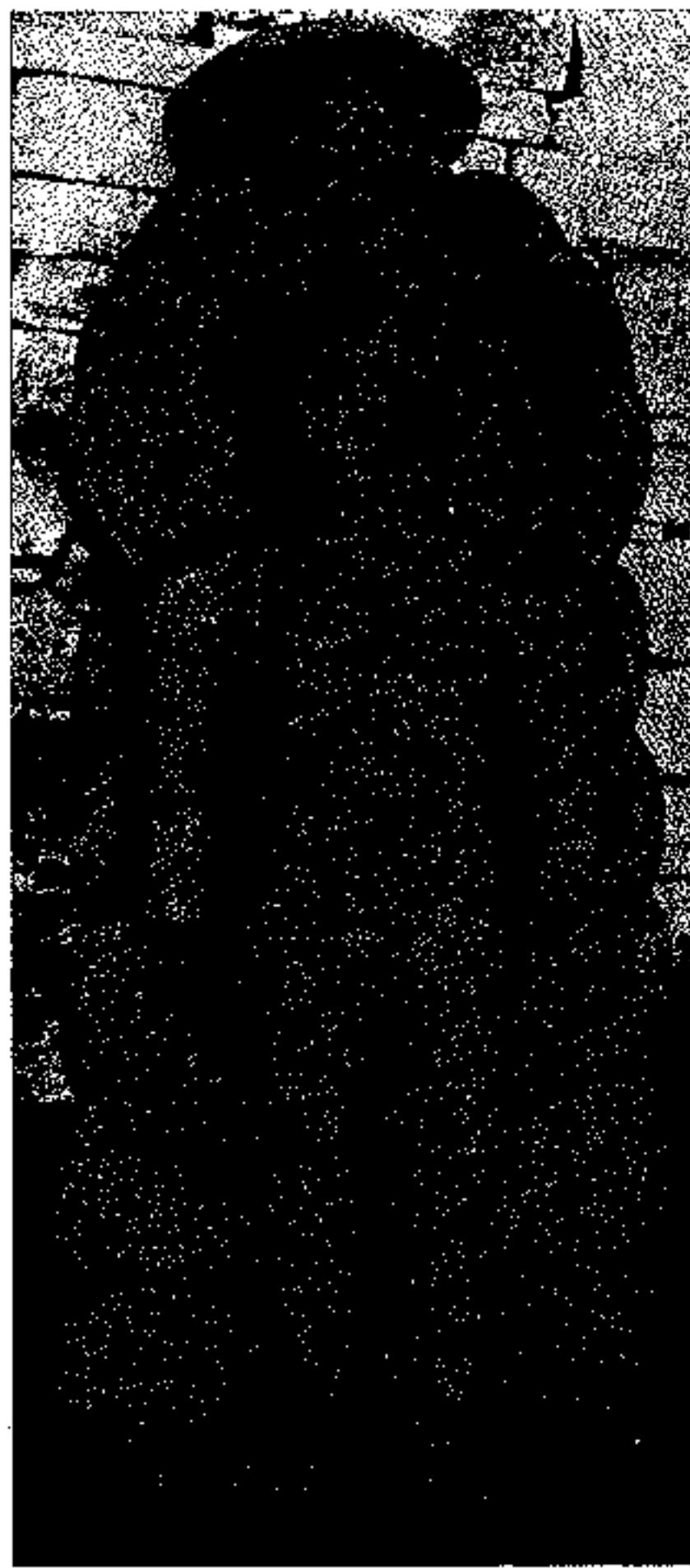


गार्दिरक — आचार्य श्री सुविघिसानगर जी महाराज

सीरा पहाड़ी — तीर्थकर कृष्णनाथ

वालु-स्पार्क एवं सूक्ष्मिकला 300 से 600 ई०

| भाग 3



सीरा शहाही — त्रीष्फक धार्वनाथ

कुछ पहले की, एक अन्य कायोत्सर्ग प्रतिमा है पाश्वनाथ की। वस्त्र-विन्यासरहित इस प्रतिमा में तीर्थकर की संपूर्ण आकृति के पीछे कुण्डली मारे हुए एक विशाल भाग को दर्शाया गया है, जिसने तीर्थकर के शीर्ष पर अपने कण से एक छत्र बनाया हुआ है (चित्र ६४)।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में नचना के ब्राह्मण धर्म-केंद्र के निकट ही सीरा पहाड़ी पर जैन धर्म का केंद्र था। इस क्षेत्र का यदि पुनः उत्खनन किया जाये तो और अधिक जैन अवशेष, भाष्ट्र इसी स्थान से ही भहो अपितु इसके सभी अवर्ती क्षेत्रों से भी, उपलब्ध हो सकते हैं।

कुछ ही समय पूर्व जोना विलियम्स द्वारा गुप्त-कालीन दो सुंदर तीर्थकर-प्रतिमाओं को प्रकाश में लाया गया है, जो इस समय मध्यप्रदेश के पन्ना स्थित राजेन्द्र उद्यान में सुरक्षित हैं। ब्रताया गया है कि वे प्रतिमाएँ नचना से उपलब्ध हुई हैं।<sup>1</sup> विलियम्स द्वारा प्रस्तुत पहले चित्र में तीर्थकर को पादपीठ स्थित आसन पर पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। पादपीठ के केंद्र में मुखदृश्यकित धर्म-कक्र और उसके पाश्व में दोनों किमारों के निकट सिंह अंकित हैं। धर्म-कक्र के प्रत्येक छोर पर घुटनों के बल बैठा हुआ एक भक्त है, जो संभवतः तीर्थकर का गणधर (प्रथग अनुयायी) याफिर कोई साधु है।

दूसरी प्रतिमा में पादपीठ के मुखभाग पर चार भक्त अंकित हैं। प्रतिमा की मुखाकृति और सिर पूर्णरूपेण सुरक्षित है तथा कंधे और धड़ की संरचना में उल्लेख गुप्त-काला-परंपरा का निर्वाह हुआ है। यहाँ तक मुखाकृति की भावाभिव्यक्ति का संबंध है, इसे गुप्त-कालीन श्रेष्ठ तीर्थकर-मूर्तियों की श्रेणी में रखा जा सकता है, यद्यपि यह प्रतिमा विलियम्स के प्रथम चित्र की प्रतिमा से कुछ समय पश्चात् की है। यहाँ विलियम्स ने यह भी उल्लेख किया है कि इन तीर्थकर-प्रतिमाओं और सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्ध-प्रतिमा में समानता है।

मथुरा संग्रहालय की प्रतिमा क्रमांक दी-६<sup>2</sup> इत्यादि, नचना, सीरा पहाड़ी से प्राप्त तीर्थकर-मूर्तियाँ, उदयगिरि की गुफा स्थित पाश्वनाथ की खंडित प्रतिमा तथा विदिशा से प्राप्त राम-गुप्त की शासनकालीन तीन प्रतिमाओं से ऐसा आत होता है कि गुप्त-काल में तीर्थकर-प्रतिमाओं के कई निर्माण-केंद्र रहे होंगे। विदिशा से प्राप्त मूर्तियाँ निस्त्रेह भारी-भरकम तथा अधिक मांसल हैं।

यह असंभव नहीं कि भाँसी जिले के देवगढ़ किले में जैन बस्ती का प्रारंभ प्रायः देवगढ़ स्थित गुप्त-कालीन प्रसिद्ध दशावतार मंदिर के समकालीन हो। देवगढ़ की तीर्थकर-मूर्तियों के अध्ययन में कलौस लून ने जिन दो मूर्तियों के चित्र (उनका रेखाचित्र २०, अनुकृति ८ तथा रेखाचित्र २१, अनुकृति ९)<sup>3</sup> प्रकाशित किये हैं, उनके विषय में विलियम्स ने यह संदेह व्यक्त किया है कि वे मथुरा प्रतिमा-

1 विलियम्स (जोना), दू न्यू गुप्ता जिन इमेजेज, आरियान्डल अर्ट, 18, 4; 1972; 378-80.

2 [ द्रव्यम्, अध्याय 10—संधादक ]

3 लून (कलौस), जिन इमेजेज ऑफ देवगढ़, 1969, लीडन.

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला ३०० से ६०० ई०

समूह<sup>1</sup> की आद्य गुप्तकालीन प्रतिमाएँ हैं। मधुरा शैली से उनकी सावृश्यता स्पष्ट परिलक्षित है, किन्तु जहाँ ब्रून के रेखाचित्र २० (अनुकृति ५) की प्रतिमा का रचनाकाल पांचवीं शताब्दी हो सकता है, वहाँ रेखाचित्र २१ (अनुकृति ६) की प्रतिमा वस्तुतः परवर्ती काल की है—जैसा कि इसके उत्तरीय के अंकन तथा चमरधारी सेवकों की आकृतियों की संरचना से स्पष्ट है। यह प्रतिमा छठी शताब्दी के अंतिम काल की हो सकती है। यद्यपि इस तीर्थकर-मूर्ति में आद्य गुप्तकालीन मधुरा शैली की विशेषताएँ हैं, तथापि, इसे आद्य गुप्तकालीन निर्धारित करना कठिन है।

ग्वालियर के दो शैलोत्तमीण शिल्पांकन (चित्र ६० ख) भी इस काल के अंत की ही रचनाएँ प्रतीत होती हैं। इनमें से एक प्रतिमा में तीर्थकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में तथा दूसरी में पद्मासनस्थ ध्यान-मुद्रा में अंकित किया गया है। पद्मासन-मुद्रावाले तीर्थकर के पार्श्व में अंकित सेवक पूर्ण विकसित कमलपुष्पों पर खड़े हए हैं। इन कमलपुष्पों को बौने (वामन) लोगों ने थाम रखा है, जो स्वयं मोटे कमलनाल-जैसे दिखाई देते हैं।—ऐसा ही, लम्बी नालयुक्त कमलपुष्पों पर खड़े यस्तों का अंकन मधुरा संग्रहालय की (बी ६ तथा बी ७ क्रमांकित) दो सुंदर मूर्तियों<sup>2</sup> में भी पाया जाता है। खड़गासन तीर्थकर-प्रतिमा के मूर्तन की तुलना राजगिर की बैभार पहाड़ी स्थित दो खड़गासन प्रतिमाओं के मूर्तन से की जा सकती है। ग्वालियर की इन दोनों तीर्थकर-प्रतिमाओं में गुप्त-शैली का अनुकरण किया गया है। सेवक ग्रालंकृत टोपी-जैसे मुकुट तथा गले में एकावली धारण किये हुए हैं। तीर्थकरों का परिकर परवर्ती गुप्तकालीन प्रतिमाओं की भाँति सुसज्जित न होकर यहाँ भी सादा रहा।

उमाकौत्र प्रेमानन्द शाह

1 विलियम्स, पूर्वोत्तम, पृ 380, नोट-11.

2 शाह, पूर्वोत्तम, चित्र २५ तथा २७ [ इनकी चर्चा अध्याय १० में भी की जा चुकी है और इनमें से एक का चित्र भी (चित्र ४६) दिया गया है — संपादक ] .

## पश्चिम भारत

विचाराधीन अवधि में बहुत कम जैन अवशेष प्राप्त हुए हैं, किन्तु साहित्य में मिले प्रमाणों से इतना निर्दिष्ट है कि इस अंतराल में मध्य तथा पश्चिम भारत में कई जैन केन्द्र वर्तमान थे। तत्कालीन जैन अवशेषों का ऐसा अभाव केवल पश्चिम भारत में ही नहीं, अपितु महावीर की जन्मभूमि का गौरव प्राप्त करनेवाले मध्य में भी है, जहाँ राजगिर की कुछ सूतियों को छोड़कर इस अवधि का अन्य कोई अवशेष नहीं मिल सका है।

मध्य (उज्जीव) तथा पश्चिम भारत (सिधु-सौवीर) में जैन धर्म की लोकप्रियता संबंधी प्रारंभिक जैन परंपरा के विषय में अध्याय-८ में विचार किया जा चुका है, अहाँ यह भी उल्लेख किया जा चुका है कि क्षत्रप-शासनकाल में गिरनार-जूनागढ़ के निकट सौराष्ट्र में जैन मुनियों के निवास का स्केत्र मिलता है। इसलिए, ऐसी आशा है कि भविष्य में हमें तीसरी, चौथी और परवर्ती शताब्दियों के जैन अवशेष राजस्थान, गुजरात और दक्षिणापथ से प्राप्त होंगे, विशेषकर गुजरात में जूनागढ़, वलभि और भड़ोच तथा बंवई के निकट शूरपारक या आधुनिक सौपर और प्रतिष्ठानपुर क्षेत्रों से।

चौथी शती ई० के आरंभ में ही, हमें दो जैन परिषदों के प्रायः एक ही समय में आयोजित अधिवेशनों का संदर्भ मिलता है, जो मथुरा में आर्य स्कंदिल तथा वलभि (सौराष्ट्र) में आर्य नागर्जुन की अध्यक्षता में हुए। उपलब्ध श्वेतांबर आगम ग्रंथों में मथुरा परिषद् द्वारा मान्य धर्म-नियमों का उल्लेख अधिक है। जैनगम के संपादन और संरक्षण के लिए पुनः परिषद् के द्वासरे अधिवेशन का आयोजन वलभि में देवाधिगणि-कामा-श्रमण की अध्यक्षता में हुआ। मान्यता यह है कि वर्तमान श्वेतांबर आगम इस द्वासरी वलभि परिषद् का अनुगमन करते हैं, जिसका अधिवेशन महावीर-निवारण के ६८० वर्ष पश्चात् अर्थात् ४५३ ई० में हुआ। वलभि में दो शताब्दियों के अंतराल में परिषद् के द्वितीय अधिवेशन की आवश्यकता क्यों पड़ी जबकि चौथी शती में ही आगम की रचना कर ली गयी थी, यह अभी तक अन्वेषण का विषय है। इसका एक युक्तिसंगत समाधान हो सकता है। पहले ही ८३ ई० में (श्वेतांबरों के अनुसार), या ८० ई० में (दिगंबरों के अनुसार) आर्य कृष्ण-श्रमण के शिष्य शिवभूति के नेतृत्व में दिगंबर आमनाय का उदय हुआ। दिगंबर-श्वेतांबर मतभेद पहले कुछ समस्याओं तक ही

सीमित रहे, जिनमें जैन मूर्तियों द्वारा वस्त्र-धारण की बात प्रभूल्ल थी; यद्यपि श्वेतांबर जैनामाम कल्पसूत्र तथा नन्दिसूत्र (पचिवीं शती) की स्थविरावलि में वर्णित कई कुलों और गणों का उल्लेख कंकाली-टीला मधुरा से प्राप्त मूर्तियों के अभिलेखों में है; तथापि इस प्रकार अभिलेखांकित सभी कायोत्सर्ग तीर्थकर प्रतिमाएँ नग्न हैं। पद्मासन-मुद्रावाली मधुरा की कुषाण युगीन प्रतिमाएँ भी तीर्थकर के दिगंबर रूप को प्रदर्शित करती हुई मानी जा सकती हैं, क्योंकि इन प्रतिमाओं पर किसी वस्त्राभरण का संकेत नहीं है, यद्यपि इनमें जननेन्द्रिय को भी स्पष्ट रूप में नहीं दिखाया गया है, जैसा कि परवर्ती दिगंबर मूर्तियों में है।

वस्त्रहीनता तथा अन्य कारणों को लेकर जैन मूर्तियों में हुआ विवाद उनकी मूर्ति-पूजा की यद्धति में भी अभिव्यवत होता था। जब श्वेतांबर-दिगंबर भत्तेद अधिक तीव्र हो उठे<sup>1</sup> तो जैनामाम से ऐसे सभी प्रसंगों का, जो दोनों संप्रदायों में से किसी के लिए भी सुविधाजनक नहीं थे, लोप कर दिया गया। श्वेतांबरों ने द्वितीय वलभि परिषद् में जैनामाम के नये संस्करण में और दिगंबरों ने सीराष्ट्र में भूतबली की रचनाओं में ऐसे सभी प्रसंगों का लोप कर दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय वलभि परिषद् के पूर्व जैन तीर्थकरों की समस्त प्रतिमाएँ वृस्त्रहीन उत्कीर्ण की गयी थीं। चंद्रगुप्त-द्वितीय के समय में उत्कीर्ण राजगिर के मंदिर<sup>2</sup> में स्थित पद्मासन-मुद्रा में नेमिनाथ की सुंदर प्रतिमा भी वृस्त्रहीन प्रतीत होती है। उसी मंदिर की कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ भी ऐसी ही स्थिति में हैं। ओती धारण किये हुए किसी तीर्थकर की प्राचीनतम मूर्ति अकोटा (गुजरात) से प्राप्त ऋषभनाथ की खड़ासन कांस्य प्रतिमा है (चित्र ६५ क और ६७ छ.)। लघुभग ७६ सें. मी० ऊँची यह अत्यंत सुंदर कांस्य प्रतिमा है, पर दुभाग्य से यह आंशिक रूप से क्षतिग्रस्त है तथा इसका पादपीठ नष्ट हो चुका है। फिर भी इसकी रचना सुंदर है तथा विशुद्ध गुप्तकालीन शैली में है, जिसकी तुलना सुलतानगंज से प्राप्त उत्कृष्टतामूर्वक ढाली हुई बुद्ध की ताम्र-प्रतिमा से की जा सकती है। अत्यधिक क्षतिग्रस्त होने पर भी यह मूर्ति उत्तर भारत में प्राप्त सुंदरतम कांस्य प्रतिमाओं में से एक है। रजतमण्डित अर्थनिमीलित नेत्र तीर्थकर की आनंदमय मुद्रा का संकेत देते हैं। निचला अधर, जो महापुरुष-लक्षण के अनुसार अरुणाभ होना चाहिए, ताम्र-मण्डित है। तीन धारियों से युक्त अत्यधिक क्षतिग्रस्त ग्रीवा शंखाकार (कंबु-ग्रीव) है, जिसे गुप्त-काल में शरीर-सीदिये का प्रतीक माना जाता था। सुधड़ता से रचित बड़ के विशाल तथा सुडौल स्कंध तथा क्षीण कटि (तनुवृत्त-मध्य) भी गुप्त-शैली के अनुरूप हैं। स्कंधों तक लटकती केशराशि की सहायता से प्रथम तीर्थकर ऋषभनाथ (आदिनाथ) के रूप में इसकी पहचान संभव हुई है। वराहमिहिर के उल्लेखानुसार इन्हें आजानुबाहु,

1 लाह (यू. पी.), एज. ऑफ विकेंसिएशन ऑफ श्वेतांबर एण्ड दिगंबर जैन इमेजेज, ब्रुक्सिन ऑफ फ्रिस ऑफ बेल्ट स्पूजियम, वंडई. 1, 1; 1950-51; 30 तथा परवर्ती।

2 [ अध्याय 11, चित्र 53.—संपादक ]



(क) अकोटा — शीर्षकर पृष्ठभनाय, कास्य मूलि  
(बड़ोदा संग्रहालय)



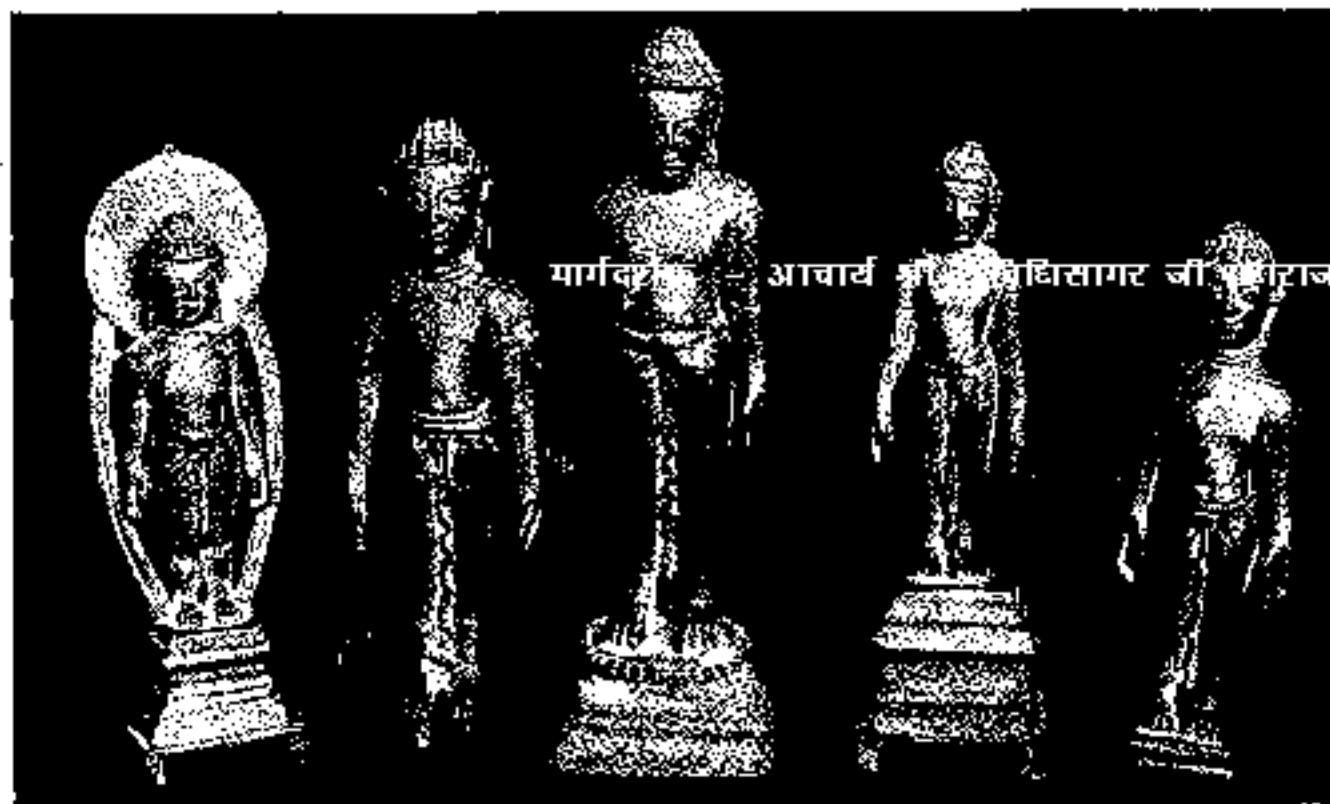
(ख) अकोटा — शीर्षकर स्वामी, कास्य मूलि  
(बड़ोदा संग्रहालय)



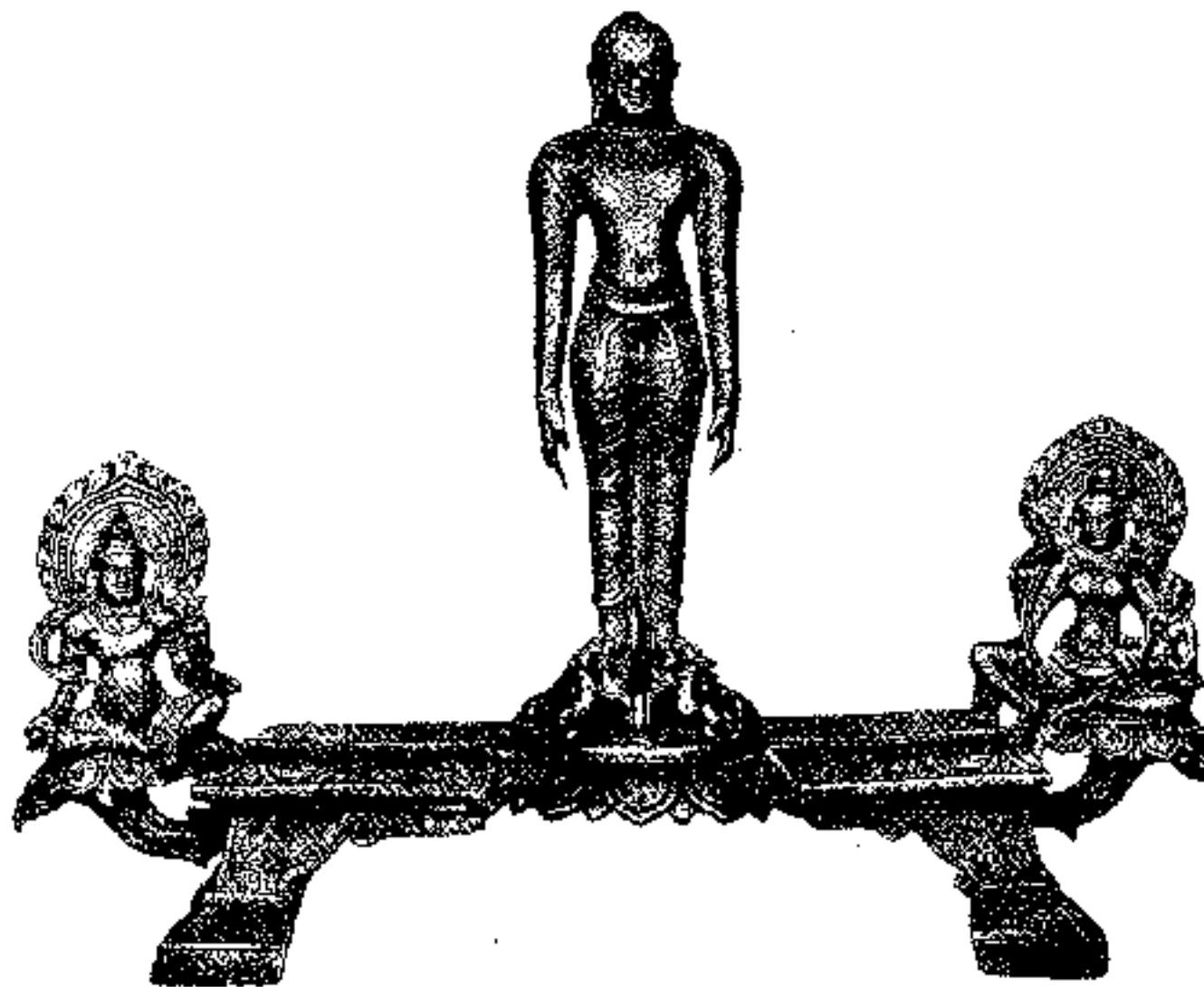
(क) अकोटा शैवमनाय का, इटोर्च चित्र 65 क  
(बड़ीदा संग्रहालय)



(ख) अकोटा तीर्थंकर की कांस्य मूर्ति का शीर्ष  
(बड़ीदा संग्रहालय)



(क) वल्लभी — कांस्य तीर्थकर मूर्तियाँ (प्रिल श्रोफ़ वेल्स संग्रहालय)



(ख) अवलोदा — यक्ष और यक्षी के साथ तीर्थकर वृषभनाथ की कांस्य मूर्ति (बड़ीदा संग्रहालय)



(क) अकोटा — खीवन्त स्थानी, कांडप  
(बड़ीदा संग्रहालय)

योवनपूर्ण तथा प्रफुल्लित मुख्याकृतियुक्त प्रदर्शित किया गया है।<sup>1</sup> शीर्ष पर सुनियोजित धूघराली लटों के अतिरिक्त उष्णीय भी दिखाया गया है।

हरिषेण कृत बृहत्-कथा में उल्लिखित दिवंबर परंपरा के अनुसार भी कुछ जैन मूर्तियों के द्वारा वस्त्रों के उपयोग का आरंभ पश्चिम भारत में कांबलिका-तीर्थ नामक स्थान से हुआ प्रतीत होता है। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं कि तीर्थकर की प्रारंभिक प्रतिमा इवेतांबर रूप में (अर्थात् अधोवस्त्र, धोती सहित) पश्चिम भारत के अकोटा<sup>2</sup> नामक स्थान से उपलब्ध है।

- तीसरी और चौथी शताब्दियों का कोई जैन अवशेष अभी तक उपलब्ध नहीं है। पाँचवीं शती की ऋषभनाथ की केवल कास्य मूर्ति उपलब्ध हुई है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। छठी शती की कुछ और जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।

बलभि से तीर्थकरों की पाँच खड़गासन कास्य मूर्तियों की डी० आर० भण्डारकर ने खोज निकाला (चित्र ६७ क) है, जो प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बंबई में सुरक्षित रखी है।<sup>3</sup> इनके खण्डित अभिलेखों में से कम-से-कम दो के आंशिक रूप में उपलब्ध अभिलेख के आधार पर भण्डारकर ने इन्हें छठी शती का माना है। मोरेश्वर दीक्षित ने इनमें से एक पर बलभिन्युग (५३८ से ५४८ ई०) का संब २०० (+) २० (-) पढ़ा है।<sup>4</sup> मूर्तियों के बड़े बीने हैं, किन्तु उनके सिर अपेक्षाकृत बड़े और भारी हैं जो कि प्रारंभिक पश्चिम भारतीय शैली की विशेषता है।

जैसा कि पहले (पृ १३६) उल्लेख किया जा चुका है, आर्य नामार्जुन की अध्यक्षता में जैन परिषद् का सम्मेलन बलभि में चौथी शती में हुआ। महान् जैन तार्किक तथा द्वादसार-नयनचक्र के लेखक महलवदी ने बलभि में लगभग वि० सं० ४१४ (३५७ ई०) में बौद्धों को बाद-विश्वाद में पराजित किया था। परिषद् का द्वितीय सम्मेलन बलभि में ४५३-५४ ई० में हुआ। इस युग में पश्चिम भारत

1 तुलनीय : आजानुलंबवाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशांत मूर्तिश्च, दिग्बासास्तरुणी रूपरूपं कायेहिताभ्युदेवाः बृहत् संहिता, ५८, ४५, १९४७, बंगलौर, यह सत्य, कि वराहमिहिर के अनुसार तीर्थकर प्रतिमाएँ वस्त्रहीन हैं, संकेत देता है कि वस्त्रयुक्त इवेतांबर मूर्तियाँ उनके समय में लोकप्रिय न थीं। इस प्रकार के कदाचित् परवर्ती हैं।

2 शाह (यू. पी.), अकोटा बॉर्डेज, १९५९, बंबई, पृ २६ चित्र ४ क और ४ ख. / बृहत् कथाकोश, संपा : ए० एन० उपाध्ये, सिंघी जैन सीरीज, १७, १३। पृ ३१७ तथा परवर्ती श्रीर भूमिका, पृ ११८.

3 शाह, पूर्वोष्ट, १९५०-५१, पृ ३६, स्कल्पर्स फ्रॉम समलानी एण्ड रोड, अङ्गोदा, १९६०, पृ २१-२५. / शाह (यू. पी.), स्टडीज इन जैन आर्ह, १९५५, वनारस, चित्र २९.

4 आर्क्यवैवाहिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वैस्टर्न स्किल. प्रोफेसर रिपोर्ट, १९१४-१५, पृ ३०. / दीक्षित (मोरेश्वर जी.) हिस्ट्रीरिक एव्व इकांसामिक स्थानीज, पृ ६३. / शाल्वी (एच जी), मैत्रिककालीन गुजरात, पृ ६६८-७२ और पृ ६७१ पर नोट १६८.

में जैन संबंध होते थे, जैसा कि वस्त्रमि में पायी गयी जैन कांस्य प्रतिमाओं से भी स्पष्ट प्रतीत होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि भण्डारकर ने उसी स्थान से कुमारगुप्त-प्रथम के कई सिक्के भी खोज निकाले।

चित्र ६७ के में इन पाँच कांस्य सूतियों में दायीं ओर से दूसरी तथा दायीं ओर की पहली कुछ स्थूल प्रतीत होती हैं। गुजरात की प्राचीन कांस्य सूतियों का कोई विवरण उपलब्ध न होने से, केवल शैली के आधार पर इनके समय का निर्णय कर पाना कठिन है।

सांकलिया का मत है कि गुजरात में ढांक के कुछ शैलोत्कीर्ण शिल्पांकन चौथी शती ई० के आरंभ के हैं।<sup>1</sup> पुनर्ज्ञ, पदिच्चम भारत में तीसरी और चौथी शताब्दियों के सूतिकला संबंधी पर्याप्त विवरण के अभाव में इन शिल्पांकनों का काल-निर्धारण करना सरल नहीं है। किन्तु तीर्थकर और उनकी सेविका यक्षी अंबिका की प्रतिमाओं को चौथी शती के स्थान पर छठी या सातवीं शती के अंत की मानना चाहिए। अबतक ज्ञात कोई साहित्यिक या पुरातात्त्विक साक्ष्य ऐसा नहीं है, जो छठी शती ई० के पूर्व जैन-पूजा-विधि में इस यक्षी का सम्मिलित किया जाना प्रमाणित करता हो। शैली के अनुसार ये प्रतिमाएँ सातवीं शती की मानी जा सकती हैं।

अकोटा समूह में उपलब्ध कुछ और कांस्य सूतियों को उनकी शैली तथा कहीं-कहीं उनके अभिलेखों की पुरालिपि के साथ्य के आधार पर इस युग के अंतिम भाग की माना जा सकता है। जैन कला तथा प्रतिमा-विज्ञान के इतिहास में जीवंतस्वामी की दो कांस्य सूतियाँ (एक अभिलेखांकित पादपीठ सहित तथा दूसरी पादपीठ रहित) अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।<sup>2</sup> जैसा कि नाम से ही विदित है, 'जीवंतस्वामी प्रतिमा' मूल रूप में एक व्यक्ति-प्रतिमा थी, जबकि स्वामी अर्थात् महावीर जीवित (जीवंत) थे। पुरातन जैन परंपरा के अनुसार, चंदन की एक ऐसी प्रतिमा (गोशीर्ष-चंदन) महावीर की उस समय की व्यक्ति-प्रतिमा थी, जब वे दीक्षा से पूर्व अपने महल में व्यानावस्थित थे। अतएव महावीर को इसमें राजकुमार के उपयुक्त मुकुद तथा अन्य आभूषणों और अधोवस्त्र सहित प्रदर्शित किया गया है। दोषिस्त्व की भाँति ही, जिन्हें बुद्धत्व प्राप्त होना था, जीवंतस्वामी की कल्पना को 'जिनसख' के रूप में की गई मानी जा सकती है।

1. जर्मल आँफ द रायल एक्सियटिक सोसाइटी, 1938 ; 427 तथा परवर्ती, चित्र 3-4. / सांकलिया (एच डी). आर्क्योलॉजी आँफ गुजरात, 1941, चंदे, पृ. 160. / शाह, पूर्वीकृत, 1955, रेखाचित्र 31, पृ. 16-17.

2. जीवंतस्वामी की प्रतिमा के निर्माण और विकारधारा के लिए द्रष्टव्य : शाह (पू. पी.). ए बुनीक जैन इमेज आफ जीवंतस्वामी, जर्मल आँफ दि एरेरियंट्स इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, 1, 1 ; 72-79 और 'साइड लाइट्स आँफ द लाइफटाइम सेंडलबूड इमेज आफ महावीर', वही, 1, 4 ; 358-68. / और द्रष्टव्य : सम सोर इमेजेज आफ जीवंतस्वामी, जर्मल आँफ इण्डियन एक्सियट्स, 1 ; 49-50.

चित्र ६५ से अकोटा—जीवंतस्वामी की कांस्य प्रतिमा को प्रदर्शित करता है, जिसका पादपीठ नष्ट हो गया और जो आंशिक रूप से क्षतिग्रस्त है। फिर भी, मुकुट सहित शीर्ष पूर्णतः सुरक्षित है। यह ऊँचा मुकुट मथुरा के कुषाणयुगीन विष्णु (पहले ही राम समझा गया) के बेलनाकार मुकुट (ईरानी ठोणी) के समान निर्मित है।<sup>1</sup> यह चौकोर है, जिसमें सामने की ओर चैत्य-वातावरण के समान अलंकरण तथा पार्श्व, शीर्ष और पृष्ठभाग में कमल-प्रतीक अंकित हैं। बालों की कुण्डलित लट्टे कंधों पर तीन पंक्तियों में गिरती हैं और सुंदर शैली में सैंकारि हुए केश पट्टे के नीचे से दिखाई देते हैं, जो संभवतः मुकुट का ही भाग है। मूर्ति का निचला अंधर ताम्र-जटित है, जो अधरों के अरुणाभ होने का सकेत देता है; रजत-मणित अर्धनिमीलित नयन ध्यान की गहनता का आभास देते हैं। उनके विशाल मस्तक पर वृत्ताकार तिलक का चिह्न है। आध्यात्मिक ध्यान एवं आनंद तथा पूर्ण योग्यता की आभा से प्रदाप्त मुखमण्डलयुक्त महावीर की यह प्रतिमा कदाचित् अबतक प्राप्त मूर्तियों में श्रेष्ठतम् है। मेलला (करघनी) से कसी हुई धोती घुटनों से नीचे तक लटकी हुई है। मेलला के मध्य में बनी कुण्डलपाश से बौधा हुआ पर्यस्तक पार्श्व में नीचे की ओर लटक रहा है। इस प्रकार की कुण्डलपाश देवगढ़ की अनंतशारी विष्णु-प्रतिमा पर भी उत्कीर्ण है। धोती के मध्य भाग में एक अलंकृत लघुवस्त्र (पर्यस्तक) बैंधा है, जिसके एक छोर की चुम्बटे नीचे की ओर लटक रही हैं तथा दूसरा छोर जो धार्यी जांघ को ढंकता है, विलक्षण अर्धवृत्ताकार चुम्बटी में तल्ली-जैसा प्रतीत होता है। इस प्रकार की धोती निःसंदेह पश्चिम भारतीय मूर्तिकला की आरंभिक शैली की विशेषता है। तीन धारियों युक्त ग्रीवा, चौड़े स्कंध, लंबी भुजाएँ, साधारण रूप में उभरा वक्ष और क्षीण कटि में गुप्त-कला की सभी विशेषताएँ हैं। ऊपरी भुजा के मध्य भाग की अपेक्षा कंधे के निकट धारण किया हुआ भुजबंध, जिसमें मणिमाल तथा गवाह कला-प्रतीकों का होना भी इसके आरंभिक काल का द्योतक है। इसमें उत्कीर्ण कण्ठभाल की रूपरेखा भी मथुरा की प्रारंभिक कुषाण-मूर्तिकला की विशेषता लिये हुए है। चौड़ा स्वर्णहार गंधार की बुद्ध-प्रतिमा के गले में स्थित आभूषण के सदृश है। अतएव, यह प्रतिमा लगभग ५००-२५ के बाद की नहीं हो सकती; संभवतः, इससे कुछ पूर्व की हो सकती है।

अकोटा से प्राप्त जीवंतस्वामी की दूसरी प्रतिमा (चित्र ६६-क) में उन्हें एक ऊँचे अभिलेखांकित पादपीठ पर खड़गासन ध्यान-मुद्रा में दिखाया गया है। पादपीठ का अभिलेख लगभग ५५० ई० की लिपि में उत्कीर्ण है। अभिलेख में ऐसा उल्लेख है कि जीवंतस्वामी की यह प्रतिमा, चंद्रकुल की जैन महिला नागीश्वरी का धर्मोपहार (देवधर्म) था। कायोत्सर्ग-मुद्रा में यह प्रतिमा मुकुट, कुण्डल, भुजबंध, कंगन और धोती से युक्त है। धोती के दो छोर मध्य में बैंधे हुए लहरा रहे हैं। भुजबंध मणियय स्वर्णमाल-युक्त है, जो अत्यधिक घिसा हुआ है। दायें कान में मोती का कुण्डल लटक रहा है और बायें में सकर-कुण्डल प्रतीत होता है। त्रिकूट (त्रिकोणात्मक) मुकुट मध्य

1 बोगल (जे फ), ला स्कल्पचर दी मयूरा, 1930, लेरिस और इंग्लैस, चित्र 39 क और स, प 46-। शाह, पूर्वोत्तम, 1959, चित्र ९ क, ९ ख, प २६-२७।

में बड़ी और दुहरे कुड़ाभणियुक्त पर्ति तथा दोनों ओर दो छोटी पत्तों से निर्मित है। श्रीवा में मनोहर एकावली हैं।

नवनों में रंजित रजत, जो धूमिल पड़ चुकी है, विस्तृत स्कंधों युक्त देह, सुविकसित वक्षस्थल, कुछ-कुछ क्षीण कटि-प्रदेश, सुन्दर मुख, किनारी पर भणिकाचार्यों युक्त अष्टाकार प्रभामण्डल तथा अभिलेख की पुरालिपि के आधार पर हम इस कांस्य मूर्ति को लगभग छठी शती के मध्यकाल का मान सकते हैं।

• अकोटा समूह की एक अन्य प्रतिमा, जो कायोत्सर्ग-मुद्रा में प्रथम तीर्थकर (ऋषभनाथ) की है, विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसमें तीर्थकर (ऊंचाई २५ सें. मी०) आयताकार पादपीठ (इड़ सें. मी० × ६ सें. मी० लम्बे-चौड़े) के मध्य में सड़े हैं। पादपीठ के दोनों सिरों पर दो कमलपुष्प अंकित हैं, जिनपर प्रत्येक में एक यक्ष तथा यक्षी की मूर्तियाँ हैं (चित्र ६७-८)। पृष्ठभाग में अन्य तीर्थकरों के लिए पट्टिका अथवा प्रभामण्डल के लिए आवार-पेटिका या दोनों मूलतः उन छिद्रों में स्थित थे, जो पादपीठ के ऊपरी तल पर दृष्टिगोचर होते हैं। वृत्त में अंकित ऋषभनाथ की मूर्ति पृथक् ढाली गयी है और केन्द्र में धर्म-चक्र के ऊपर संयुक्त कर दी गयी। धर्म-चक्र के दोनों ओर सुन्दर हरिण हैं। ऋषभनाथ के रूप में तीर्थकर की पहचान उनके स्कंधों पर लटकती हुई केशराशि से हुई है। इसमें संबारे हुए कुचित केश और उष्णीष द्रष्टव्य हैं। वडे नेत्र, विस्तृत ललाट, थोड़ी नुकीली नाक, सुडौल मुख तथा बीमे धड़ पर छोटी श्रीवा ऐसी विशेषताएँ हैं, जो प्रारंभ में गुजरात तथा पश्चिम भारत के अन्य स्थानों में प्रकट हुई हैं। ये प्रारंभिक पश्चिम भारतीय शैली के लक्षण हैं, न कि परवर्ती युग के।

तीर्थकर के शरीर पर पारदर्शी धोती है, जिसमें से जननेत्रिय का स्वरूप स्पष्ट झलकता है। धीती सुन्दर रंगों में छायी गयी है जिसमें समानांतर पंक्तियों के मध्य पुष्प अंकित हैं। पुष्पों का अंकन एक आद्य कला-प्रतीक है। स्कंध चौड़े और सुदृढ़ हैं; कटि पतली, हाथ और टींगे सुविभित हैं तथा वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिह्न है। ये सभी विशिष्टताएँ उत्तर गुप्त-युग, लगभग ५४०-५०, की बोधक हैं। इसकी पुष्टि पृष्ठभाग में अंकित अभिलेख की भाषा से होती है जिसमें लिखा है : 'जिनभद्र वाचनाचार्य के निवृत्ति कुल की ओर से वह उपहार है। इस कांस्य प्रतिमा को स्थापित कराने वाले जिनभद्र वाचनाचार्य की पहचान प्रसिद्ध जैन विद्वान् और मुनि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से की गयी है, जो ५००-६०६ के बीच लंबे समय तक जीवित रहे थे।'

पादपीठ के दायें सिरे पर विराजमान यक्ष की पहचान सर्वानुभूति के रूप में की जाती है जो विशाल उदर तथा दो भुजाओंवाले हैं, जिनके दाहिने हाथ में फल (तुरंज) तथा दायें हाथ में धन

1. शाह, पूर्वोधन, 1959, चित्र 10 क, 10 ख, 11, पृ 28-29, पृ 29, नोट 7.

की थैली है। आंतरिक रूपरेखा में मणिकायुक्त, कुछ-कुछ अण्डाकार तथा प्रदीप्त शोभायुक्त प्रभामण्डल उत्तर भारतीय मूर्तिकला में प्रथम बार देखने को मिलता है। प्रभामण्डल की ऐसी रूपरेखा का प्रचलन इस युग के अंतिम चरण से आरंभ हुआ, जिसे अजंता में भी देखा जा सकता है। यह रूपरेखा मण्डोर, अवंती, कञ्जीज और भड़ीन के गुर्जर-प्रतीहार शासनकाल में चार-पाँच शताब्दियों तक प्रचलित रही। इन आमूषणों में गुप्त-कालीन विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं, विशेषतया विशाल स्तंभों की संरचना ध्यान देने योग्य है। विशाल नेत्र एवं चौड़े ललाटयुक्त मुखमण्डल मूल प्रतिमा के अनुरूप हैं और प्रारंभिक पश्चिम भारतीय थैली में हैं।

सेविका यक्षी अंविका एकावली सहित एक अतिरिक्त उर्मूत्र धारण किये हुए है, जो सुनिश्चित उन्नत स्तरों के मध्यभाग से गुजरता हुआ नीचे कुण्डली के रूप में लटकता रहता है। उसकी गोद में शिशु भी एकावली पहने हुए हैं। अंविका के बाल उसके सिर के ऊपर जूँड़े के रूप में सुसज्जित हैं और वह अपने दायें हाथ में आम-गुच्छ लिये हुए हैं। उसकी आकृति के प्रतिरूप में इस शैली की विशिष्टता सम्मिलित है।

यक्ष और यक्षी दोनों की प्रतिमाएँ जैन कला की अबतक ज्ञात शैली की प्राचीनतम उपलब्धियाँ हैं। अंविका का प्राचीनतम साहित्यिक संदर्भ भी अम्बा-कुरुमाणिङ्गी के रूप में जिनभद्र-गणि क्षमा-श्रमण की समकालीन कृति की टीका अथवा 'विशेषावश्यक महाभाष्य'<sup>1</sup> की टीका में मिलता है। प्रसंगवश यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि लम्बभय छठी शताब्दी से नीवीं शताब्दी तक सर्वानुभूति (अथवा सर्वात्म) तथा अंविका यक्ष-युगल ही सभी चौबीस तीर्थकरों के साथ एकमात्र सेवक यक्ष-युगल के रूप में विद्यमान रहा था।

अकोटा-समूह में तीर्थकर की एक और कायोत्सर्व प्रतिमा है, जिसके पृष्ठ में अण्डाकार अभिलेखांकित प्रभावली है। इसके अभिलेख से पता चलता है कि यह मूलि पूर्वोक्त जिनभद्र वाचनाचर्य ने दान की थी।

अकोटा-समूह में ही अंविका की एक सुंदर कांस्य प्रतिमा के पृष्ठभाग में अभिलेख है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मूर्ति छठी शताब्दी के उत्तरार्ध की है। इसमें (चित्र १०६) बंडी-बड़ी विसूरती आँखों तथा लपलपाती जीभशाली अंविका लेटे हुए सिंह पर ललित मुद्रा में बैठी है। संपूर्ण प्रतिमा और पृष्ठ का प्रभामण्डल एक धीठ से संलग्न है, जो भिन्न प्रकार की तीन पट्टियों तथा पादस्थान में कमल पुष्पों द्वारा सुसज्जित है। प्रभामण्डल कमल-पंखुड़ियों से या अग्निशिखा की उद्भासित किरणों से शोभायमान निर्मित किया गया है, जिसके शीर्ष पर पद्मासन ध्यान-मुद्रा में

1. विशेषावश्यक-भाष्य जिसपर लेखक का स्वरचित अपूर्ण भाष्य है, जिसे कोटवार्य ने पूर्ण किया, दी डी मालवणिया, अहमदाबाद, द्वारा संस्कृत भाष्य-३, पृ. ७११, गाथा-३५८९ की टीका, कोटवार्य, जिसने जिनभद्र की अधूरी टीका की पूरा किया, अवश्य ही जिनभद्रमणी का समसामयिक कनिष्ठ व्यक्ति रहा होगा।

पाइरेनाथ की लघु प्रतिमा अवस्थित है। प्रभामण्डल पृष्ठभाग की सूची से बृहदाकार है, संधिस्थान और सूची मकरशीर्ष द्वारा अलंकृत हैं।

अंबिका का भव्य किरीट त्रिकूट मुकुट से मिलकर बना है, जिसमें गवाक्ष अथवा सौर-मण्डलीय कला-प्रतीक के मध्य में एक विशाल रत्न जूँड़ा हुआ है। शीर्ष पर सुशोभित विशाल जूँड़ा पीछे की ओर से भी दिखाई देता है। अंबिका का शोल-मटोल मुखमण्डल चौड़े जबड़े और बड़ी-बड़ी आँखों से युक्त है। कानों में दो कुण्डल भी ध्यान देने योग्य हैं। नारी-रूप का यह प्रतिरूपण पश्चिम भारतीय शैली की विशेषता लिये हुए है। उसका खड़ अनुपाततः छोटा और पतला है। इसकी तुलना पूर्वोक्त जिनभद्र-गणी द्वारा प्रतिष्ठापित ऋषभनाथ-मूर्ति की अंबिका से की जा सकती है। यह देवी एकावली, कण्ठहार, घण्टकायुक्त मंगल-माला तथा उरसूत्र धारण किये हुए है, अधोवस्त्र विकर्ढ शैली में धारण किया गया है, जिसमें चौकोर धारियाँ छापी गयी हैं।

देवी के दायें हाथ में आम्र-गुच्छ हैं और बायें हाथ में तुरंज पल है। गोद में दायीं ओर एक शिशु बैठा है। दूसरा शिशु उसके साथ दायीं ओर खड़ा हुआ दिखाया गया है। पृष्ठभाग में एक क्षतिग्रस्त अभिलेख है, जिसकी लिपि के आधार पर इसे छठी शताब्दी के उत्तरार्ध का माना जा सकता है।<sup>1</sup>

अकोटा-समूह में तीर्थार-दूर्दि का एह दूर्दर सिर (दिव्य ५६ ख) दुर्घित है। उन्नत ललाट, सीधी नासिका, छोटे-छोटे होंठ, जिनमें निचला होंठ कुछ आये की ओर निकला हुआ है, रजतरंजित विशाल नेत्रों से युक्त सुनिर्मित युवा मुखमण्डल उत्कृष्ट कला-कौशल का नमूना है। यह कंबु-ग्रीवा शैली में निर्मित है जो गुप्त-काल में महापुरुष और उसके आदर्श रूप की विशिष्टता थी। यह सिर लगभग ६०० ई० के पश्चात् का नहीं हो सकता।<sup>2</sup>

उमाकांत प्रेसांगद शाह

1 शाह, पूर्वोक्त, 1959, चित्र 14, पृष्ठभाग के अभिलेख के लिए चित्र 74-ई भी द्रष्टव्य।

2 वही, चित्र 16 क, 16 ख।

भाग 4

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला  
600 से 1000 इ०

## अध्याय 14

### उत्तर भारत

#### मंदिर

उत्तर भारत में प्रारंभिक मध्यकाल की बहुत अधिक वास्तुकलाकृतियाँ शेष नहीं बची हैं। अवशिष्ट कलाकृतियों में मुख्य हैं, पाली जिले में धानेश्वर का मंदिर और जोधपुर जिले में ओसिया नामक स्थान पर मंदिरों का समूह, जिसमें इस काल के मंदिरों के अतिरिक्त, पर्खर्तीकाल के मंदिर भी सम्मिलित हैं।

#### महावीर-मंदिर, धानेश्वर

धानेश्वर स्थित, महावीर-मंदिर (चित्र ६६) सांधार प्रासाद के रूप में है, जिसमें प्रदक्षिणापथ युक्त एक गर्भगृह, एक गूढ़-मण्डप, एक त्रिक-मण्डप तथा मुख-चतुष्की (द्वार-मण्डप) सम्मिलित हैं। इस मंदिर के चारों ओर चौबीस देवकुलिकाओं से युक्त एक रंग-मण्डप भी बना हुआ है और यह सम्पूर्ण निर्मिति एक ऊंचे प्राकार के भीतर स्थित है।

मंदिर के गर्भगृह की रचना-शैली सरल है। उसमें केवल दो अवयव हैं; अर्थात्, भद्र और कर्ण, प्रदक्षिणापथ के तीन ओर बनाये गये भद्र-प्रक्षेपों (छज्जों) को, गूढ़-मण्डप की भित्तियों की भाँति सुंदर झरोखों द्वारा सजाया गया है, जिनसे प्रकाश प्रस्फुटित होता है।

मंदिर की रचना (उठान; चित्र ७०) जाड्य-कुम के पीठ-बंधों, कलश तथा सादी पट्टिकाओं को आधार प्रदान करनेवाली युगल-भित्तियों द्वारा हुई है। पीठ के ऊपर सामान्य रूप से पाये जानेवाले बेदी-बंध स्थित हैं, जो सादा होते हुए भी आकर्षक हैं। प्रत्येक झरोखेयुक्त भद्र के मध्य में भित्ति से थोड़ा बाहर की ओर निकलती हुई देव-कुलिकाएँ (आले) निर्मित की गयी हैं, जिनमें पद्मावती, चक्रेश्वरी, ब्रह्म यक्ष, निर्वाणी तथा मोमुख यक्ष की ऐसी प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं, जो पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर अपनी प्रदक्षिणा के क्रम में एक दूसरे से मिलते हुए दिखाये गये हैं।

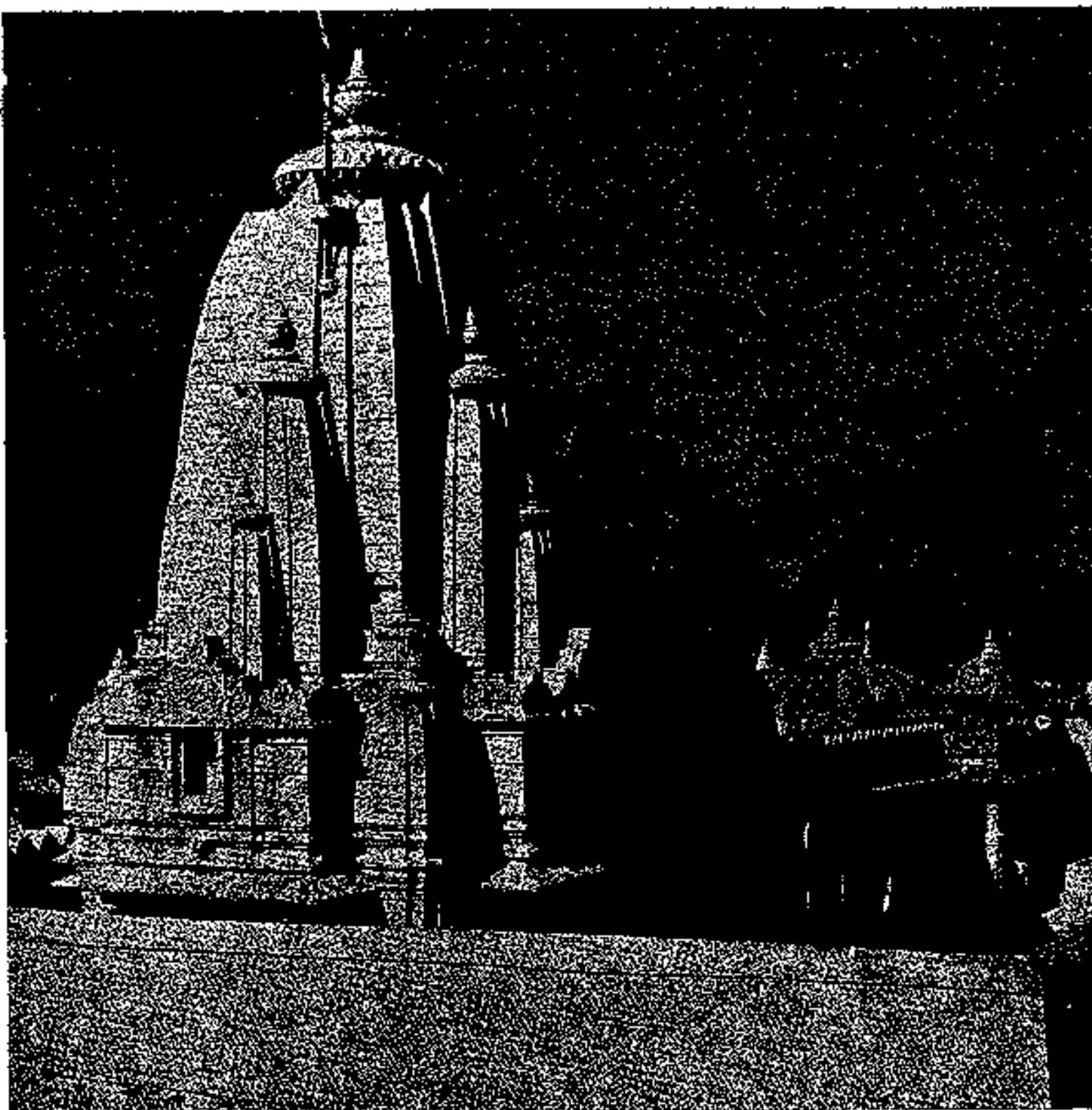
जंघाओं के कोनों पर दो भुजाओंवाले दिग्पालों की सुडौल आकृतियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं, जो मनोहर त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी हैं और जिन्हें कीचकों ने उठाया हुआ है। ये आकृतियाँ भव्यता से

गर्भगृह एक बगड़िकार कक्ष है जिसमें तीन शृंगों, अथवा भद्र, प्रतिरथ तथा कर्ण, का समावेश किया गया है। इसकी उठान में, पीठ के अंतर्गत एक विशाल भित्ति, विस्तृत अंतर्स्पन्दन और चैत्य-तोरणों द्वारा अलंकृत कपोत सम्मिलित हैं। कपोत के ऊपर बेलबूटों से अलंकृत बसंत-पट्टिका चौकी के समानांतर स्थित पीठ के ऊपर सामान्य रूप से पाये जानेवाले वेदी-बंध स्थित हैं। वेदी-बंध के कुभ देवकुलिकाओं द्वारा अलंकृत हैं जिनमें कुबेर, गज-लक्ष्मी, तथा वायु आदि देवताओं की आकृतियाँ बनायी गयी हैं। वेदी-बंध के अलंकरणयुक्त कपोत के ऊपर उदगमों से आवेषित देव-कुलिकाओं में दिव्यालों की आकृतियाँ बनी हुई हैं। जंघा की परिणति पद्म-वल्लरियों की शिल्पाकृति के रूप में होती है और वरण्डिका को आधार प्रदान करती है। वरण्डिका द्वारा छाद से आवेषित दो कपोतों के बीच के अंतराल की रचना होती है। गर्भगृह के भद्रों को उच्चकोटि के कलात्मक भरोसों से युक्त उन गवाक्षों से संबद्ध किया गया है जो, राजसेनक, वेदिका तथा आसनपट्ट पर स्थित हैं। इन गवाक्षों को ऐसे चौकोर तथा मनोहारी युगल भित्ति-स्तंभों द्वारा विभाजित किया गया है, जो कमलपुष्पों, घटपत्तलवों, कीर्तिमुखों तथा लतामुल्मों के अंकन द्वारा सुरुचिपूर्वक अलंकृत किये गये हैं और उनके ऊपर तरंग-टोड़ों की निर्मिति है। छज्जों से युक्त गवाक्षों के भरोसों के विविध मनोहर रूप प्रदर्शित हैं (चित्र ७५)। गर्भगृह के ऊपर निर्मित शिखर मौलिक नहीं है। यह म्यारहड़ी शताब्दी की भारतीय शैली की एक परवर्ती रचना है। विकसित कर्णों को दर्शनी वाले उदाश्रृंगों तथा लघु शृंगों की तीन पंक्तियाँ इसकी विशेषताएँ हैं।

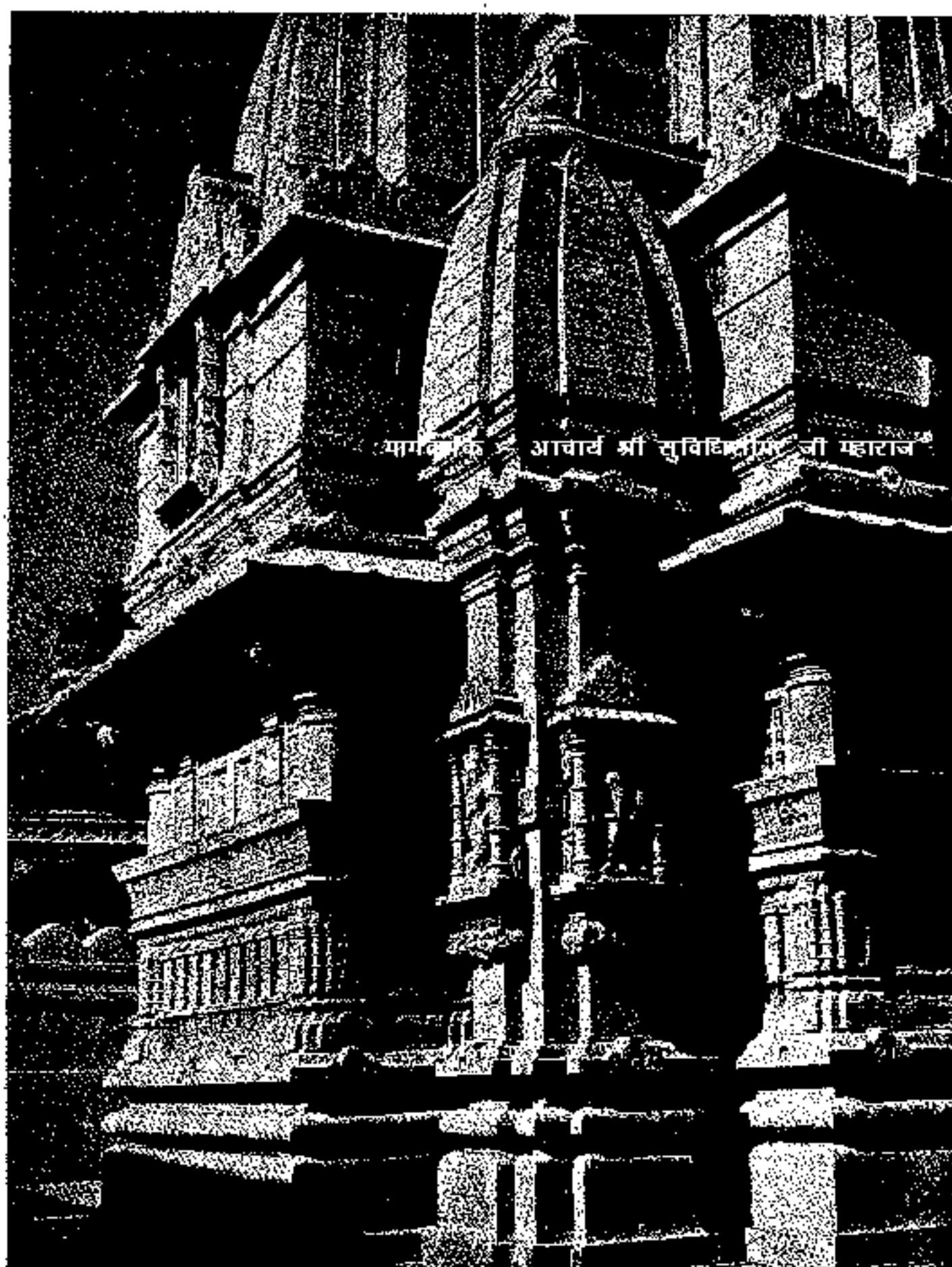
गूढ़-मण्डप की रूपरेखा में केवल दो तत्त्व सम्मिलित हैं; अथवा, भद्र और कर्ण। वरण्डिका तक गर्भगृह के गोटे तथा अन्य अलंकरण इसके अंतर्गत आते हैं। इसकी जंघा के अग्रभाग का अलंकरण यक्षों, यक्षियों और विद्यादेवियों की प्रतिमाओं द्वारा किया गया है। सामने के कर्ण में बायीं और सारस्वती और पार्वती-यक्ष तथा दायीं और अच्छुप्ता और अप्रतिचक्षा की प्रतिमाएँ अवस्थित हैं।

गूढ़-मण्डप की छत तीन पंक्तियोंवाली फानसना है, जिसका सौंदर्य अद्भुत है। प्रथम पंक्ति रूपकण्ठ से प्रारंभ होती है और वह विद्याधरों और यंवदों की नृत्य करती हुई आकृतियों से अलंकृत है; जिनके पश्चात् छाद्य तथा शतरंजी रूप में उत्कीर्ण आते हैं। प्रथम पंक्ति के चार कोने भव्य शृंगों से भण्डित हैं। भद्रों से रथिका प्रक्षिप्त होती है, जिसपर पश्चिम दिशा में कुबेर तथा पूर्व में एक अपरिचित यक्ष की आकृति सम्मिलित है। दूसरी पंक्ति में सिंहकर्ण का अंकन है और उसके दोनों पाश्वों में उसके आवे भाग की अनुकृति है। इस पंक्ति के चार कोनों को सुंदर कर्णकूटों द्वारा अलंकृत किया गया है। तृतीय या अंतिम पंक्ति के भव्य में चारों और सिंहकर्ण की रचना की गयी है और उसके कीर्णभाग में सुंदर आकृति के घण्टा-कलश का निर्माण किया गया है।

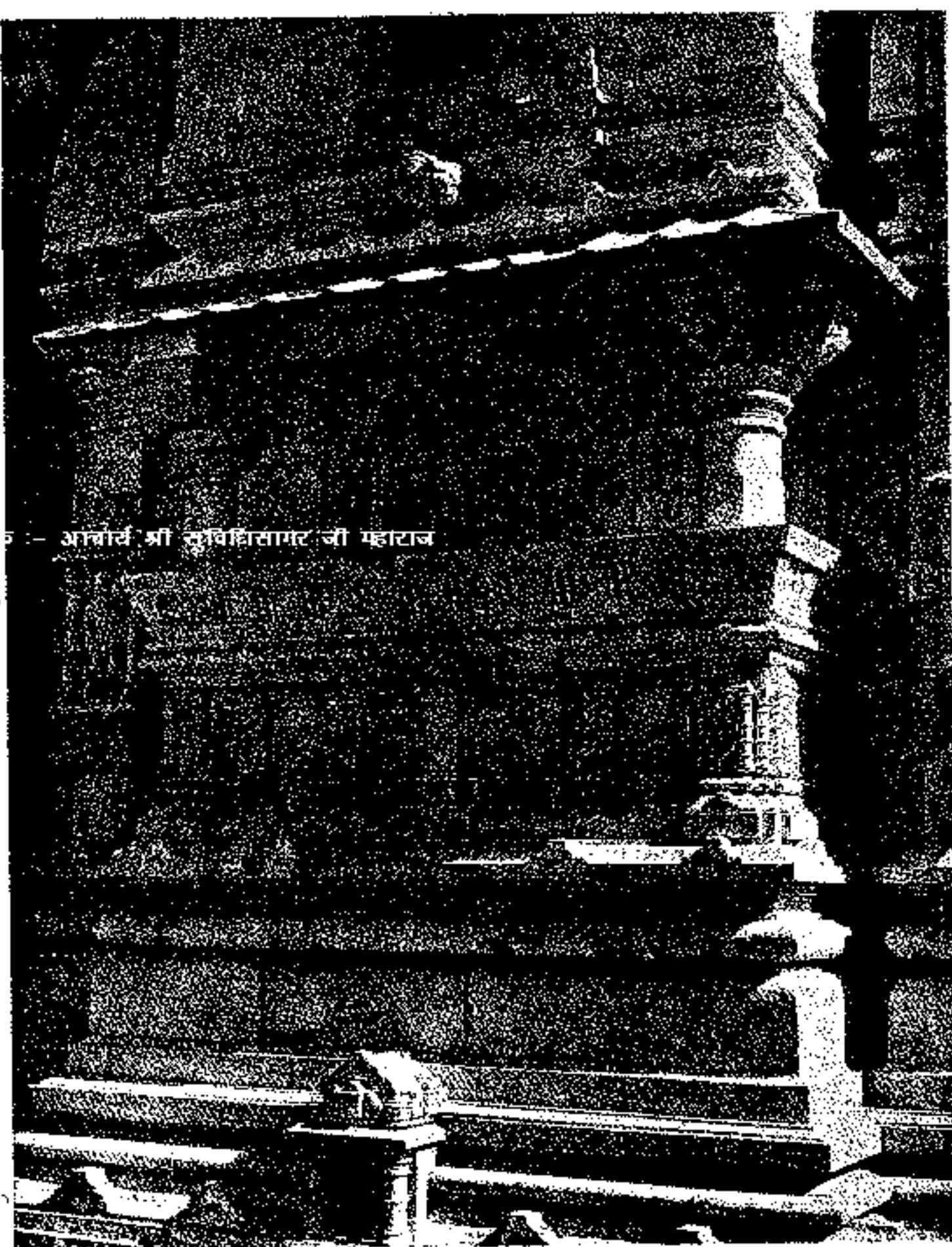
श्रिक-मण्डप का शिखर गूढ़-मण्डप के सदृश फानसना प्रकार की दो पंक्तियोंवाला है। इसके चारों और सिंहकर्ण के तीन फलक हैं। उत्तर की ओर के सिंहकर्ण पर महाविद्याओं – गौरी, वरोट्या तथा मानसी-की आकृतियाँ हैं। पश्चिमी फानसना के उत्तर की ओर यक्षी, चक्रेवरी, महाविद्या,



बागिरात्र — महाबलीर मंदिर



धानेश्वर — महाबीर मंदिर, बहुमीण (उठान)

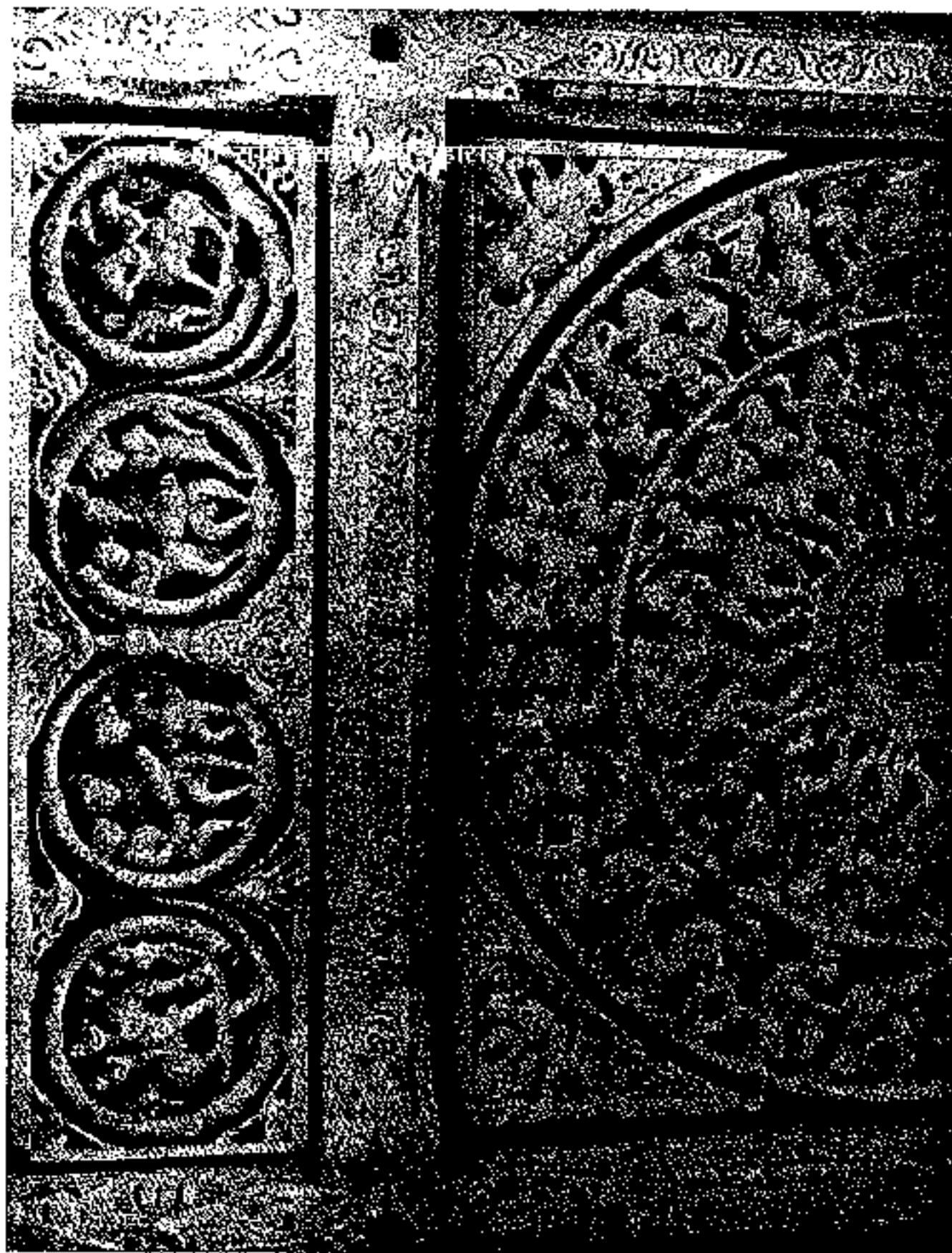


— आचार्य श्री सुविद्धिसागर जी पहाड़ाज

धनेश्वर — महाबीर मंदिर, झट्टीला

वास्तु-स्मारक एवं सूर्जिकला 600 से 1000 ई.

[ भाग 4

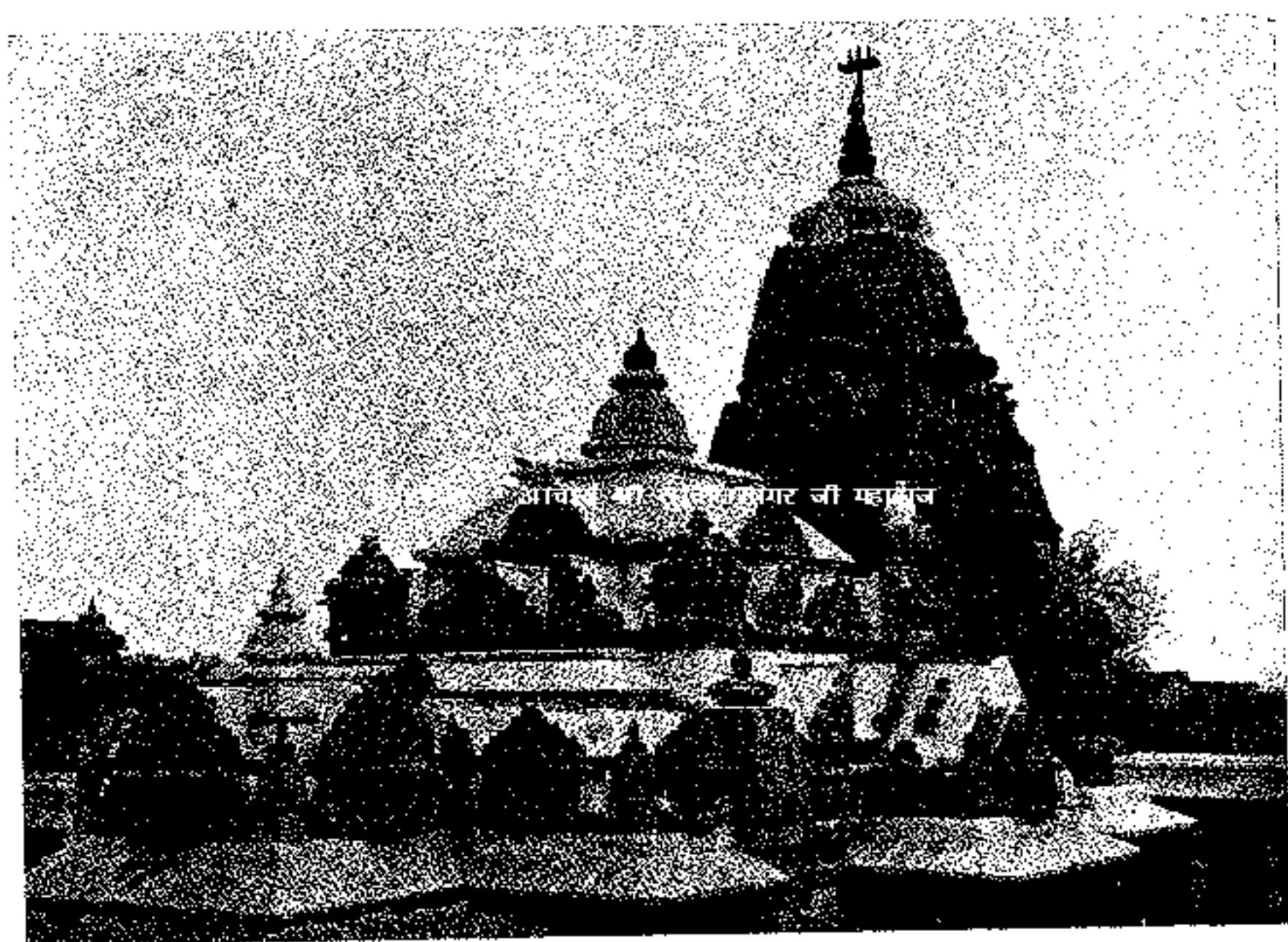


शत्रुघ्नि — महावीर भवित्व, विजय

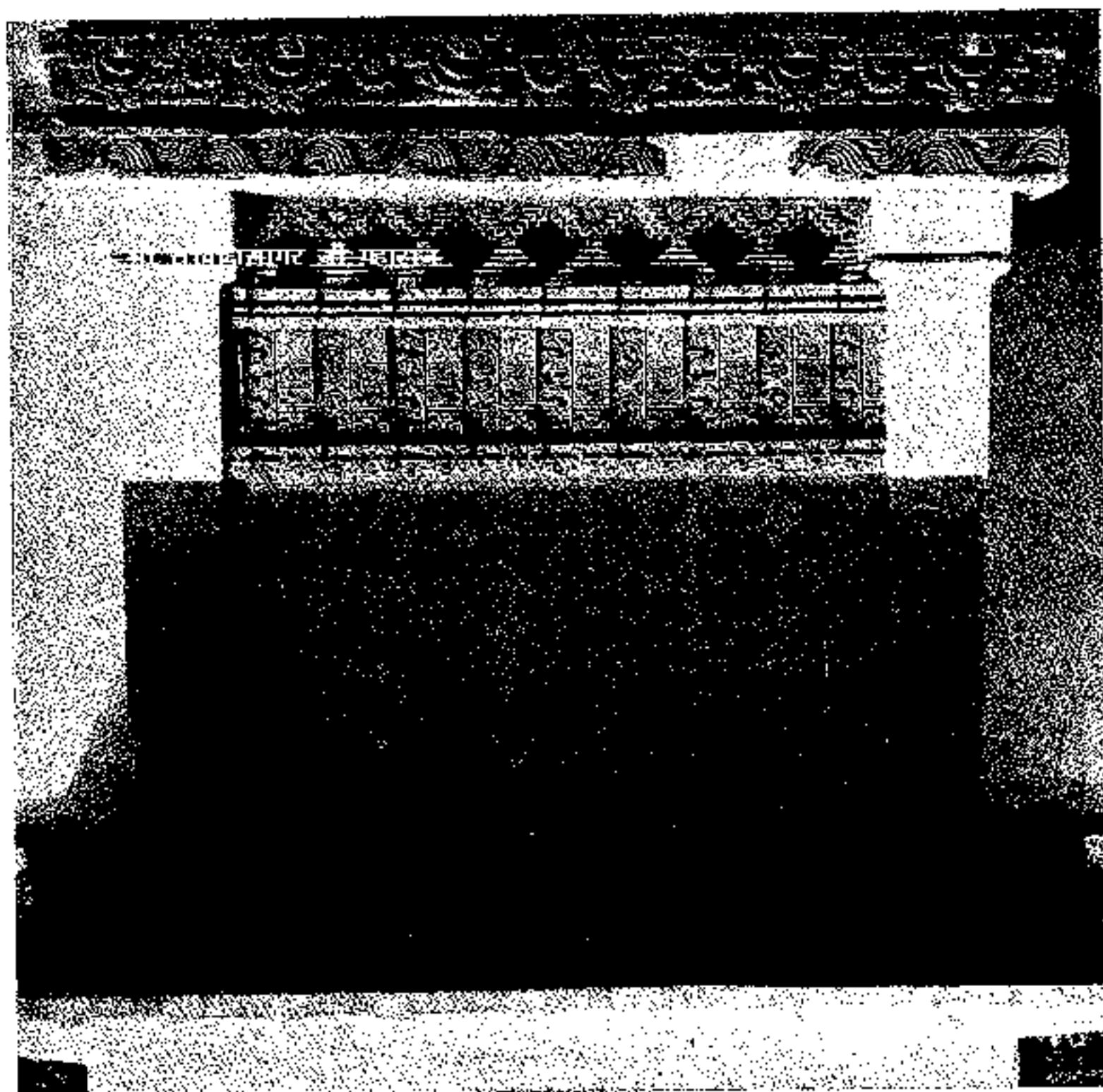


ओलिया — महावीर मंदिर, कर्म-गृह का द्वार

वास्तु-स्मारक एवं सूत्रिकला 600 से 1000 ई०



श्रीसिंहा - - महावीर मंदिर



ओसियर — महावीर मंदिर, झरोला

बास्तु-स्मारक एवं यूरिकला 600 से 1000 ई०

[ शाखा 4



तीलकथ — लीर्यर सूति

पांगदशक — अम्बार्व श्री सुविधिसाग



(क) नीलकण्ठ — शीर्षकर मूति

फ्लाटरज



(ख) नीलकण्ठ — शीर्षकर मूति



मथुरा संग्रहालय — चक्रेश्वरी मठी



मधुरा संग्रहालय ... अभिका यक्षी

[52]



(क) लखनऊ संग्रहालय — तीर्थकर सुदिविनाथ



(ख) लखनऊ संग्रहालय — तोरण शीर्ष का एक भाग

महाकाली तथा बारदेवी की आकृतियाँ दर्शायी गयी हैं। पश्चिम की ओर पश्चर्वे में, यक्षी भूतियों के भव्य महाविद्या मानवी की आकृति है।

द्वार-मण्डप की दो पंचितयोंवाली फानसना-छत घण्टा द्वारा आवेष्टित है। इसके त्रिभुजाकार तोरणों की तीन फलकों में प्रत्येक पर देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं। पूर्व की ओर महाविद्या काली, महामानसी और वरुण यक्ष की प्रतिमाएँ हैं। उत्तर की ओर यक्ष संवानुभूति, आदिनाथ तथा अंबिका की प्रतिमाएँ हैं। पश्चिम की ओर देवियों द्वारा संपादित महाविद्या रोहिणी की मूर्ति है।

गर्भगृह की भीतरी रचना सादी है, किन्तु उसमें तीन देव-कुलिकाएँ निर्मित हैं, जो अब रिक्त हैं। गर्भगृह के द्वार के कलात्मक विवरण हाल में किये गये रंगलेप और शीशों की जड़ाई के कारण छिप गये हैं।

शाला के चारों स्तंभ मूल रूप से चौकोर हैं और उन्हें घट-पल्लव (बेल-बूटों), नागपाश और विशाल कीर्तिमुखों द्वारा अलंकृत किया गया है। शाला के ऊपर की छत नाभिच्छंद शैली में निर्मित है और उसकी रचना सादे गजतालुओं द्वारा होती है। गूढ़-मण्डप की भित्तियों में पर्याप्त गहराई की दस देवकुलिकाएँ हैं। उनमें से दो में कुबेर और वायु की आकृतियाँ हैं। गूढ़-मण्डप की प्रत्येक देवकुलिका के शीर्ष पर निर्मित अद्य चैत्य-तोरणों पर जैन देवताओं की आकृतियाँ निर्मित हैं। उत्तर-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर ऋभावस्थित प्रदक्षिणा शैली में निर्मित दस देवताओं की प्रतिमाएँ रोहिणी, वैरोद्ध्या, महामानसी और निर्वाणी का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रत्येक भद्र के सरदल के ऊपर स्थित फलक पर अनुचरों के साथ पार्श्वनाथ की प्रतिमा को दर्शाया गया है।

ऐसा विश्वास करने के लिए कारण है कि श्रावकी शतान्वी में बत्सराज द्वारा निर्मित मूल मंदिर के अभिन्न अंग के रूप में वलाणक विद्यमान था और १५६ ई० में स्तंभयुक्त कक्ष के अतिरिक्त जिमर्णि के साथ इसका नवीकरण कराया गया था।<sup>1</sup>

मूल महादीर-मंदिर प्रारंभिक राजस्थानी वास्तुकला का एक मनोरम नमूना है, जिसमें महान् कला-गुण संपन्न मण्डप के ऊपर फानसना छत तथा जैन वास्तुकला के सहज लक्षणों से युक्त त्रिक-मण्डप की प्राचीनतम शैली का उपयोग किया गया है। मुख्य मंदिर और उसकी देवकुलिकाएँ प्रारंभिक जैन स्थापत्य और भूतिकला के समृद्ध भण्डार हैं और देवकुलिकाएँ तो वास्तव में स्थापत्य कला के लघुरूप ही हैं।

1 [तोरण, वलाणक तथा देवकुलिकाएँ परकर्ती निर्मितियाँ हैं, इसविषय 1000 से 1300 तक की अवधि का विवरण प्रस्तुत करनेवाले अध्याय में इनका निरूपण किया गया है—संपादक]।

### मूलियाँ

विचारावीन अवधि की मूलियों की संख्या तो बहुत है, किन्तु हमारे पास कुछ के ही विवरण उपलब्ध हैं। उनमें से जो ग्राहिक महत्वपूर्ण है, उसका उल्लेख यहाँ पर किया जा सकता है, विवेष वय से उनका, जो सुख्य संग्रहों में सुरक्षित हो चुके हैं।

प्रारंभिक मध्यकाल में मथुरा जैन कला और स्थापत्य का केन्द्र बना रहा। यह तथ्य यहाँ उत्तर-गुप्तानींसी की अनेक जैन प्रतिमाओं की उपलब्धि से प्रमाणित होता है। छठी से बारहवीं शताब्दी तक मथुरा तथा निकटवर्ती भरतपुर, कामन और बयाना क्षेत्रों में शूरसेन तामक समर्पितवाही राजनीति का शासन था। शूरसेन-राजवंश कला और स्थापत्य के महान् संरक्षक थे। शूरसेनों के उदारतापूर्ण शासन के अंतर्गत बाहुण और जैन धर्म दोनों ही समृद्ध हुए। प्राचीनकाल से ऐं क्षेत्र शूरसेन नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्यक्षतः उक्त राजवंश का नामकरण भी क्षेत्र के नाम पर ही किया गया था। कामन की चौंसठ-संवाम साम से प्रसिद्ध प्राचीन मस्तिष्ठि भी जैन के मध्यकाल की अनेक बाहुण और कुछ जैनधर्मी मूलियाँ देखी जा सकती हैं। कामन जैन धर्म के काम्यकाल का केन्द्र था। इस मध्य के विष्णुसूरि तथा महेश्वरसूरि नामक जैन धर्म के काम्यकाल के बयान के शिलालेख में किया गया है।<sup>1</sup> लङ्मीनिदास के शासनकाल, १०३२ ई० में, जिसका परिचय न शूरसेन राज्याध्यक्ष लक्षण से किया जा सकता है, जैन विद्वान् दुग्धिः३ ने कुम्भनगर अथवा कामन नामक स्थान पर शान्तिनाथ के मंदिर में कृष्ण-समूच्चय नामक धर्म की रचना की थी।<sup>2</sup> कहंम नामक एक अन्य शूरसेनवर्षीय शासक का नाम उल्लेखनीय है, जिसे श्रमदेवसूरि ने जैन धर्म में दीक्षित किया था और उसका नामकरण घोषश्वर-सूरि किया था। बताया जाता है कि उसने राज-गच्छ की स्थापना की थी। कामन के समान ही, प्राचीनकाल से शान्तिपुर अथवा श्रीपथ नाम से विल्याति, बयाना भी जैन धर्म का एक शान्तिक्षेत्री गढ़ था। इस स्थान से ६६४ ई० की एक श्रिष्टिशास्त्रकित जैन प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसमें उल्लेख है कि वागङ्ह-संघ के शूरसेन की प्रेरणा से यह प्रतिमा प्रश्नापित की गयी थी।<sup>3</sup> बयाना में उच्चा-महारिद के नाम से प्रसिद्ध चौदहवीं शती की एक मस्तिष्ठि तथा पांच सून्य मस्तिष्ठों का निर्माण, पूर्व मध्यकाल तथा परवर्ती अवधि के आवेक हित्तू तथा जैन मंदिरों को विध्वंस करके प्राप्त की गयी सामग्री द्वारा किया गया था, जैसा कि पुनः उपर्योग में लाये गये प्राचीन उत्कीर्ण स्तंभों तथा अन्य स्थापत्य-इटकों से प्रमाणित होता है। पिलानी का निकटवर्ती नरहद (प्राचीन नरभट्ट) भी शूरसेन राज्य के कला-प्रदेश के अंतर्गत था; यह तथ्य इस ल्यान पर वायी यारी उच्च फलान्मकारा से युक्त नौदी शतान्दी की चार कायोदसर्वी तीर्थिकर-प्रतिमाओं<sup>4</sup> से प्रमाणित होता है। इनमें से दो प्रतिमाएँ नैभिन्नाथ की हैं और एक-एक सुमतिनाथ तथा शान्तिनाथ की।

1 इष्टिधन ऐडिशन्सी. 14; 1885; ८ तथा परवर्ती।

2 जैन (के सी). ऐनेष्ट लिलोइ एवं डॉजन्स ग्रॉफ राष्ट्रसभा, 1972. विली. १ १५०.

3 यही, पृ 153.

4 शामी (दरवर्ष). अर्ली चौहान डाक्टरेस्ट्रीज. 1959; दिली. पृ 228 के सामने का चित्र. / हिन्दूत यार्थ-संबंधी: ए रिच्यू. 1956-57. 1957. नई दिली. पृ 83.

नीलकंठ लकड़ा राजौरीगढ़ (या गढ़), जो पाश्वनाथ की विशाल प्रतिमा के आवार पर पारनगर भी कहलाता है, शूरसेन क्षेत्र के पश्चिम की ओर स्थित भृत्यदेश का एक प्राचीन नगर है। यह नगर जैन तथा ब्राह्मण (मुख्यतः शैव) धर्मों के पूर्व-मध्यकाल तथा मध्यकाल की मूर्तियों तथा मंदिरों का सुप्रसिद्ध केन्द्र है। साक्षट नरेश के राज्यकाल ६२३ ई० के एक अभिलेख में राज्यपुर में शान्तिनाथ-मंदिर के निर्माण और उसमें मुख्य प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख किया गया है। यह स्थान पाश्वनाथ की विशाल (४६५ मीटर ऊँची) प्रतिमा, जिसे स्थानीय लोग नौगजा कहते हैं, तथा तीन अन्य विशाल तीर्थकर-प्रतिमाओं (चित्र ७६, ७७ के तथा ७७ ख) एवं हाल के अनुसंधान से प्राप्त लगभग दसवीं शताब्दी के जैन मंदिरों के अवशेषों के लिए सुप्रसिद्ध है।<sup>1</sup>

दाराणसी में भी लगभग छठी और सातवीं शताब्दियों की उत्कृष्ट कोटि की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें अजितनाथ की एक प्रतिमा भी सम्मिलित है जो अब लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है।<sup>2</sup> लगभग नौवीं शताब्दी की एक भव्य सर्वतोभद्र प्रतिमा सरावाघाट,<sup>3</sup> जिला एटा से प्राप्त हुई है, जिसमें चार तीर्थकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित हैं। इस प्रतिमा से उत्तर गुप्त-काल में मध्यदेश में विकसित हुई उत्तर गुप्तकालीन कला की जीवंतता का प्रमाण मिलता है।

#### कृष्णदेव

अपनी मूर्ति-संग्रहा के लिए सभृद्ध भथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में अधिकांशतः मथुरा क्षेत्र अर्थात् जैन और ब्राह्मण धर्मनियाधियों के लिए पवित्र ब्रजभूमि में निर्मित प्रतिमाएँ संगृहीत हैं। भथुरा के संगृहालय में छठी से दसवीं शताब्दियों की तीर्थकरों, शासन-देवियों तथा गौण देवताओं की महत्त्वपूर्ण जैन प्रतिमाएँ संगृहीत हैं। पद्मासन-मुद्रा में पाश्वनाथ की शिल्पांकित प्रतिमा जिसे प्रतीहारकाल का कहा जा सकता है, कला के इतिहास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ध्यान-मन्त्र तीर्थकर परंपरागत सिहासन पर आधारित सर्व-कुण्डलियों पर विराजमान है। उनके ऊपर सात नागफणों की छश्छाया है और अपने शीर्ष पर एक-एक नागफण धारण किये हुए उनके शासनदेवता धरणेन्द्र और पद्मावती विराजमान हैं। शीर्ष की ओर, परंपरागत कल्पना के अनुसार, मेधों का प्रतिनिधित्व करनेवाले उड़ते हुए विद्याधरों को दिखाया गया है। मुखाकृति यद्यपि खण्डित रूप में है, फिर भी उसे देखकर गुप्त-परंपरा का समरण हो आता है। तीर्थकर की एक दूसरी पद्मासन-प्रतिमा, जिसमें अधिक विकसित कला के गुण पत्ते जाते हैं, किंचित् परंवर्ती काल की प्रतीत होती

1 इण्डियन अर्क्यूलॉजी—ए रिव्यू, 1961-62, 1962, नंदी विल्सी, पृ 85.

2 महाबीर जैन विद्वात्त्व बोल्डन बुकिली बैलूलू, खण्ड 1, 1968, बम्बई, पृ 143-55, चित्र 10-11.

3 कही, पृ 217 के सामने का चित्र 4.

है। तीर्थकर-मूर्ति सिहासन पर स्थापित कमलपुष्प पर विराजमान है। मध्यदेश के कुछ अनुग्रामी देवताओं को भी कमलपुष्पों पर अंकित किया गया है। तीर्थकरों के पादर्थभागों में स्थित शीर्ष देवताओं को पाँच पंक्तियों में अंकित किया गया है। सबसे निचली पंक्ति में यक्ष और यक्षी तथा उनके ऊपर की पंक्तियों में प्रभामण्डलयुक्त चमरधारी अंकित हैं। ऊपर की तीन पंक्तियों में संभवतः उच्चतर क्षेत्रों के देवों का प्रतिनिधित्व किया गया है, जिनमें विद्याधर भी सम्मिलित हैं। पादपीठ के मध्यभाग में धर्म-चक्र तथा हरिण-प्रतीक अंकित हैं। जैसा कि भट्टाचार्य का सुझाव है<sup>1</sup>, हरिण-चिह्न से युक्त इस प्रतिमा को शान्तिनाथ का माना जा सकता है।

देवी-प्रतिमाओं में, अपने बाह्न गरुड़ पर स्थापित कमलपुष्प पर खड़ी हुई दस भुजाओं वाली चक्रेश्वरी की मूर्ति उल्लेखनीय है (चित्र ७८)। उसके दोनों पादों पर दो सेविकाएँ और विद्याधर उत्कीर्ण किये गये हैं। यह मूर्ति प्रखर से प्राप्त हुई है।

इनमें सर्वाधिक उत्कृष्ट और जटिल दसवीं ललाकी की मूर्ति है, जिसमें वह अपने परिवार-देवताओं सहित अंकित की गयी है। मूर्ति के शीर्षभाग में पद्मासनस्थ तीर्थकर-प्रतिमा की रचना की गयी है। देवी अर्धपर्यंक-मुद्रा में विराजमान हैं और अपनी गोद में एक शिशु को बैठाये हुई हैं, दूसरा शिशु उनके दाहिने घुटने को रूपर्ण कारता हुआ उनके सम्मिकट खड़ा है। नीचे उनका बाह्न सिंह अंकित है। उनके दोनों पादवी पर चमरधारी, गणेश तथा कुबेर अवस्थित हैं। शीर्ष भाग पर नेभिनाथ के दोनों पादवों में कृष्ण (विष्णु के रूप में) और बलराम अंकित हैं, वर्णोंकि अनुश्रुति के अनुसार वे तीनों एक ही परिवार के हैं। इसके अतिरिक्त इन तीनों को, तीर्थकर, बलभद्र और बासुदेव के रूप में वैसठ शलाका-पुरुषों में गिना गया है। ऊपरी भाग में उड़ती हुई मुद्रा में चार देव आङ्गुष्ठियों को भी दिखाया गया है। निचले भाग में आठ साधिवयों का मूर्तन किया गया है। मध्यकालीन कलाकृतियों में यह मूर्ति (चित्र ७९) निस्सदैह एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है जिसमें जैन तथा ब्राह्मण धर्मों की पौराणिक धारणाओं के सफल समन्वय की अभिव्यक्ति की गयी है।

लखनऊ के राज्य संग्रहालय में उत्तर प्रदेश के लगभग सभी भागों की मूर्तियों का प्रतिनिधि संग्रह विद्यमान है। उत्तर गुप्त-काल और पूर्व मध्यकाल की अनेक जैन प्रतिमाएँ इस संग्रहालय में सुरक्षित हैं किन्तु उनमें से कुछ ही महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। तीर्थकरों की प्रतिमाओं में सुविधिनाथ की एक दुलंभ प्रतिमा है जिसकी पहचान उसके पादपीठ पर अंकित मत्स्य-चिह्न से होती है। पद्मासन-मुद्रा में तीर्थकर सुविधिनाथ अंकित हैं। उनके नीचे यक्ष तथा यक्षी की लधु प्रतिमाएँ हैं और पादर्थ में चमरधारी तथा शीर्ष पर लीन छत्रों के दोनों ओर विद्याधर युगल अवस्थित हैं। छत्रों के ऊपर स्थित नगाड़ा देवदुन्दुभि का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रतिमा (चित्र ८० क) श्रावस्ती से प्राप्त हुई थी।

1 भट्टाचार्य (बी सी), जैन आइकॉनोग्राफी, 1939, लाहौर पृ 73 तथा चित्र 4.

एक और मूल्यवान निमिति के खण्डित भाग पर, जो संभवतः मूल रूप से मथुरा के किसी तीर्थ-सरदल का भाग था, इह देवकुलिका उत्कीर्ण है। उनके नीदार मूल तीर्थकर-प्रतिमा तथा एक पाश्वर्म में मकर (चित्र द० ख) उत्कीर्ण है।

देवकुलिका का शिखर यद्यपि स्थूल रूप में निमित है, उसकी आकृति भूमियों में विभक्त त्रि-रथ तथा शुकनास से युक्त है, जिसमें शिकूट तीरण द्रष्टव्य है।

जलखनऊ संग्रहालय में प्रतीहारकाल की अन्य महत्वपूर्ण जैन मूर्तियों में कायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थकरों की प्रतिमाएँ, आवस्ती से प्राप्त पाश्वनाथ की प्रतिमा और आगरा के जिकट बटेश्वर से प्राप्त कुछ प्रतिमाएँ हैं, जिनमें सर्वतोभूमिका प्रतिमाएँ भी सम्मिलित हैं।

इलाहाबाद संग्रहालय में उत्तर भारत की जैन प्रतिमाओं की संख्या बहुत अधिक नहीं है। वहाँ सुरक्षित प्रतिमाओं में से अधिकांश कीशांबी से प्राप्त हुई हैं। पूर्व-मध्यकालीन जैन मूर्ति-कला का एक रोचक उदाहरण है — जैन परिरक्षक युगल जो आठवीं शताब्दी के लगभग का है और इलाहाबाद जिले के लच्छगिर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। बलुए शिलापट्ट पर उत्कीर्ण इस मूर्ति में अशोक वृक्ष के नीचे अर्धपर्यंकासन में विराजमान देव-देवियों को दर्शाया गया है। अशोक वृक्ष के मध्य में तने के ठीक ऊपर एक छोटी-सी तीर्थकर-प्रतिमा है। दोनों देवताओं के दाहिने हाथ अभय-मुद्रा में हैं। उनके शरीरों पर सामान्य प्रयोग के आभूषण हैं और निचले भाग में आरीदार धोती है। एक देवी, जिसने यज्ञोपवीत भी धारण किया हुआ है, अपनी गोद में एक शिशु को लिये हुए है। आधारपट्ट के ऊपर छह प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूर्ति, जिसपर गुप्त-कला-परंपरा का प्रभाव है, पांचिका तथा हारिती बौद्ध प्रतिमाओं के आदर्श पर प्रतिरूपित की गयी है। अन्य प्रतिमाओं में तीर्थकरों तथा सर्वतोभूमिका प्रतिमा की कुछ प्रतिलिपि मूर्तियाँ सम्मिलित हैं। सर्वोल्कृष्ट तीर्थकर-मूर्ति वह है जिसमें चंद्रप्रभ को पारंपरिक सिहासन पर अवस्थित कमलपुष्प पर आसीन दिखाया गया है। तीर्थकर के निम्न, मध्य तथा ऊपरी भागों पर कमशः यक्ष, यक्षी तथा भक्तजन अवस्थित हैं। कमलपत्रों तथा कुटिल-पश्चावली से सज्जित दोनों पाश्वों पर मेघों की विरुद्ध दिशा में उड़ते हुए लंबे आकार के चमर-धारियों और विद्याधरों को दर्शाया गया है। इस मूर्ति का किरणोदीप्त वृत्त गुप्त-काल के अलंकृत प्रभामण्डल का स्मरण दिलाता है। एक और आसनस्थ तीर्थकर-प्रतिमा शांतिनाथ की हो सकती है। क्योंकि इसके पादपीठ पर परंपरागत बौद्ध धर्म-प्रतीक चक्र के दोनों ओर हरिण अंकित हैं। पाश्वों पर उत्कीर्ण अनुचरों की आकृतियों में चमरधारी, हाथी-सवार और उड़ते हुए विद्याधरों की मूर्तियाँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी तीर्थकर मूर्ति पद्मासन-मुद्रा में मूलिसुत्रत की है। तीर्थकर-प्रतिमा

के ठीक नीचे एक श्रद्धावनत महिला की सूति उत्कीर्ण है।<sup>1</sup> शैली के आधार पर इन सभी प्रतिमाओं का काल-निधरिण नौवीं शताब्दी के लगभग किया जा सकता है। सर्वतोभद्रिका तथा अन्य तीर्थकर-प्रतिमाओं का काल-निधरिण दसवीं शताब्दी किया गया है। सर्वतोभद्रिका प्रतिमा में तीर्थकरों को कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित किया गया है।<sup>2</sup>

मुनीशासन्द्र जोशी

1. मुनिसुवत की अन्य प्रतिमाओं के नीचे श्रद्धावनत महिला की प्रतिमा के संदर्भ में द्रष्टव्य : मिथा (देवला), आहकॉर्नियाटिक नोट्स, अमेल ऑफ दि एसियाटिक सोसायटी, ।।; 1958; 38-39.

2. इलाहाबाद संग्रहालय की प्रतिमाओं के विस्तृत विवरणों के लिए द्रष्टव्य : प्रमोदवांश, स्वोन स्कूलपाल इन दि इलाहाबाद स्पूलियम, 1971 (?), पूरा.

## अध्याय 15

### पूर्व भारत

#### पश्चिम बंगाल

बंगाल में जैन धर्म पूर्व मध्यकाल में बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के साथ ही साथ प्रचलित रहा। पुण्ड्रवर्धन (उत्तर बंगाल) और समतट (दक्षिण बांगलादेश) के संदर्भ में चीनी यात्री हुनसांग ने लिखा है कि इन दोनों क्षेत्रों में दिगंबरों (निर्यथों) की बड़ी संख्या थी, यद्यपि बहुत से बौद्ध संधाराम और देव-मंदिर भी थे।<sup>1</sup> जैन धर्म की लोकप्रियता यज्ञधि बंगाल में हुनसांग के समयोपरांत भी रही, किन्तु उसके पश्चात् आठवीं शती में जैन गतिविधियों के संकेत न तो साहित्यिक श्रोतों से मिलते हैं और न पुरातात्त्विक श्रोतों से। इससे कुछ लोग यह विश्वास करते हैं कि बौद्ध धर्म के प्रबल समर्थक पालबंश के उदय के साथ सातवीं शती के अन्तर्गत बंगाल में जैन धर्म का ह्रास होने लगा। यह कल्पना इस तथ्य की दृष्टि से उचित नहीं कि नौवीं और दसवीं शताब्दियों में बंगाल के विभिन्न भागों में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ और पाषाण तथा काँस्य की अनेक मूर्तियाँ गढ़ी गयीं, जबकि बौद्ध धर्म इस प्रदेश पर छाया हुआ था।

नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दियों तक जैन कला पूर्वी भारत में उत्तरी ही उत्कृष्ट और विविधतापूर्ण रही जितनी बौद्ध और ब्राह्मण कलाएँ। मूर्तिकला के क्षेत्र में, दीनाजपुर जिले में सुरोहोर से प्राप्त और शैलीभूत विशेषताओं के कारण दसवीं शती की मानी जानेवाली कृष्णनाथ की पद्मासन-प्रतिमा का स्थान अद्वितीय है। इसमें गुप्त-कला की गरिमा और सीम्यता विद्यमान है (चित्र द१ क) जे० एन० बनर्जी ने इस प्रतिमा का उल्लेख इस प्रकार किया है :

‘एक लघु मंदिर के आकार में अंकित इस प्रतिमा में मूलतायक के रूप में तीर्थकर अपने लांछन (बृथम) से अंकित पादपीठ पर बद्ध-पद्मासन में हाथों को ध्यान-मुद्रा में स्थापित करके विराजमान हैं। शेष तेईस तीर्थकरों की मूर्तियाँ भी अपने-अपने लांछनों से चिह्नित और

1. मजूमदार (रमेशचन्द्र), जैनिज्म इन ऐन्डेपेंट बंगाल, महाबोर जैन विद्यालय गोलडन जुबिली बॉक्स, 1968. बम्बई, पृ 136-37. / बील (एस), बुद्धिस्थ रिकार्ड्स ऑफ द बैस्टमैन्ड, 2, 1884, संदर्भ.

मूलनाथक की-सी मुद्रा में लघुतर भंदिरों में अंकित हैं। इनमें से सात-सात की एक-एक पंक्ति मूलनाथक प्रतिमा के दोनों ओर है और ऊपर नौ मूर्तियाँ तीन-तीन मूर्तियों की तीन समानांतर पंक्तियों में अंकित हैं। इन तीन पंक्तियों को थोड़ा आगे को और प्रक्षिप्त रूप में अंकित किया गया है ताकि वे मूलनाथक प्रतिमा के लिए एक प्रकार से छत्र का-सा रूप दे सकें। इसके दोनों ओर चमरधारी अनुचर सौभ्य मुद्रा में खड़े हैं और उनके जटामुकुट के समानांतर मालाधारी विद्याधर युगल मेघों के परंपरागत मूर्तिन के मध्य उड़ते हुए दिखाये गये हैं। कदाचित् आरंभिक पालयुग की इस प्रतिमा की संपूर्ण निर्मिति सूक्ष्म कीशल और सुरुचिपूर्ण सरसता से की गयी है।<sup>1</sup>

और भी बहुत-सी उत्कृष्ट जैन मूर्तियाँ बांग्लादेश के उसी भाग में बनीं। इनमें वे मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं जिनमें कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए दम्पति को दर्शाया गया है, जिनकी गोद में बालक है और उनके ऊपर कल्पवृक्ष की शाखाएँ फैली हुई हैं।<sup>2</sup> यह जैन परंपरा के अंतर्गत एक शासन-थक्ष युगल है, और प्रजनन-स्वरूप का प्रतीक है, उसी प्रकार जैसे बौद्ध धर्म की महायान शाखा के कुबेर और हारीति। त्रृष्णभनाथ की एक मूर्ति (दसवीं शती) भी इसी क्षेत्र की है जो अब कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष संग्रहालय में है। उसे एस० के० सरस्वती ने राजशाही जिले के मण्डोल से प्राप्त किया था।

नेपिनाथ की यक्षी अंबिका<sup>3</sup> की एक उत्कृष्ट कांस्य मूर्ति, २४ परगना जिले के नलगोड़ा से प्राप्त हुई थी। घनुषाकार फैले वृक्ष के नीचे अंपनी देह में आकर्षक आकुचन दिये और कटि पर बालक को हाथ से थामे हुए देवी एक कमलपुष्प पर खड़ी है। बायें हाथ में कोई पुष्प है। उसकी दायीं ओर एक नरम बालक खड़ा है। वृक्ष के नीचे अंबिका का चिह्न सिंह अंकित है। शैली के आधार पर यह मूर्ति (चित्र न१ ख) भी दसवीं शती की मानी जा सकती है। तेहस अन्य तीर्थंकरों के साथ कायोत्सर्व-मुद्रा में अंकित तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्थारहवीं शती की कान्ताबेनिया से प्राप्त मूर्ति से प्रभाणित होता है कि मध्यकाल में इस क्षेत्र में जैन धर्म बहुत सोकप्रिय था।<sup>4</sup>

जैन मूर्तियाँ पश्चिम बंगाल के और भी कई जिलों में विपुल संख्या में उपलब्ध हैं। बर्द्धवान के उजनी में स्थारहवीं शती की शान्तिनाथ की एक दुर्लभ मूर्ति खोज तिकाली गयी थी, जो अब

1 मजूमदार (रमेशचन्द्र), संपर. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, खण्ड 1. 1942, ढाका, पृ 464 पर जितेन्द्रनाथ बनर्जी के चित्र। [दीनाजपुर जिला, अब दो भागों में विभक्त कर दिया गया है, पश्चिम दीनाजपुर (पश्चिम बंगाल, भारत) और पूर्वी दीनाजपुर (बांग्लादेश)। यह निश्चित नहीं किया जा सका कि यह मूर्ति इन दो जिलों में से किस जिले की है—लंपादक]

2 वही, पृ 465.

3 वही.

4 वही.

कलकत्ता के बंगीय साहित्य परिषद् संग्रहालय में सुरक्षित है। इस प्रतिमा के पृष्ठभाग पर नवग्रह उत्कीर्ण हैं, पाँच और तथा चार दूसरी ओर। पादपीठ पर तीर्थकर का लांछन हरिण अंकित है।<sup>1</sup>

जिला बदैबाज के ही सात देउलिया में, कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े और अपने-अपने लांछनों के साथ अंकित ऋषभदेव, महावीर, पार्श्वनाथ और चंद्रप्रभ की एक चौमुखी तथा ऋषभ, पार्श्व और महावीर (?) (जिसके नीचे का भाग टूट गया है) की अलग-अलग मूर्तियाँ मिली हैं जिनपर चारों ओर विभिन्न तीर्थकरों की सात लघु आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। उसी स्थान से एक अद्वितीय प्रस्तर-पट्ट प्राप्त हुआ है जिसपर ऋषभ लांछन सहित ऋषभनाथ और कायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थकरों की सात पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ऋषभनाथ छत्रश्ल्य के नीचे पद्मासन-मुद्रा में दिराजमान हैं। उनके दोनों ओर एक-एक चमरधारी अनुचर हैं। ऊपर दुन्दुभि या करताल बजाते हुए हाथ दिखाये रखे हैं।<sup>2</sup> पद्मासनासीन ऋषभनाथ के नीचे सात पंक्तियों में तीर्थकरों की एक सी अङ्गतालीस मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। जैसा कि पी० सी० दासगुप्ता का मत है, यह (चित्र द२ क) कदाचित् अष्टापद तीर्थ का शिल्पांकन है।<sup>3</sup>

इस प्रस्तर-पट्ट की प्राप्ति से इस मान्यता को आधार मिलता है कि सात देउलिया का मंदिर (चित्र द२ ल) भी मूलतः जैन है।<sup>4</sup>

सात देउलिया का इटों से निर्मित मंदिर उड़ीसा के मंदिरों की रेख-चैली का है। इसका गर्भ-मृह सीधा और लंबाकार है और उसपर बकरेखीय शिखर है। आमलक और सामान्य रत्नपिंकाएँ भूमि हो चुकी हैं। सरस्वती लिखते हैं, 'इस मंदिर की ध्यान देने योग्य एकमात्र विशेषता यह है कि गर्भगृह के लघुकक्ष पर अनेकों उल्टे छज्जे निर्मित हैं जो प्रक्षिप्त करोत कान्सा आकार ग्रहण कर लेते हैं जिसपर शिखर आरंभ होता है। गर्भगृह और शिखर के अवधार सूक्ष्म पट्टिकाओं में विभक्त हैं, यह एक ऐसी आयोजना है, जो अवधारों के रथों और पर्मों के रूप में विभाजन के फलस्वरूप हुई होगी। इसके अतिरिक्त गर्भगृह की भित्तियाँ सपाट हैं किन्तु शिखर पर चैत्य-मवाक्ष और पत्रावलियों

1 वही।

2 दासगुप्ता (पी सी). ए रेयर जैन आइकॉन प्रॉय सात देउलिया. जैन जर्नल. 7 ; 1973 ; 130 तथा परकर्ता.

3 जैन परंपरा के अनुसार ऋषभनाथ के पूत्र भरत ने उस पर्वत पर सर्वप्रथम स्तूप और मंदिर बनवाया, जिसपर उनके पिता ने निर्वाण प्राप्त किया। मंदिर और स्तूप बनवाकर भरत ने पर्वत की उपत्यका और अधित्यका के मध्य आठ सोपान (अष्टापद) बनवाये, इससे उस पर्वत का नाम अष्टापद पड़ गया। यहाँ भी प्रथम जैन मंदिर की परिकल्पना अंतिमिहित है, जो एक आठ सोपानवाले पर्वत या आठ सोपानवाले जिरारुत पर आठ सोपान बाले स्तूप के रूप में थी। शाह (उपाकांत प्रेसानंद), स्टडीज इन जैन आर्ट, 1955, बनारस, पृ 128.

4 बदैबाज में प्राप्त जैन मूर्तियों में से ऋषभनाथ, नेत्रिनाथ, पार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ की एक चौमुखी और आदिनाथ की दो मूर्तियाँ (तगभग दसवीं शती) उल्लेखनीय हैं, जो अब कलकत्ता के आशुतोष स्मूलियस ऑफ इंडियन आर्ट में संग्रहीत हैं।

का विपुल अलंकरण है। कोण इसलिए तनिक गोल से रखे गये हैं ताकि सामनेवाली पट्टिकाओं की तुलना में वे और भी सुन्दर प्रतीत हों, किन्तु तीळण किनारों को फिर भी छोड़ा नहीं गया है।<sup>1</sup>

इस युग की जैन मूर्तियाँ भिद्नापुर जिले में भी प्राप्त हुई हैं। उनमें से बाराभूम में शिली पाश्वनाथ की मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। अब कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में संगृहीत यह मूर्ति एक चतुर्विंशतिका है जिसमें चौबीस तीर्थंकरों की लघु मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसमें उत्कृष्ट कोटि का कला-कौशल दिखाया गया है। मूर्ति दसवीं-चारहवीं शताब्दियों की हो सकती है।<sup>2</sup>

पश्चिम बंगाल में बाँकुरा जैन कला का सर्वाधिक उर्वर केन्द्र रहा प्रतीत होता है। सामान्य योग-मुद्रा में आसीन और शीर्ष पर सप्त-फणावलि से भण्डित पाश्वनाथ की बाँकुरा जिले के देवल-भीरा से प्राप्त मूर्ति जैन कला का एक सुंदर उदाहरण है और शैली के आधार पर इसे दसवीं शती का माना जा सकता है।<sup>3</sup> यह मूर्ति भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित है।

देवला मित्रा ने बाँकुरा जिले में दसवीं-चारहवीं शताब्दियों के बहुत से अवशेषों का अन्वेषण किया है<sup>4</sup>। जिसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र विंशत जैनों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। जिन स्थानों का उन्होंने सर्वेक्षण किया, उनमें अग्रलिखित ग्राम सम्मिलित थे : कंगसावती और कुमारी के संगम पर अंबिकानगर; अंबिकानगर के सामने चिटचिटी; अंबिकानगर के पूर्व में चार किलोमीटर पर बरकोला; अंबिकानगर के उत्तर-पश्चिम में तीन किलोमीटर पर परेशनाथ; परेशनाथ के सामने चियादा; कंगसावती का तटदर्ती केंद्रआ। अंबिकानगर से प्राप्त जैन अवशेषों में, ग्रामगंदिर के बाहर पड़ा नेमिनाथ की शासनदेवी अंबिका की मूर्ति का एक खण्ड (स्पष्ट है कि देवी के नामपर इस ग्राम का नामकरण हुआ है) और ऋषभनाथ की एक मूर्ति उल्लेखनीय हैं। अंबिका की मूर्ति का यह अवशिष्ट खण्ड अब मंदिर के भीतर रखा है और ब्राह्मण देवी के रूप में उसकी पूजा की जाती है। अंबिका देवी के मंदिर के पीछे एक भग्न मंदिर में स्थापित लिंग के पास पड़ी ऋषभनाथ की मूर्ति (विन द३ क) का कला-कौशल उत्कृष्ट कोटि का है। मनोहर मुखमुद्रा और जटा-मुकुटध्युक्त यह मूर्ति कायोत्सर्ग-आसन में युगल पंखुडियोंवाले कमल पर खड़ी है, जिसके नीचे वृषभ चिह्न अंकित है। अन्य मूर्तियों के सदृश, इसके भी दोनों ओर एक-एक अनुचर हैं और उसके

1. मजूमदार, पूर्वोत्तर, 1942, पृ 500-01 में सरस्वती के विवार [वर्दवान विश्वविद्यालय में संग्रहालय और कला-वीथि के संग्रहालय श्री ईश्वरद्वारा द्वारा सामन्त से हमें इस मंदिर की पुनः सूचना प्राप्त हुई है, उन्होंने सात देउलिया में 1957 में उनके द्वारा खोजी गयी मूर्तियों के कुछ छिप भी भेजे, जिनमें से कुछ यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं —संपादक]

2. बनजी, पूर्वोत्तर, पृ 465.

3. यही, पृ 464.

4. जन्मल श्रोत दि एशियाकिक सोसाइटी (लंदर), 24 ; 1958 ; 131-34.

मस्तक पर बहुपर्णी छत्र है जिसके दोनों ओर एक मालावारी युगल उड़ता दिखाया गया है। छत्र के ऊपर दो हस्तयुगल संगीतवादी बजाते हुए अंकित हैं। मूर्ति के पीछे शिलापट्ट पर बारह-बारह की पंक्तियों में चौदोस तीर्थकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में उत्कीर्ण किये गये हैं। इस मंदिर (चित्र नं ३ ख) के विषय में मित्रा ने लिखा है :

'उडीसा के मंदिरों की माँति उसकी बाड़ के कई भाग है—पाभाग, जंघा और बरण्ड। एक संकीर्ण मंत्र (उपास) पर निर्मित पाभाग के सबसे नीचे के चार गोटों खुरा, कुम, खुरा और उलटे खुरा में से अंत के दो थोड़े-थोड़े अंतर पर बनाये गये हैं और उनपर हृदयाकार कला-प्रतीक अंकित हैं। जंघा के उत्तर-पश्चिम और दक्षिण भागों में छह भित्ति-स्तंभ निर्मित किये गये हैं। इनमें से तीन मध्यवर्ती प्रक्षेप के एक और है तथा तीन दूसरी ओर। अंतिम भित्ति-स्तंभ में एक देव-कुलिका है, जो पास्वं देवताओं के लिए बनायी गयी थी (वे अब उसमें नहीं हैं)। शीर्षभाग के दो गोटों — खुरा और उलटे खुरा — के अतिरिक्त भित्ति-स्तंभों का शेष भाग सपाट है। बरण्ड एक प्रक्षिप्त गोटा है, जिसके ऊपर बाड़ और शिखर को पृथक् करनेवाले घंटपट पर गोटों की एक ऐसी शृंखला निर्मित है जो मंदिर के शिखर का रूप ले लेती है। इनमें से अब पाँच ही गोटे शेष हैं।'

'मध्यवर्ती प्रक्षेप का मुखभाग (पूर्वी) शेष भागों से अधिक मोटा है और उसी में प्रवेश-द्वार है। द्वार के ऊपर पाँच अप्रकट धरने हैं, जिनके ऊपर एक सरदल है, जो मध्यवर्ती प्रक्षेप की पूरी चौड़ाई तक फैला हुआ है।

'मंदिर की रूपरेखा चि-रथ शैली में है। इसका अन्तःभाग ४' २" (१४० कौण्टी फीटर) बर्गकार है। भित्तियों की मोटाई २' १" (६३ सें. मी.) है, जिससे कि बहिभाग अन्तःभाग की अपेक्षा द्विगुणित हो गये हैं। मंदिर के अन्तःभाग में दो शिला-पट्टों से निर्मित गर्भ-मुद (गर्भगृह का निम्नतमं वितानं) के भीतर की ओर बढ़ती हुई धरने हैं। गर्भ-मुद के ऊपर कम से कम एक कोठरी और थी, जिसमें प्रवेश के लिए द्वार के सरदल पर संकीर्ण प्रवेशमार्ग बनाया गया है।'

इस ग्राम में उपर्युक्त श्रवणों के अतिरिक्त, इसी युग की कुछ और खण्डित जैन मूर्तियाँ हैं।

अंविकानगर के सामने चिटगिरि में कुछ जैन अवशेष हैं, जिनमें कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े तीर्थकर की एक मूर्ति भी है। इसके पारपीठ पर अंकित लांडून हरिण-जैसा प्रतीत होता है, अतएव यह तीर्थकर शान्तिनाथ की प्रतिमा हो सकती है।

अंविकानगर के पूर्व में लगभग ४ किलोमीटर दूर स्थित बरकोला जैन धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जैसा कि इस स्थान पर निद्यमान अवशेषों से विद्यत होता है। इस स्थान से प्राप्त उल्लेखनीय अवशेषों में अपनी सामान्य विशेषताओं से युक्त एक अंविका की मूर्ति है, जिसमें नीचे लटकते हुए उसके

बायें हाथ को पकड़े एक बालक और कायोत्सर्ग-मुद्रा में दो तीर्थकर-मूर्तियाँ भी हैं जिनके लांछन अब अस्पष्ट हो गये हैं। तथापि उनमें से एक या तो सुविधिनाथ की हो सकती है या अजितनाथ की। सामान्यतः चतुर्मुख या चौमुख कहे जानेवाले दो लघु मंदिर भी यहाँ देखे गये थे। उनमें से जो अधिक सुरक्षित दब गया है, उसके चारों और त्रिपटी तोरणाकृतियों के भीतर एक-एक कायोत्सर्य तीर्थकर-मूर्ति उत्कीर्ण है; उनमें से लांछनों द्वारा पहचाने गये तीन तीर्थकर हैं — ऋषभनाथ, चन्द्रप्रभ और शान्तिनाथ, किन्तु चौथे का लांछन स्पष्ट नहीं रह गया है। जैसा कि मित्रा का विचार है, ये एक ही पाषाण से बने मंदिर इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि इनसे उत्तर भारत की रेख-जैली के मंदिरों के स्थापत्य-संबंधी आकार और लक्षणों का परिज्ञान होता है, जिनमें लंबाकार वाड रूपरेखा में पाभाग के लिए निर्मित दो गोटों के साथ एक त्रि-रथ, तथा क्रमशः संकीर्ण होते जानेवाले खुराकार गोटों की पंक्ति से बन जानेवाला पंच-पग शिखर होता है और एक ऐसी उत्तुंग बेलनाकार श्रीवा होती है, जिसपर एक अनुपातहीन आमलक होता है। आमलक के ऊपर स्तूपाकार शिखर होता है।<sup>1</sup>

अंधिकानगर के उत्तर-पश्चिम में १११ किलोमीटर दूर स्थित परेशनाथ नामक ग्राम में पाश्वनाथ का (जिनके नाम पर इस ग्राम का नामकरण हुआ) मंदिर था, जिसकी अब केवल चौकी ही शेष बची है। सुषड़ और सौम्य शिल्पाकन्युक्त पाश्वनाथ की मूर्ति अब खण्ड-खण्ड हो गयी है। परेशनाथ के पास चियादा में भी कुछ तीर्थकर-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

अंधिकानगर के उत्तर में ११ किलोमीटर दूर स्थित केंदुआ एक समय जैन कला और धर्म का उन्नतिशील केन्द्र रहा, जहाँ अब एक जैन प्रतिष्ठान के भग्नावशेष ही विद्यमान हैं। यह संपूर्ण क्षेत्र पाषाण निर्मित एक मंदिर के वास्तुकलाओं से भरा पड़ा है। यह मंदिर कदाचित् पाश्वनाथ का था, क्योंकि उसके पास उनकी एक सुंदर मूर्ति पड़ी है, जिसका ऊपर का भाग टूट गया है।

पश्चिम बंगाल और बिहार के सीमावर्ती जिलों, विशेषतः अनबाद और पुरुलिया के कई स्थानों पर जैन मंदिर मिले हैं, जिनमें से बहुत से अब भग्न हो चुके हैं। इनमें से ये स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : चारा, संका, सेनेरा, बोरम, बलरामपुर, फलमा, अरसा, देवली, पाक-दीरा, लाठोंडूगरी और डुलभी। दामोदर, कांगसाथती और सुवर्णरेखा नदियों की घाटियों में जैन धर्म का व्यापक विकास हुआ। वहाँ तीर्थकरों और शासन-देवताश्रों की अनेक मूर्तियाँ तो मिली ही हैं, अनेक जैन मंदिरों के आवश्यक भी विद्यमान हैं।

पुरुलिया जिले के देवली ग्राम में एक पंचायतन मंदिर-समूह था (चित्र ८८ क)। इस क्षेत्र से अरनाथ की एक पूर्णकार मूर्ति प्राप्त हुई थी। देवली के सभीप ही जोरापुकुर नामक स्थान में भी अनेक जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं।

1. बाहु छोटेसान जैन समूह प्रबंध, 1967, कलकत्ता, पृ. 150 तथा परवर्ती पृष्ठों में एस सी मुखर्जी के विचार.

उसी जिले में, जैन मंदिरों और मूर्तियों की दृष्टि से पाकबीरा सभी स्थानों से अधिक समृद्ध रहा है। यहाँ प्राप्त मूर्तियाँ अब एक छतरी में रखी हैं। इनमें महाबीर, प्राश्वनाथ, कुन्त्युनाथ, नेमिनाथ, शांतिनाथ और ऋषभनाथ की मूर्तियाँ सम्मिलित हैं और अधिकतर दसवीं-चतुर्वीं शताब्दियों की हैं, किन्तु महाबीर की एक मूर्ति पर नौवीं शती का छोटा-सा अभिलेख है। पाकबीरा से प्राप्त अभिलेखांकित मूर्तियों में एक शांतिनाथ (चित्र ८४ क) की है, जो पुरालिपि-विज्ञान के आधार पर ग्यारहवीं शती की मानी जा सकती है। कायोत्सर्ग-भूद्वा में तीर्थकर-युगल पंखुड़ियोंवाले कमल पर सड़े हैं, जो सप्तरथ पादपीठ पर बना है, जिसके चारों ओर ऊपर नीचे के किनारे शिल्पांकित हैं। लांचन हरिण पादपीठ के मध्य में अंकित है। दे ने इस मूर्ति का विवरण लिखा है; इसके पादपीठ पर उत्कीर्ण लघु आकृतियों में से एक को उन्होंने शिशुओं का अविष्टाता देव मेषमूख नैगमेषी और चार को ग्रंजलि-भूद्वा में आसीन तारी-आकृतियाँ माना है।<sup>1</sup> दे लिखते हैं कि पादपीठ के नीचे बायीं और कलश और दायीं ओर शिवलिंग का अंकन है। एक जैन मूर्ति के पादपीठ पर प्रतीक के रूप में लिंग का अंकन एक विशेष बात है। साथ ही, युगल-पंखुड़ियोंवाले कमल पर कायोत्सर्ग-भूद्वा में ऋषभनाथ की मूर्ति एक उत्कृष्ट कलाकृति है। उदात्त मुखाकृति सहित शरीर का समचक्षुरल संस्थान, कुशलता से खूबा गया जटाजूट और अन्य विशेषताएँ इस मूर्ति की भव्यता में वृद्धि करते हैं। इसी कुशलता से दोनों ओर एक-एक लम्बरधारी अनुचर का अंकन है। जैसा कि प्रायः देखा जाता है, इस मूर्ति के मिछले शिलापट्ट के शीर्षभाग पर भी चौबीस तीर्थकर-मूर्तियाँ, दोनों ओर बारह-बारह की पंक्ति में, उत्कीर्ण की गयी हैं; साथ में उड़ते हुए गंधर्व और हुंदुभि या करताल बजाते हुए हाथ दिखाये गये हैं। अनुचर आकृतियों के आभूषणों और शारीरिक सौष्ठुद्व की संयोजना में कलाकार की उस उत्कृष्ट कोटि की प्रतिभा का परिचय मिलता है जिसके द्वारा वह इन आकृतियों के भाव्यम से मूर्तिशास्त्रीय विधानों और सौंदर्यशास्त्रीय व्यावहारिकता की संगति बिठा सका। कलाकार की सिद्धहस्तता प्राश्वनाथ के मूर्त्यकन में भी देखी जा सकती है (चित्र ८४ ख) जिसका अब केवल नीचे का भाग ही शेष बचा है, और जो नीचीं-दसवीं शताब्दियों की कृति है। चमरधारियों तथा एक-दूसरे के पुच्छ भागों को परस्पर गुणित किये दो, तागिनों मूर्तन की उस परम उत्कृष्टता की घोतक हैं, जो कोई कलाकार तीर्थकर-मूर्तियों के अंकन में गुप्त-कला की गतिमा के प्रतिविम्बन द्वारा प्रस्तुत कर सकता था। पाकबीरा से प्राप्त अन्य उल्लेखनीय पुरावशेषों में दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों की ऋषभनाथ की अनेक मूर्तियों के अतिरिक्त एक खड़ी अंकिका की ओर एक यक्ष की मूर्तियाँ तथा एक शांतिनाथ की मूर्ति के नीचे का खण्डित भाग सम्मिलित है।

पश्चिम बंगाल के अन्य जिलों में भी पूर्व मध्यकाल की जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

### उडीसा

उडीसा में यद्यपि पूर्वकाल के जैन पुरावशेष कम हैं, आरंभिक मध्यकाल के अवशेष बहुत बही संख्या में उपलब्ध हुए हैं। विचाराधीन अवधि में इस धर्म की लोकप्रियता के संदर्भ में है नसांग

1 जैन जनसं. 5, 1; 1970; 24-25 में सुधीन दे।

का विवरण उद्धृत किया जा सकता है : 'नास्तिकों में सर्वाधिक संख्या निर्णयों की है ... निर्णय और उनके अनुयायी निर्बस्त्र अमण किया करते थे, और अपने केशों को क्रूरता से उखाड़ने, शरीर को मलिन रहने देने और नदी के तट पर सड़े सूखे वृक्ष की भाँति अपने पैरों को कठोर हो जाने देने में अपनी महत्ता जताते हुए, वे लोगों का ध्यान आकर्षित किया करते थे ।'<sup>1</sup> लगभग उसी अवधि के शीलोद्भव राजा धर्मराज (छठी/सातवीं शताब्दी) के बानपुर-लालेख में उनकी रानी कल्याण देवी के द्वारा एकशत-प्रबुद्धचंद्र नामक जैन मूर्ति को कुछ भूमि दान में दिये जाने का उल्लेख है ।<sup>2</sup> उड़ीसा में जैन धर्म की दिगंबर परंपरा प्रचलित थी ।

इस युग में उड़ीसा के विभिन्न भाषों में जैन धर्म, कला और संस्कृति के प्रचलन को सिद्ध करनेवाले पुरावशेष विपुल मात्रा में हैं । कालकमानुसार, आठवीं शती में पोड़ासिंगड़ी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण जैन केन्द्र रहा । क्योंकि जिले के बानपुर उपखण्ड में बौला पर्वतश्रेणियों के बनों में स्थित इस स्थान से अनेक जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिन्हें जोशी द्वारा प्रकाश में लाया गया है ।<sup>3</sup> इन मूर्तियों में अद्वितीय हैं, ऋषभनाथ की अभिलेखांकित पद्मासन मूर्तियाँ और अभिलेखरहित खड्गासन मूर्तियाँ, उड़ीसा में ऋषभनाथ की पूजा का विशेष प्रचलन रहा प्रतीत होता है ।

अभिलेखांकित मूर्ति (चित्र द५ क) ध्यान-मुद्रा में कमलपुष्पयुक्त पादपीठ पर आसीन दिखायी गयी है । पादपीठ पर वृषभ-चिह्न अंकित है । वृषभ के सामने दीपक अंकित किया हुआ प्रतीक होता है और श्रद्धावनत दो भक्त करबद्ध घटनों के बल बैठे हैं । ऊपर, दोनों ओर एक-एक मालाधारी गंधर्व उड़ता दिखाया गया है । तीर्थकर के शीर्ष के पीछे प्रभामण्डल है । मूर्ति का समचतुरल संस्थान, ध्यान का संकेत करते अर्धनिमीलित नेत्र, कुंतल केश, ऊर्णीष और लंबे कण्ठ सुप्त-कला की परंपरा के हैं । मूर्ति के दायें हाथ के पास चार पंक्तियों का एक छोटा-सा अभिलेख है, जिससे जात होता है कि ऋषभ-भट्टारक की इस मूर्ति का दान इडक ( ? ) ने किया था । जोशी का विचार है कि पादपीठ पर वृषभ के सामने अंकित भक्त-युगल भरत और बाहुबली हो सकते हैं । उड़ीसा में अवतक प्राप्त मूर्तियों में यही प्राचीनतम अभिलेखांकित मूर्ति है ।

कायोत्सर्ग-मुद्रा में ऋषभनाथ की एक अन्य मूर्ति दो सिंहों पर आधारित कमलपुष्पयुक्त पादपीठ पर स्थित है । पादपीठ के ठीक नीचे जांचन वृषभ अंकित है । ऋषभनाथ के दोनों ओर, उतनी ही दक्षता से उत्कीर्ण एक-एक चमरधारी और हाथ में माला लिये हुए एक-एक उड़ता हुआ गंधर्व

1 बील (एस). साइफ अॉफ हेनरीम. 1888. लंदन. पृ 162. / बील, पूर्वोक्त, खण्ड 2, 1884, पृ 208.

2 बाहु छोटेलाल जैन संग्रह प्रभ. पृ 170 पर के एस लेहरा.

3 जोशी (अर्जुन). ए युनीक वृषभ इमेज कॉम पोड़ासिंगड़ी. उड़ीसा हिस्टोरिकल सिस्टम जनेल. 10, 3; 1961, 74 तथा परवर्ती. / जोशी (अर्जुन). कदं लाइट अॉन द रिमेन्स ऑफ पोड़ासिंगड़ी. वही. 10, 4; 1962, 30 तथा परवर्ती.

अंकित हैं। मस्तक के ऊपर छवि है और संगीत-बाज बजाते हुए दिखाये गये हैं। मस्तक के पीछे योलाकार प्रभासण्डल है।

इस मूर्ति में भी युष्ट-कला के परंपरागत लक्षण हैं; यथा, अर्धनिमीलित नेत्र, लंबे कर्ण और कंधों पर उहराती गुद जटाओंवाला जटाजूट। शरीर समचतुरस और सौम्य है। शैलीगत आधार पर यह मूर्ति भी उसी अवधि अर्थात् आठवीं शती की हो सकती है जिसकी ऋषभनाथ की उपर्युक्त पद्मासन-मूर्ति है।

- पोड़ासिंगडी में अब भी बहुत-सी जैन मूर्तियाँ पड़ी हैं, जिनमें पार्वतनाथ, अंबिका आदि की मूर्तियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त, इसी स्थान से श्रीनिवासन भी पार्वतनाथ, महावीर, अंबिका आदि की कुछ मूर्तियाँ साथे थे, जिन्हें उन्होंने आनंदपुर के पंचभवन के सामने सीमेंट की चौकियों पर स्थापित करवा दिया है।

बालासोर जिले के भद्रक रेलवे स्टेशन के उत्तर में कुछ मील दूरी पर स्थित चरणा नौबी-दसवीं शताब्दियों में जैन कला और संस्कृति का एक और महत्वपूर्ण केन्द्र रहा, जहाँ की अनेक आकृषक जैन मूर्तियों की सूचना मिलती है। उनमें से चार, जो अब राज्य संग्रहालय भुवनेश्वर में संगृहीत हैं, की अपनी ही शैली है।

दास ने इनके विषय में लिखा है।<sup>1</sup> उनमें से एक कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थित ऋषभनाथ की है, जिसके सुंदर जटाभार की कुछ लट्ठे कंधों पर भूल रही हैं। अन्य अनेक मूर्तियों की भाँति उनके एक और भरत और दूसरी और बाहुबली का अंकन हुआ है। साथ ही इस मूर्ति में भी मस्तक के पीछे ऊपर उड़ते हुए गंधर्व दिखाये गये हैं। मूर्ति के पिछले शिलापट पर अष्टग्रह उत्कीर्ण किये गये हैं। पादपीठ के नीचे बृषभ-चिह्न अंकित है।

शेष तीन मूर्तियों में अजितनाथ, शांतिनाथ (चित्र ८५ क) और महावीर की मूर्तियाँ हैं। इन सब की विशेषता यह है कि इनपर गहरे कटाव के चिह्न हैं। यह चिह्न अकारण लगे हुए नहीं हो सकते पर इनके होने का अभिप्राय बता पाना कठिन है। यह बहुत संभव प्रतीत होता है कि इन चिह्नों के द्वारा कलाकार ने यह दर्शनी का प्रयत्न किया हो कि तीर्थकर को ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने के लिए कैसी कठोर साधना करनी पड़ती है।

दूसरी मूर्ति पद्मासन ध्यान-मुद्रा में स्थित अजितनाथ की है। उनके दोनों ओर नीचे एक-एक चमरधारी और ऊपर एक-एक मालाधारी गंधर्व उड़ते हुए दिखाये गये हैं। मस्तक के ऊपर छप्रशय

<sup>1</sup> दास (महेश भी), जैन एण्टिक्विटीज फॉन्म चरणा, उडीसा हिस्टॉरिकल रिसर्च जन्सन, (1), 1; 1962; 50 तथा परवर्ती।

गौण कल्पद्रुत है। वरन्ता एवं केश लटाङ्गुड़ के रूप में प्रस्तुत हैं। पादपीठ के नीचे यजचिह्न अंकित हैं। दास ने इस मूर्ति में एक उल्लेखनीय विशेषता यह बतायी है कि इसमें अजितनाथ को व्यानासन में दिखाया गया है, जबकि जैन परंपरा के अनुसार उन्हें और संभवनाथ तथा अभिनन्दननाथ को खड़गासन में दिखाया जाना चाहिए।

शांतिनाथ की मूर्ति भी व्यानासन में है। चमरधारी और गंधर्व उसी प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं, जिस प्रकार अजितनाथ की मूर्ति में। इन दोनों तीर्थकर-मूर्तियों की केश-सज्जा भी एक जैसी है। शांतिनाथ के पादपीठ के नीचे उनका लांछन हरिण उत्कीर्ण है।

चरण से प्राप्त अंतिम मूर्ति कायोत्सर्ग-मुद्रा में महावीर की है। इस मूर्ति का मुख टूट-फूट गया है। लांछन सिंह पादपीठ के दोनों कोनों पर उत्कीर्ण हैं। सिंहों के मस्तक पर उत्कीर्ण कमलों पर एक-एक चमरधारी तीर्थकर के दोनों ओर खड़े हैं।

उड़ीसा राज्य संग्रहालय के सुरक्षित संग्रह में इस राज्य के विभिन्न भागों से प्राप्त लगभग दसवीं शती की कुछ महत्वपूर्ण जैन प्रस्तर-मूर्तियाँ हैं। उनमें बालासोर जिले के जालेश्वर से प्राप्त एक शांतिनाथ की मूर्ति, एक चौमुख और एक सुपार्वनाथ की मूर्ति, लिगिरिया से प्राप्त महावीर-मूर्ति का एक खण्ड, किसी अशात स्थान से प्राप्त पार्वनाथ-मूर्ति और कोरापट से प्राप्त अविकामूर्ति सम्मिलित है। सुपार्वनाथ की मूर्ति में पंच-फणावलि और पार्वनाथ की मूर्ति में सप्त-फणावलि परिचय-प्रतीकों के रूप में अंकित किये गये हैं।

इस संग्रहालय में बानपुर से प्राप्त कास्य मूर्तियों का एक अत्यंत महत्वपूर्ण समूह भी संगृहीत है। उनमें मुख्य हैं (१) आम्रवृक्ष के नीचे बैठी, गोद में बालक को लिये अविका, (२) वृक्ष की शाखा को पकड़कर खड़ी अशोका या मानवी जिसके आसन पर रीछ अंकित है, (३) सप्त-फणावलियुक्त पार्वनाथ, (४) सर्प-लांछन से अंकित पादपीठ पर खड़े पार्वनाथ और (५) कमल-पुष्पयुक्त पादपीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े आदिनाथ की सुंदर मूर्ति। इस समूह में आदिनाथ की मूर्ति उत्कृष्ट कला-कौशल का एक उदाहरण है जिसका सुंदर बटाभार, शांत मुखमुद्रा और शरीर का सौम्य गठन उल्लेखनीय है। उसपर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार वह किसी श्रीकर का उपहार है।

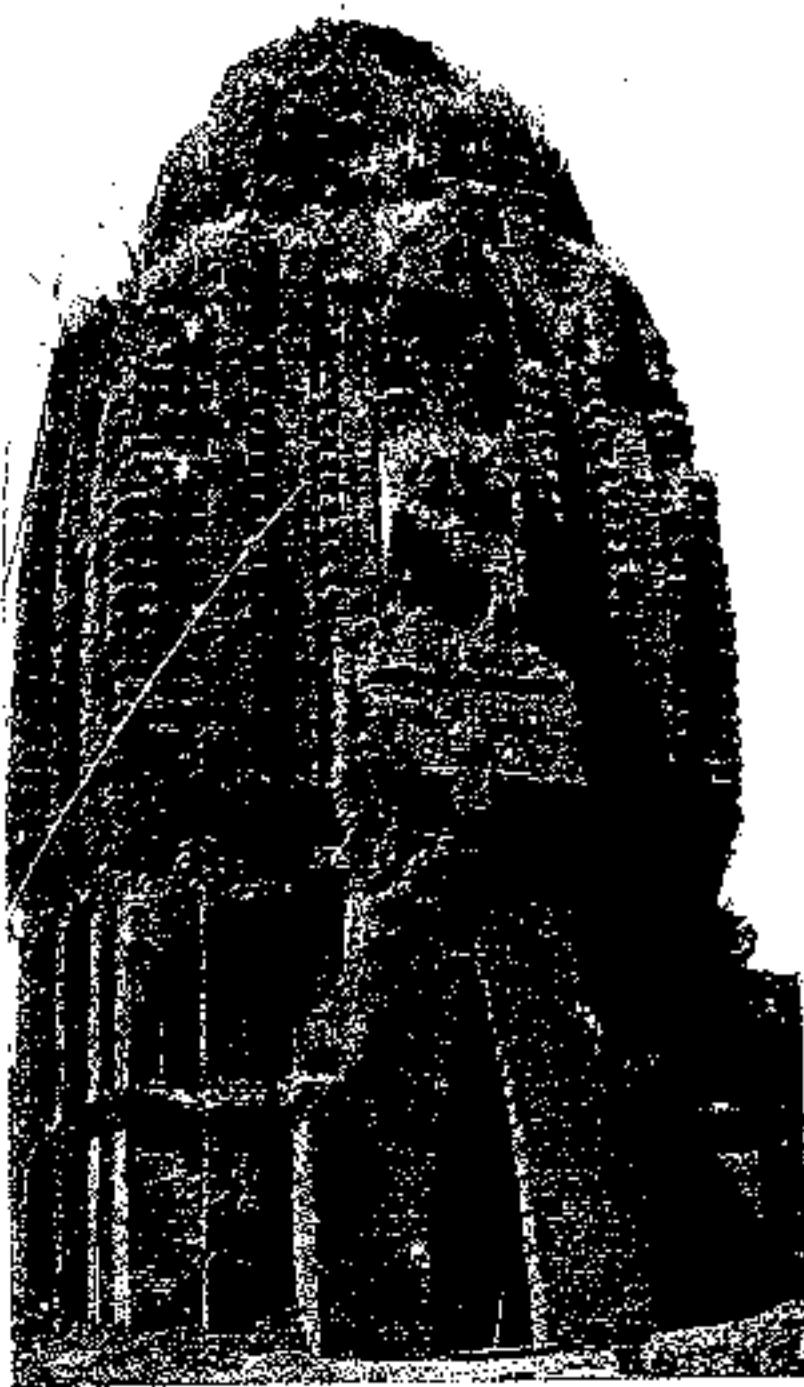
बानपुर-समूह की मूर्तियों में जो दक्षतापूर्ण कला-कौशल है उसकी तुलना नालंदा और कुकिंहार की मूर्तियों से की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसपर अबतक किसी ने यथोचित प्रकाश नहीं डाला है। दुर्भाग्य से उनके अच्छे चित्र यहाँ प्रदर्शन के लिए प्राप्त नहीं किये जा सके।

मध्यकाल में खण्डगिरि उड़ीसा में जैन कला का कदाचित् सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ, मुनियों के आवास के लिए बहुत पहले काटी गयी कुछ गुफाओं को (अध्याय ७) अलग से लाकर

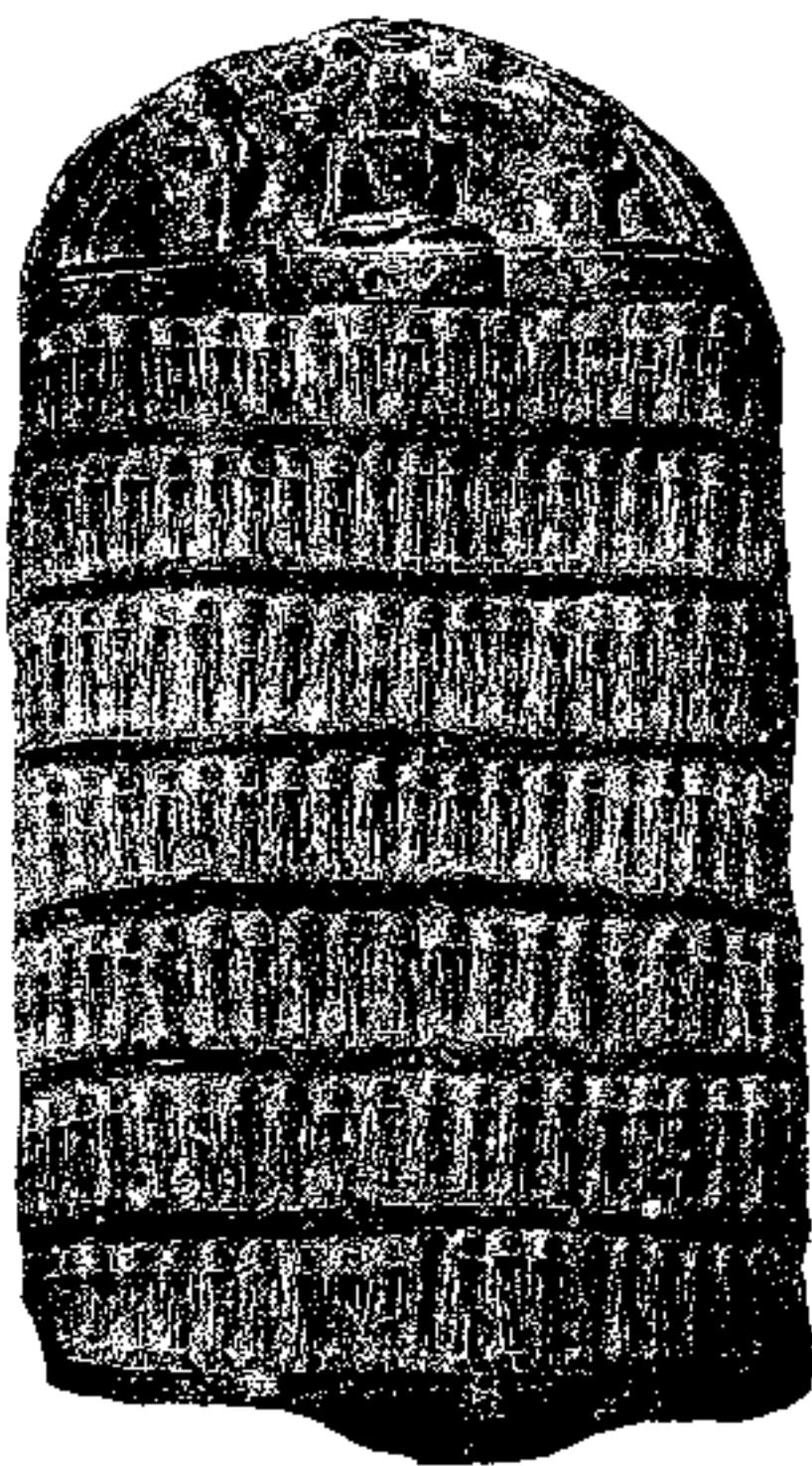
(क) सुरीहोर — तीर्थकर शृणभनाथ



(ख) नालगोड़ — अमिबका वस्ती, कांत्य पूति



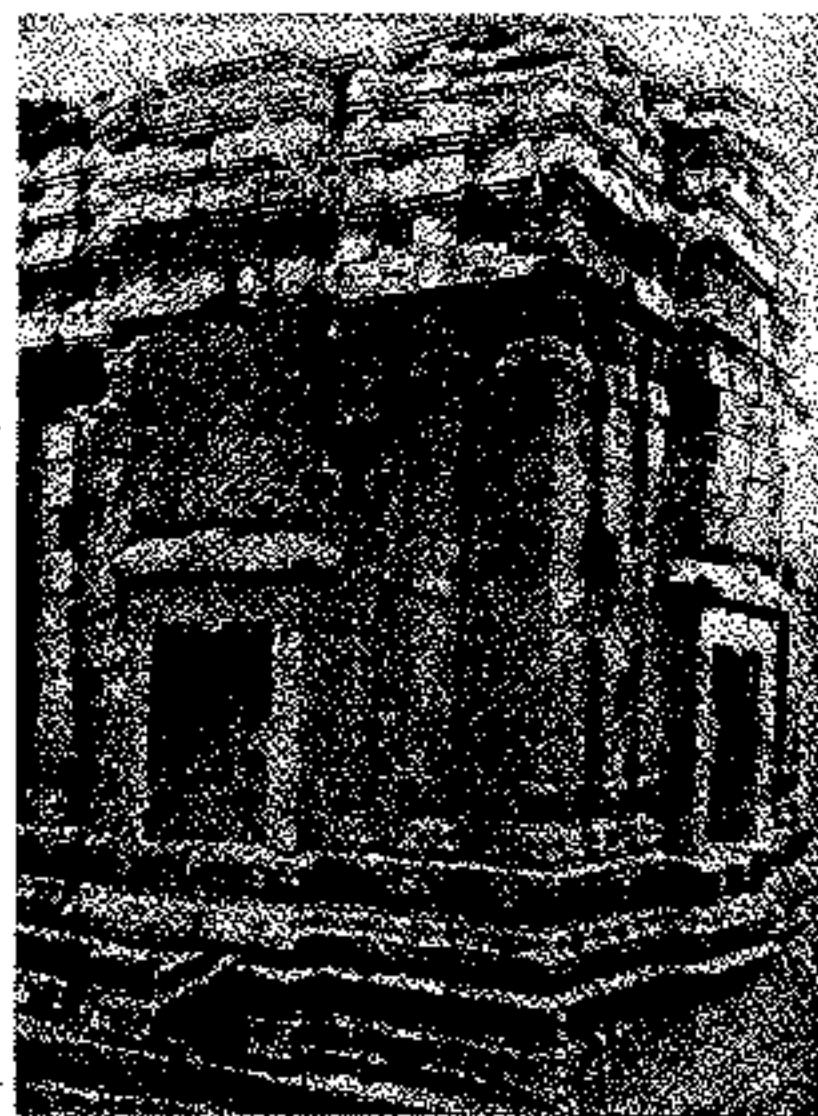
(क) सात देवलिया — अष्टापद-सीर्थ



(ख) सात देवलिया — संविर



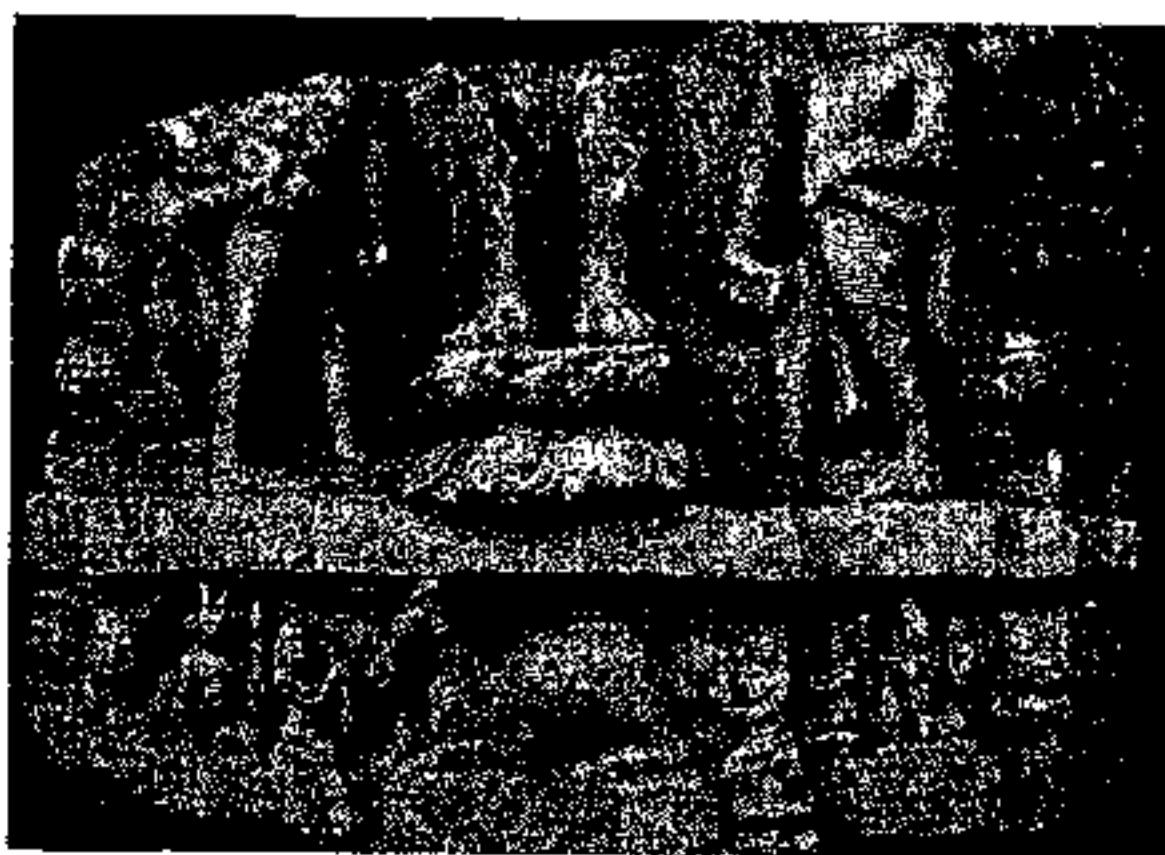
(क) अमिकानगर — तीर्थेकर कृष्णसनाथ



(ख) अमिकानगर — मन्दिर

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 ई०

[ भाग 4



(क) पाकधीरा — तीर्थकर ज्ञानिनाय, अधो भाग



(ख) पाकधीरा — तीर्थकर पाशबंदाय, अधो भाग



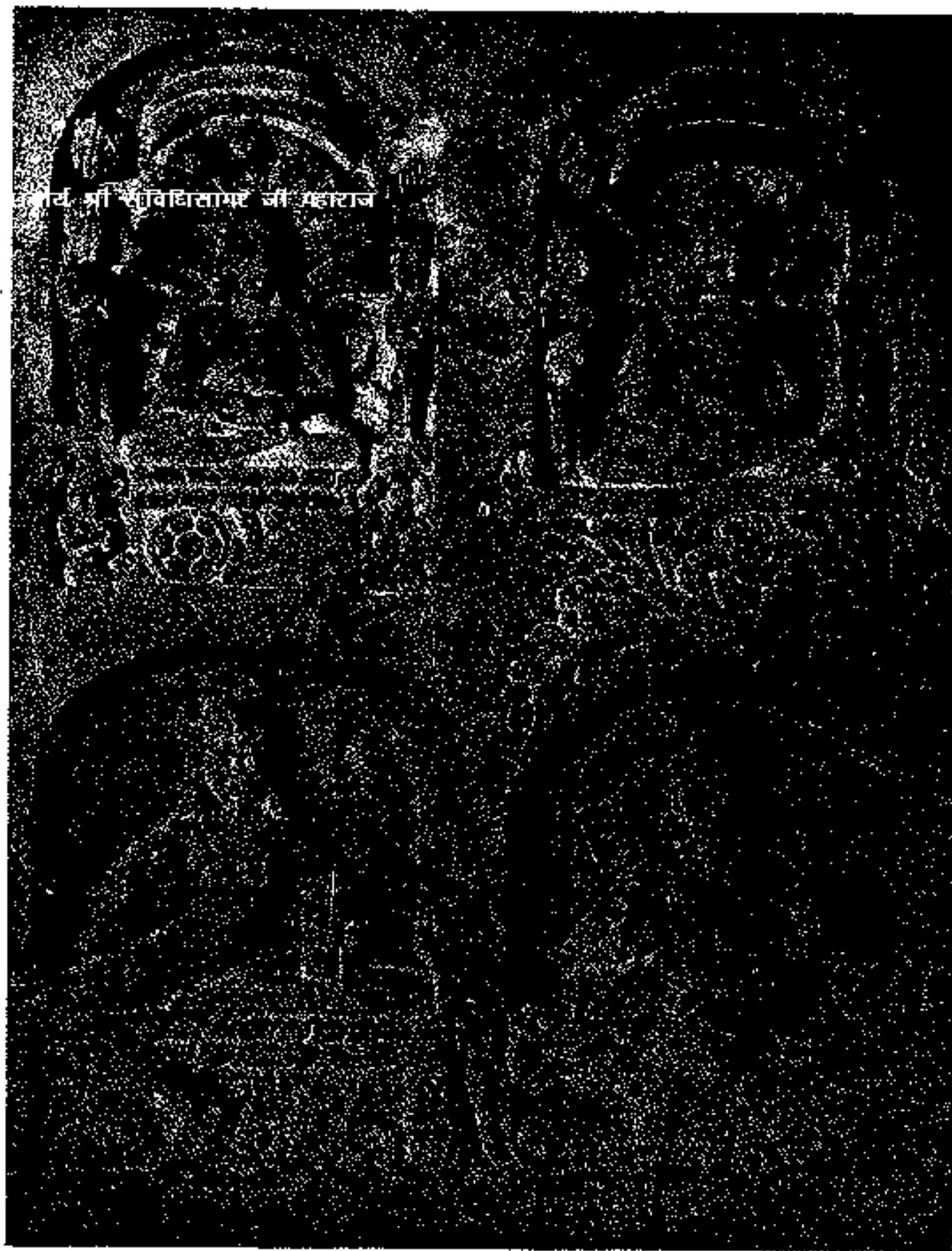
(क) पोड़ासिंहादी — तीर्थकर अग्रभासाध



(ख) चरमा — तीर्थकर शान्तिनाथ  
(भुवनेश्वर संग्रहालय)

वास्तु-स्मारक एवं मूल्कम् 600 से 1000 ई०

[ भाग ४

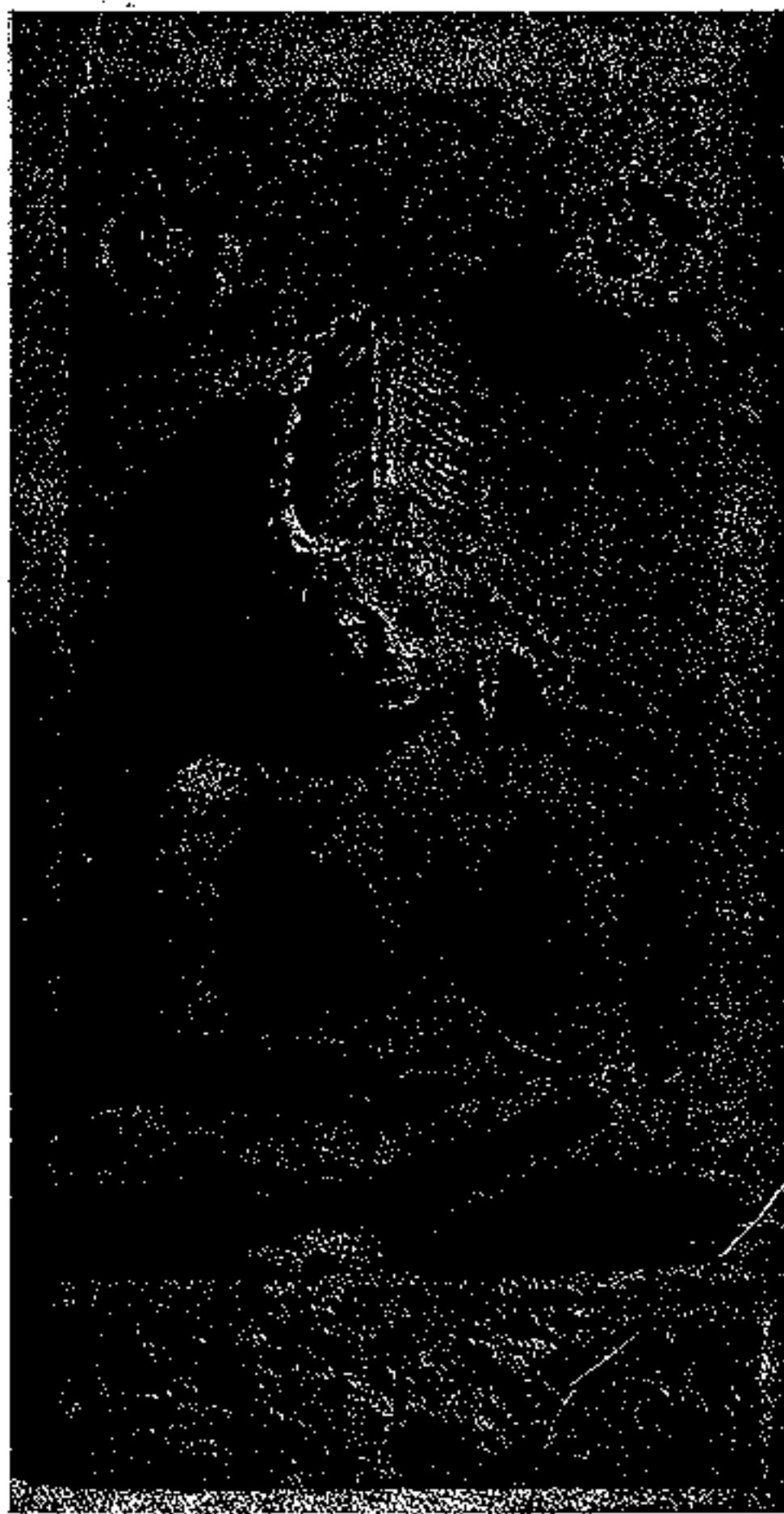


बण्डगिरि — गुला सं० ४, तीर्थकर पार्श्वनाथ और नेमिनाथ, अषोधाय में अंकित वस्त्रियों



मण्डरक — आचार्य श्री सुविद्धिसागर जी महाराज

खण्डगिरि — गुफा सं० ४, तीर्थकर अभिनन्दननाथ और सम्भवनाथ, अष्टोभाग में संकित यजिया



मधुरसेज — तीर्यकर वृषभमाथ (राष्ट्रीय संग्रहालय)



(क) देवली — दंबायतन मंदिर



(ख) राजगिरि — दैभार पवित्र स्थित मंदिर



(क) राजगिर — बहुरुदिष्टी वक्षी के साथ तीर्थकर मुनिसुज्रत

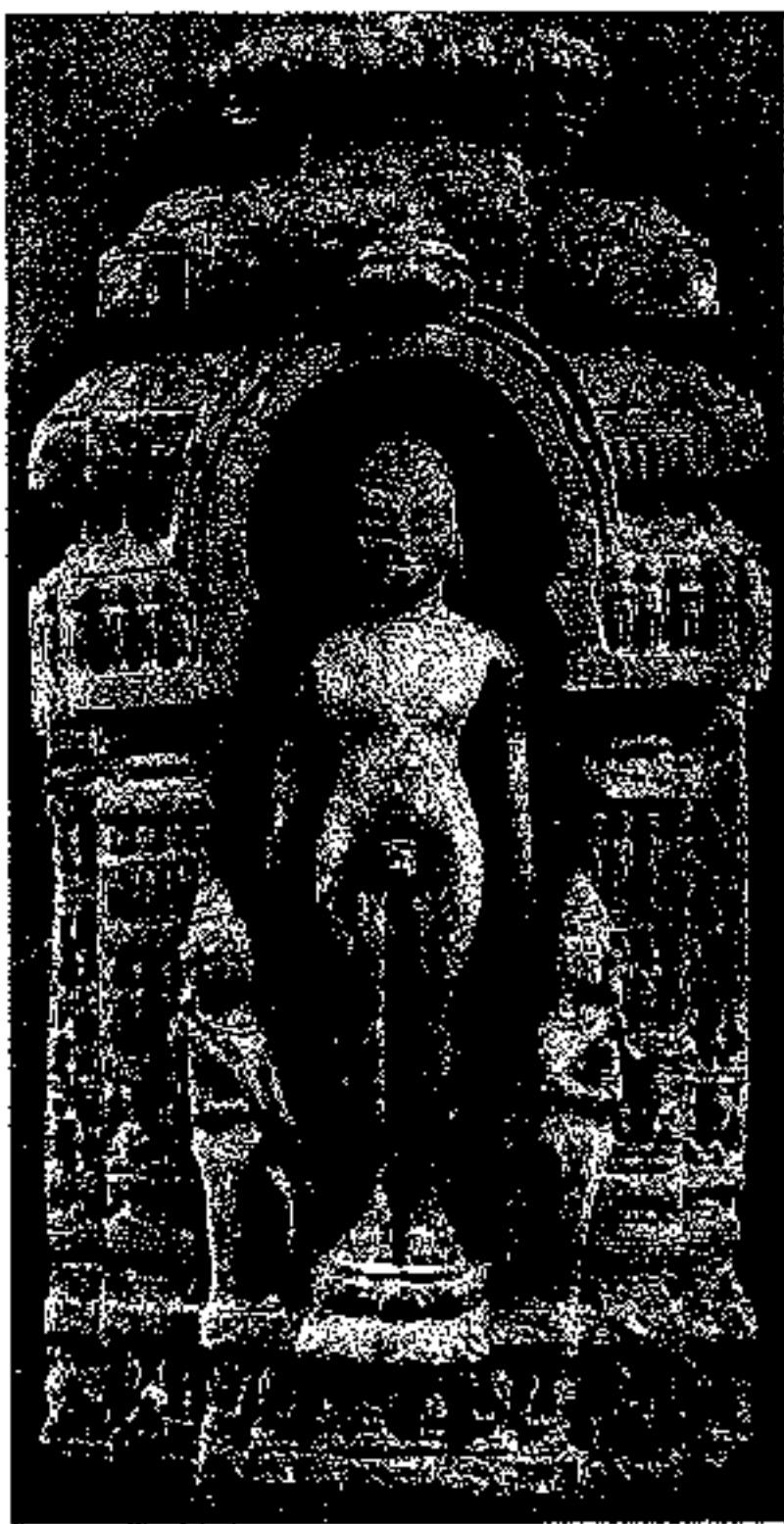


(ख) राजगिर — बैधार पर्वत पर तीर्थकर छडभनाथ

(क) बिहार — अम्बिका मूर्ति (नाहर संग्रह)



(ख) बिहार — वसो, कास्य मूर्ति (राष्ट्रीय संग्रहालय)



(क) विहार --- तीर्थकर चतुष्प्रस (भारतीय संग्रहालय)



(इ) सूरज पवाणि - शिलोर्हणीय तीर्थकर

रखी गयी या वहाँ की शैलभित्तियों पर उत्कीर्ण की गयी मूर्तियों की स्थापना हारा गुफा-मंदिर का रूप दिया गया। ऐसी एक गुफा (गुफा सं० ७, नवमुनि)<sup>१</sup> के बरामदे के सरदल पर भीतर की ओर सोमवंशी शासक उद्योतकेसरी (म्यारहवीं शताब्दी) का एक अभिलेख है; उसमें देशि-गण के कुलचन्द्र के शिष्य मुनि खल्ल शुभचन्द्र का उल्लेख है। मूर्तियों की समृद्ध संपदा के कारण इस गुफा का महत्व और भी बढ़ गया है। यीहों की भित्ति पर एक दी पंक्ति में एथल उभार में उत्कीर्ण सात तीर्थकर-मूर्तियाँ और नीचे एक पंक्ति में उत्कीर्ण उन सातों की शासनदेवियाँ कलागत और प्रतिभा-शासनीय विशेषताओं के कारण ध्यान देने योग्य हैं। यहाँ उत्कीर्ण तीर्थकर और उनकी शासनदेवियाँ अग्रलिखित हैं: ऋषभदेव और चक्रेश्वरी; अजितनाथ और रोहिणी; संभवनाथ और प्रज्ञप्ति; अभिनदन और वज्रश्रस्ता; वासुपूज्य और गांधारी; पार्वतनाथ और पद्मावती तथा नेमिनाथ और आम्रा। यह उल्लेखनीय है कि शासनदेवियों की पंक्ति के आरंभ में गणेश की एक मूर्ति है।

इसके अतिरिक्त दायीं भित्ति पर ऋषभनाथ और पार्वतनाथ की दिगंबर मूर्तियाँ हैं। वे पूर्ण उभार के शिल्पांकनों में हैं और उनके साथ शासनदेवियाँ नहीं हैं।

इन तीर्थकर-मूर्तियों में सभी परंपरागत लक्षण हैं; यथा, छत्रशय, दोनों ओर करताल बजाते हस्त-युगल और चमरधारी अनुचर। किन्तु उनमें से किसी के भी पीछे प्रभामण्डल और वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न नहीं है। केशविन्ध्यास भिन्न-भिन्न प्रकार का है। सुंदर आभूषणों से अलंकृत शासन-देवियाँ धोती और पारदर्शी दुष्पद्टे धारण किये हुए हैं जो उनके शरीर के कपरी भाग और बायें कंधों को ढंकते हैं।

कुशलता से उत्कीर्ण की गयी ये मूर्तियाँ दसवीं / म्यारहवीं शताब्दी की हो सकती हैं।

इसके पास की गुफा सं० ८ (बारभुजी) वास्तव में मूर्तियों का एक विविधतापूर्ण कोषागार है, जो पूर्वोक्त गुफा से कुछ परवर्ती अवधि की हो सकती है। इस गुफा का नाम बारभुजी इसलिए पड़ा कि उसके बरामदे की पार्वती-भित्तियों पर हो बारह भुजाओंवाली शासनदेवियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं, इनमें से एक ऋषभनाथ की चक्रेश्वरी और दूसरी अजितनाथ की रोहिणी है। गर्भगृह की भित्तियों पर तीर्थकरों की पञ्चीस मूर्तियाँ और एक समूह में उनकी शासनदेवियाँ उत्कीर्ण हैं (चित्र ८६ और ८७), इनमें से पीछे की भित्ति पर पार्वतनाथ की एक अतिरिक्त मूर्ति उत्कीर्ण है, पर उसके साथ शासनदेवी नहीं है। इस समूह में कुछ तीर्थकरों के लांचन शोस्त्रोक्त लांछनों से भिन्न हैं और किसी भी मूर्ति के वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न नहीं है। प्रचुरता से अलंकृत शासनदेवियाँ संबद्ध तीर्थकरों के नीचे

१। गिहा (देल्ली), उदयगिरि एण्ड स्लॉटमिरि, 1960, नयी दिल्ली, पृ. 53 तथा परवर्ती, / बेहरा, पूर्ववित, पृ. 170.

उत्कीर्ण हैं, उनमें से कुछ अपने पशु-वाहनों पर आरूप दिखाई गयी हैं। मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से यह द्रष्टव्य है कि बीसवें तीर्थकर मुनिमुख्य की शासनदेवी बहुरूपिणी शश्यासीन है।<sup>1</sup>

खण्डगिरि की अधिकांश गुफाओं में गुफा सं० ८ से ईशारे की गुफाएँ सं० ६ (त्रिशूल, सातबखा या महाबीर जैसे विविध नामों से प्रसिद्ध), १०, ११ (ललाटेन्दु केसरी, जिसमें उद्योतकेसरी का अभिलेख है) और १२ से १५ बड़ी मात्रा में उत्खनन के कारण अत्यधिक क्षतिग्रस्त हुई हैं। परिणाम-स्वरूप उनकी मूल रूपरेखा ही नष्ट हो गयी है और उनमें से कुछ की मूर्तियों को अब बहुत निचले स्तर से खड़े होकर ही देखा जा सकता है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों की ये तीर्थकर-मूर्तियाँ और उनके कुछ समय उपरांत की शासनदेवियों की मूर्तियाँ मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। गुफा सं० ६ में कृष्णभनाथ की हरित पाषाण से निर्मित तीन खड़गासन मूर्तियाँ रखी हैं, जो निश्चित रूप से किसी अन्य स्थान से लाकर पादपीठों पर रखी गयी हैं। वे उस समय की हैं, जब उड़ीसा में मूर्ति-निर्माण के लिए हरित पाषाण का उपयोग बहुत अच्छा माना जाता था।

इसके पश्चात्, मधूरभंज क्षेत्र और कुछ अन्य स्थानों से प्राप्त जैन मूर्तियों की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है, जिनमें से कुछ व्यक्तिगत संग्रहों में भी हैं।

कुछ समय पूर्व राष्ट्रीय संग्रहालय ने मधूरभंज की एक नौवीं-दसवीं शताब्दियों की सुंदर तीर्थकर-मूर्ति (चित्र द८) प्राप्त की है। आर० पी० महापात्र ने १२ जनवरी १९७० के उड़िया दैनिक 'भातूभूमि' में कटक जिले के जैपुर उपखण्ड के हटाडीहा से प्राप्त कृष्णभनाथ की एक मूर्ति का विवरण प्रकाशित किया है। जैसा कि लेखक का सुझाव है, यह मूर्ति दसवीं शती की है। इस मूर्ति में कृष्णभनाथ की सामान्य विशेषताएँ हैं। पृष्ठभाग पर बारह-बारह की दो पंक्तियों में चौबीस तीर्थकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

चौधरी बाजार, कटक के दिगंबर जैन मंदिर में लगभग पच्चीस जैन मूर्तियाँ हैं, जिनमें से अधिकतर पाषाण की हैं। उनमें से छह को शाहु ने प्रकाशित कराया है।<sup>2</sup> कुछ शिलाफलकों के अतिरिक्त ये मूर्तियाँ मुख्यतः कृष्णभनाथ; चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, सुपार्वनाथ, पार्वनाथ आदि तीर्थकरों की हैं। उनमें से कुछ दसवीं-स्थारहवीं शताब्दियों की हैं, पर कुछ उसके बाद की अथात् बारहवीं शती या उससे भी परवर्ती काल की हैं।

1 इल गुफा लथा अन्य गुफाओं के लिए द्रष्टव्य : मित्रा, पूर्वोत्तर, 1960, पृ 54 तथा परवर्ती। / शश्यासीन बहुरूपिणी के लिए द्रष्टव्य है मित्रा के उक्त लेख के पृ 165 पर पादटिप्पणी सं० 3।

2 शाहु (एल एन), जैनिक इन उड़ीसा, जब यह लेखक 13 अक्टूबर 1972 को इस मंदिर में गया तो उसे दिगंबर मुनि नेमिचन्द्रजी से मिलने का सौभाग्य मिला, जो वहाँ अपना चालुमरिय व्यक्तीत कर रहे थे, लेखक के कार्य में मुनिजी ने महरी अभिष्ठि ली और मूर्तियों के अध्ययन में पूरा सहयोग दिया।

कुछ वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ की एक, और कृष्णभनाथ की दो मूर्तियाँ महानदी की सहायक कटझुरी नदी में मिली थीं। उनमें से एक लापता है और दो कटक से १० किलोमीटर दूर स्थित प्रतापनगर के एक बाबाजी के संरक्षण में हैं।<sup>1</sup>

मूर्तिकला के माध्यम से ज्ञातव्य आचेतिहास काल से उत्तर-मध्यकाल तक उड़ीसा का इतिहास महत्वपूर्ण है। इस अध्याय में वर्णित पूर्व-मध्यकाल की चर्चा करते हुए कहा जा सकता है कि आठवीं-नौवीं शताब्दियों तक जैन और जैनेतर भूमों की मूर्तियों पर गुप्त-शैली का प्रभाव बना रहा। परबर्ती शताब्दियों में स्थानीय शैलियों का प्रभाव रहा, जिससे कि तेरहवीं शती के पश्चात् शैली के स्तर में हास औरंभ हो गया।

### विहार

सालवीं शती में ह्वेनसांग ने अपने विहार-भ्रमण के समय राजगिर में जैन और बौद्ध दोनों धर्मों की समृद्धि देखी थी। उसने यह भी देखा कि राजगिर स्थित बहुत-से दिगंबर तपस्वी अपनी 'मुनिचर्या' का पालन सूर्योदय से सूर्यास्त तक किया करते थे।<sup>2</sup>

राजगिर में जैनों का सर्वाधिक पवित्र स्थान वैभार पहाड़ी है, जिसकी अधित्यका पर एक प्राचीन जैन मंदिर के अवशेष बिखमान हैं (चित्र ८८ ख)। अवशिष्ट मंदिर में एक मध्यबर्ती कक्ष है, जिसके चारों ओर कोठरियों सहित बरामदा है। मध्यबर्ती कक्ष और कोठरियों में मूर्तियों के लिए देवकुलिकाएँ बनी हुई थीं।<sup>3</sup>

चंद्रगुप्त-हितीय के समय की नेमिनाथ की मूर्ति (पृ १२८) के अतिरिक्त, कृष्णभनाथ की पद्मासन मूर्ति (चित्र ६० ख) विरोष रूप से उल्लेखनीय है। इस तीर्थकर-मूर्ति में जटा-मुकुट दिखाया गया है। मूर्ति के पादपीठ पर दो वृषभ और एक धर्म-चक्र अंकित हैं। यह मूर्ति अत्यंत महत्व की है, क्योंकि उसके पादपीठ पर उत्कीर्ण एक अभिलेख की पुरालिपि से उसके निर्माणकाल के निर्धारण में सहायता मिलती है। आठवीं शती की कील-शीर्ष लिपि में उत्कीर्ण इस अभिलेख का पाठ इस प्रकार है: आचार्य-कसन्तनन्दिरु (नो) देवमो—यः (दया-धर्मो—यम), जिसका अर्थ है कि यह मूर्ति मुनि

1 इस लेखक को यह सूचना उसके कटक-श्रवास के समय प्राप्त हुई।

2 बील, पूर्वोक्त, 1884, पृ 149.

3 कुरैशी (एम एच) तथा थोथ (श्रमलानन्द), राजगिर, 1958, नवी दिल्ली, पृ 16-17. [मंदिरका निर्माणकाल अनिश्चित है। इटों से बते इस मंदिर का उपयोग आरभिक गुप्त-काल से (पृ 129) से आठवीं शती तक के विभिन्न युगों की मूर्तियों के संग्रह के लिए किया जाता था—संशोधक]

वसन्तनन्दी का पुण्य उपहार है।<sup>1</sup> चंदा ने लिखा है : 'यह मूर्ति जिसे आठवीं शती की मूर्ति माना जा सकता है, पूर्वी भारत में गुप्त-कला से उत्तर-मध्यकालीन या पाल-कला में संकरण को व्यक्त करती है। संकरण का एक बहुत ही स्पष्ट लक्षण है पादपीठ, जिसपर ऊपर की ओर विकासमान कमल-पंखुड़ियों की एक पंक्ति का अंकन है। गुप्त-काल की आसीन मूर्तियों में कमल का कोई स्थान नहीं था, जबकि उत्तर-मध्यकालीन मूर्तियों पर युगल पंक्तियोवाली कमल की पंखुड़ियों से अलंकरण होने लगा। ऊपरी पंक्ति की पंखुड़ियाँ ऊपर की ओर और निचली पंक्ति की तीव्रे की ओर मुड़ी होती हैं। इस मूर्ति की कुछ विशेषताएँ, जैसे तलुए और हथेलियाँ स्वाभाविकता की ओर एक नये भूकाव का सकेत करती हैं। शरीर-रचना की दृष्टि से अधिक युक्तिसंगत होते हुए भी उत्तर-मध्यकालीन मूर्तियों में गुप्तकालीन मूर्तियों के भाव-विस्तार और भाव-गांभीर्य की कमी है। ऋषभनाथ की इस मूर्ति के अंग स्थूल हैं। अंकन की यह स्थूलता कोहनियों के नुकीले कोणों से और भी बढ़ी हुई दिखती है।'<sup>2</sup>

मंदिर के मध्यवर्ती कक्ष के चारों ओर बनी कोठरियों में जो मूर्तियाँ हैं, उनमें पार्श्वनाथ, महावीर, अश्व-चिह्नाकित पादपीठ पर ध्यानस्थ संभवनाथ और बृक्ष की शाखा के नीचे बालक-सहित एक जैन-दम्पति आदि की मूर्तियाँ हैं।

उद्यगिरि पहाड़ी पर निर्मित एक आधुनिक जैन मंदिर में चंदा ने पार्श्वनाथ की एक पद्मासन मूर्ति देखी थी। पादपीठ के निचले भाग पर उत्कीर्ण अक्षरों के अवक्षेपों के आधार पर यह मूर्ति नौवीं शती की मानी जा सकती है। चंदा का कथन है कि 'इस मूर्ति में कुछ अद्वितीय विशेषताएँ हैं। यद्यपि कुशलता से गढ़ी गयी मुखाङ्कति से यह एक ध्यानस्थ योगी की मूर्ति प्रतीत होती है, किन्तु सुगठित और पुष्ट शरीर की दृष्टि से वह योगी की अपेक्षा महल की मूर्ति अधिक जान पड़ती है। पादपीठ पर पद्मासनस्थ पार्श्वनाथ के शरीर से लिपटे हुए सप्तफण नाम की शरीर-रचना उच्चकोटि के आलंकारिक प्रभाव की सूष्टि करती है। जिस मूर्तिकार ने यह मूर्ति गढ़ी वह एक साहसी परिवर्तनकर्ता रहा होगा।'<sup>3</sup>

राजगिर से ही प्राप्त लगभग उसी समय की एक और आकर्षक मूर्ति मुनिसुव्रत की है जिसमें उनकी शासनदेवी बहुरूपिणी पादपीठ के नीचे एक शब्दा पर लेटी हुई दिखायी गयी है (चित्र ६० क)। यह मूर्ति वैभार मंदिर में स्थापित है। ऐसी ही कुछ और भी मूर्तियों का परिचय हमें प्राप्त है।<sup>4</sup> उनमें से एक कलकत्ता के श्री विजयसिंह नाहर के संग्रह में है,<sup>5</sup> और दूसरी उद्यगिरि की गुफा

1 आर्क्यौलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1925-26, 1928, कलकत्ता, पृ 126 पर रामप्रसाद चंदा का गत. / कुरैशी तथा घोष, पूर्वोक्त, पृ 18.

2 चंदा, पूर्वोक्त, पृ 126.

3 वही, पृ 127.

4 जनेल ऑफ एजियाटिक सोसायटी, 1, 1959 ; 38-39 में देवला मित्रा.

5 इस मूर्ति का प्राप्तिस्थान ग्रामात है, किन्तु गौली की दृष्टि से महाकिंवार कला-शैली की है। मैं अत्यन्त आशारी हूँ श्री

सं० ५ में है जिसका उल्लेख पहले (पृ १६६) किया जा चुका है। यह समझना कठिन है कि बहुरूपिणी को लेटी हुई स्थिति में क्यों दिखाया गया है (जो हमें माया की उस समय की स्थिति का स्परण दिलाती है जब उसने स्वप्न में द्वोधिसत्त्व को एक श्वेत गज के रूप में अपने गर्भ में प्रवेश करते देखा था) जबकि अन्य शासनदेवियाँ आसीन-मुद्रा में दिखाई गयी हैं।<sup>1</sup>

कलकत्ता के नाहर-संग्रह में ही बिहार से प्राप्त कुछ मूर्तियाँ और भी हैं। इनमें से एक के ऊपरी भाग में पद्मासन ध्यान-मुद्रा में तीर्थंकर-मूर्ति है और निचले भाग में एक बृक्ष की शालाओं के नीचे एक युगल आसीन है। नारी-मूर्ति की ओर में एक बालक बैठा दिखाया गया है। एक अन्य है—तीर्थंकर मूर्ति का ऊपरी खण्ड, जिसे लगभग नींवीं शती का माना जा सकता है। इस संग्रह की एक असीन अंगिका भी बिहार से प्राप्त हुई प्रतीत होती है और शैली की दृष्टि से नींवीं / दसवीं शताब्दी की प्रतीत होती है (चित्र ६१ क)। लगभग इसी युग की अंगिका की एक सुंदर कांस्य मूर्ति राष्ट्रीय संग्रहालय में कुछ समय पूर्व उपलब्ध की गयी है। इसका कला-कौशल नालंदा का है (चित्र-६१ ख)।

मार्च १९७४ में घनबाद ज़िले के अलुआरा में उत्तीस कांस्य मूर्तियाँ खोजी गयीं जिनमें से सत्ताईस तीर्थंकरों की हैं, वे अब पटना संग्रहालय में संगृहीत हैं। इस समूह की अधिकांश तीर्थंकर-मूर्तियों के ललाट पर ऊर्ध्वा का अंकन है। तीर्थंकरों की खड़गासन मूर्तियों में हथेलियाँ और अंगुलियाँ शरीर का स्पर्श करती हैं। इन मूर्तियों के पादपीठों पर विभिन्न प्रकार की पट्टिकाओं के मिले-जुले अलंकरण हैं। सभी पर लांचन अंकित हैं जिनके कारण ऋषभदेव, चन्द्रप्रभ, अजितनाथ, शान्तिनाथ, कुन्तुनाथ, पाश्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर और अंगिका की पहचान की जा सकती हैं। उनमें से कुछ की शैली के आधार पर आरंभिक ग्यारहवीं शती की माना जा सकता है।

इस संदर्भ में मानभूम से प्राप्त आदिनाथ की एक कांस्य मूर्ति उल्लेखनीय है,<sup>2</sup> जो अब कल-कत्ता के आशुतोष प्यूजियम ऑफ इण्डियन आर्ट में सुरक्षित है। इसके साथ ही, यहाँ नालंदा के पुरातत्त्व संग्रहालय में संगृहीत फणावलियुक्त नारी की पाषाण-मूर्ति उल्लेखनीय है, जिसे संदेहवश

किंवदिसिंह नाहर का जिन्होंने अस्वत्त कृपापूर्वक मुझे अपने संग्रह की जैन मूर्तियों का अध्ययन करने और उनके चित्र लेने की अनुमति प्रदान की।

1. [मित्रा, वही, 1959. श्रीमती मित्रा ने समुचित कारण देकर यह सिद्ध किया है कि इस लेटी हुई नारी का तीर्थंकर की माता के रूप में समीकरण तर्कसंगत नहीं है — संपादक]

2. [पुराना मानभूम ज़िला अब दो ज़िलों में विभक्त कर दिया गया है, घनबाद (बिहार में) और पुर्णिया (पश्चिम बंगाल में)। यह जात करना संभव न हो सका कि यह कांस्य मूर्ति इस दो में से किस ज़िले से प्राप्त हुई। — संपादक]

जैन धर्मी पद्मावती कह दिया गया है (जिसका आहुण प्रतिरूप मनसा है)। यह नौवीं-दसवीं शताब्दियों की हो सकती है।<sup>1</sup>

इसी काल की विहार से प्राप्त अन्य उल्लेखनीय मूर्तियों में चन्द्रप्रभ की एक प्रस्तर-मूर्ति (चित्र १२ क) है जो अब भारतीय संग्रहालय में संगृहीत है।

इस अवधि में जैन धर्म और कला का एक महत्वपूर्ण केन्द्र सिंहमूर्म जिले में भी था, जैसा कि वेणीसामर में विचमान पुरावशेषों से निश्चित होता है; जिन्हें वेस्लर ने सातवीं शती का माना है, तथापि वेणीसामर के पुरावशेषों का सर्वेक्षण तये स्तर से किया जाना चाहिए।<sup>2</sup>

मध्यकाल में आसाम में जैन धर्म कम ही प्रचलित रहा प्रतीत होता है। तथापि न्वालपाड़ा जिले में सूरज पहाड़ पर स्थित गुफाओं के भीतर उत्कीर्ण जैन मूर्तियाँ (चित्र ६२ ख) इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं।

#### प्रियतोष अनजी

- 2 याहु, पूर्वोक्त, पृ 17. जैन देवियों में पद्मावती एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देवी है। शासन देवी से एक स्वतंत्र देवी के रूप में उसके व्यक्तिरूप का विकास उल्लेखनीय है।
- 3 आर्के-यॉसाँजिकल-सर्वे आँफ इष्टिया, रिपोर्ट नं. 13. संया : जै डी वेस्लर, 1882. कलकत्ता, पृ 69-71. [जब इस छंथ का संसादक 1937 में वेणीसामर गया तब उसे बहाँ थोड़ी-सी आहुण्य मूर्तियाँ ही मिलीं। — संसादक]

## अध्याय 16

### मध्य भारत

#### मध्य भारत में पूर्व-मध्यकालीन कला-कृतियाँ

बारहवें अध्याय में निम्नलिखित सामग्री का विवेचन आ चुका है :

- ( १ ) गुप्तकालीन उदयगिरि की जैन मूफा और उसकी तीर्थकर-प्रतिमाएँ;
- ( २ ) विदिशा के निकटवर्ती दुर्जनपुर से हाल ही में उपलब्ध महाराजाधिराज रामगुप्त के शासन-काल की अधिलेखाकित जैन प्रतिमाएँ; तथा
- ( ३ ) विदिशा से प्राप्त उत्तर-गुप्तकालीन एक कायोत्सर्ग तीर्थकर-प्रतिमा ।

विदिशा की कायोत्सर्ग-तीर्थकर-प्रतिमा मध्य भारत की गुप्त-कालीन भूति-निर्माण-कला के उत्तरोत्तर विकास को प्रदर्शित करती है। यद्यपि बेसनगर में तत्संबंधी किसी जैन मंदिर का अवशेष उपलब्ध नहीं है तथापि विदिशा के सभीपवर्ती कुण्डलपुर (जिला दमोह) के जैन मंदिर-समूह से पूर्वोक्त कला-परंपरा के जैन मंदिरों के वास्तुशिल्प का भलीभांति अनुमान किया जा सकता है। पूर्व-गुप्त-कालीन मंदिर-शैली की परंपरा को आगे ले जानेवाले ये मंदिर चौकोर पत्थरों से निर्मित समतल शिखर हैं जिनकी आयोजना में मात्र एक बग्कार गर्भगृह तथा कम ऊँचे सादा बेदी-बन्ध (कुरसी) पर निर्मित पुखमण्डप है (चित्र ६३ क)। गुप्त-कालीन कृतियों के विपरीत इन मंदिरों के मुखमण्डपों में भारी चौकोर स्तंभों का उपयोग हुआ है। स्तंभों के निचले भाग घट-पत्लब आकृतियों से अलंकृत हैं तथा उनके शीर्षभाग में सादे घुसावदार टोड़े लगे हुए हैं। इस प्रकार के सादे स्तंभों तथा छार-शाखाओं से युक्त ये मंदिर आठवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हैं।

कुण्डलपुर स्थित बड़े बाबा में तीर्थकरों और यज्ञियों (चित्र ६३ तथा ६४) की पूजक् पढ़ी हुई मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं जिनमें कुछ ही प्रतिमाएँ मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से मूल्यवान हैं, किन्तु हैं सभी स्थूल और अपरिष्कृत।

सतना जिले में पिथौरा का पतियानी देवी का जैन मंदिर (चित्र ६५ क), जिसका रचनाकाल सन् ६०० के लगभग निर्धारित किया जाता है, इतने परवर्ती काल तक में समतल शिखर-युक्त मंदिरों की परंपरा के अविच्छिन्न प्रचलन का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस मंदिर के श्री-शाख-द्वार की स्तंभ-शाखाएँ उत्कीर्ण पद्म-पत्रावलियों से अलंकृत हैं। इन स्तंभ-शाखाओं पर आधूत उत्तरांग तीन रथिकाओं में स्थापित तीर्थकरों की पद्मासन प्रतिमाओं (चित्र ६५ ख) द्वारा अलंकृत हैं। स्तंभ-शाखा के निचले भाग पर गंगा तथा यमुना अतिशंग-मुद्रा में अंकित हैं, जिनके पाश्व में यज्ञ-द्वारपाल हैं जो अपने हाथों में गदा और सूर्य के अपने विशेष लाक्षणिक उपकरणों को धारण किये हुए हैं। (चित्र ६६)।

सतना जिले से भी तीर्थकर पाश्वनाथ की एक पद्मासन प्रतिमा उपलब्ध हुई है जो इस समय रामबन स्थित तुलसी-शाश्वत-संग्रहालय में सुरक्षित है। पाश्वनाथ की इस प्रतिमा के पाश्व में चमरधारी इंद्र और उपेन्द्र को आकर्षक श्री-भंग-मुद्रा में खड़े हुए दर्शया गया है। तीर्थकर-भूति का सुगठित रूपांकन-भुक्तमण्डप पर ध्यानस्थ शांत भाव तथा आव्यात्मिक दीपित का दिक्किरण, और देव-अनुचरों की कोमल-कमनीय मुद्रा का अंकन यह बताता है कि यह प्रतिमा गुप्त-कालीन कला-परंपरा के प्रेरणा-श्रोत के निकट है, और इसका रचनाकाल लगभग सातवीं शताब्दी प्रतीत होता है।

सीरा पहाड़ी से प्राप्त जैन प्रतिमाओं का उल्लेख अध्याय १२ में किया जा चुका है। सीरा पहाड़ी के ही निकट स्थित नचना से भी लगभग आठवीं शताब्दी की तीन तीर्थकर-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें दो आदिनाथ की पद्मासन प्रतिमाएँ और एक पाश्वनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा हैं। नचना गुप्त और प्रारंभिक प्रतीहारकालीन ब्राह्मण मंदिरों के लिए विस्थात है।

जबलपुर के निकटवर्ती क्षेत्र तथा तेवर (प्राचीत त्रिपुरी) से भी, लगभग नौवीं से न्यारहवीं शताब्दियों तक की अनेक जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। इनमें से अति-अलंकृत परिकरयुक्त तीर्थकर धर्मनाथ की पद्मासन प्रतिमा (चित्र ६७ क) लगभग दसवीं शताब्दी की कलाचुरि भूतिकला की एक उल्लेखनीय कृति है। यह प्रतिमा इस समय नागपुर के केंद्रीय संग्रहालय में है। इसी प्रकार के गठन और कलात्मक अंकन के लिए विस्थात एक दूसरी उल्लेखनीय प्रतिमा पद्मासनस्थ तीर्थकर आदिनाथ की है जो त्रिपुरी से उपलब्ध हुई है और इस समय कलकत्ता के राष्ट्रीय संग्रहालय में

[ पतियानी देवी मंदिर की विशद रूप से उल्लीण अविका की एक प्रतिमा इलाहाबाद संग्रहालय में है (प्रसोद-चल्द. स्टोर स्कल्पबर इन वि इलाहाबाद भूतियम, 1971 (?), पूरा, प. 162). इस चतुर्भुजी देवी की चारों भुजाएँ खण्डित हो चुकी हैं। देवी करण्ड-मूरुट धारण किये हुए हैं। इसका प्रभामण्डल चक्राकार कमल से सुखोभित है। देवी के पाश्व में दो युवक हैं, पैरों के पास भक्त नरनारी हैं, जिनके पाश्व में दो चतुर्भुजी देवियाँ हैं। दायीं और वायीं की देवी को प्रजापति (प्रजापति ?) और दायीं और वाली को वज्रजंखला (वज्रशंखला ?) सिखा गया है। पाश्व की अद्व-रथिकाओं पर उल्लीण अनुचर देवियाँ नामरंकित हैं। इस प्रतिमा का काल न्यारहवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है – संपादक]

है। [चिपुरी में आज भी तीर्थकरों (चित्र ६७ ख) तथा यक्षियों की अनेक प्रतिमाएँ पड़ी हुई हैं। इनमें एक तीन यक्षियों का प्रतिमा-समूह (चित्र ६८ क) भी है जिसके पादपीठ पर किसी शताब्दी की अभिलेख समग्र नौवीं शताब्दी की तिथि में उत्कीर्ण है—संपादक]

नागपुर संग्रहालय में प्रदर्शित राजनपुर-विशिनी से उपलब्ध जैन प्रतिमा-समूह में सरस्वती की एक नौवीं शताब्दी की मूर्ति है जिसमें उनके स्तम्भ असंगत रूप से बढ़े हैं। मूर्ति में विलक्षण कठोरता है। इस प्रतिमा-समूह में नौवीं शताब्दी की तीर्थकर पार्श्वनाथ एवं शान्तिनाथ की दो कायोत्सर्व प्रतिमाएँ भी हैं जिनपर गंग-कला-शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

मालदा झेव<sup>१</sup> के देवास जिले में गंधावल लगभग नौवीं शताब्दी की कलात्मक रूप से उत्कृष्ट प्रतिमाओं (चित्र ६८ ख) का विशिष्ट केन्द्र है। तीर्थकर की एक विशाल कायोत्सर्व प्रतिमा भी प्राप्त हुई है, जिसके पार्श्व में इंद्र और उपेन्द्र चमरवारी के रूप में अंकित हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से तीर्थकर शान्तिनाथ, सुभतिनाथ एवं सुविधिनाथ तथा विद्या-देवियों और यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं।

रायपुर संग्रहालय में सहस्रकूट की एक उल्लेखनीय चौमुखी मूर्ति प्रदर्शित है। इसमें पौच्छ स्तर है। प्रत्येक स्तर में तीर्थकरों की भामण्डलयुक्त पद्मसन प्रतिमाएँ पंक्तिबद्ध हैं (चित्र ६९)।

जैन प्रबन्धों के अनुसार आम नामक नरेश ने, जो नौवीं शताब्दी में कन्नौज और भवालियर पर शासन करता था, कन्नौज में एक मंदिर का निर्माण कराया था, जो १०० हाथ ऊँचा था और जिसमें उसने तीर्थकर महावीर की स्वर्णप्रतिमा स्थापित करायी थी। उसने भवालियर में २३ हाथ ऊँची महावीर की प्रतिमा भी स्थापित की थी। यह भी कहा जाता है कि उसने मथुरा, अनहिलवाड़, मोहेरा आदि में भी जैन मंदिरों का निर्माण कराया था।<sup>२</sup> जैन परंपराओं में उल्लिखित नरेश आम प्रतीहार नाभट-डितीय (मृत्यु ददृ ५०) रहे होंगे जो जैन धर्म के प्रति अपनी आस्था के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इस जैन परंपरा की सत्यता इन स्थानों से प्राप्त प्रारंभिक मध्यकालीन जैन अवशेषों द्वारा प्रमाणित होती है।

तोमरकालीन शैलोत्कीर्ण विशाल जैन प्रतिमा के लिए प्रसिद्ध भवालियर के किले में अंकिका यक्षी और गोमेष यक्ष की शैलोत्कीर्ण सप्तरिकर प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। ललितासन में बैठी अंकिका के पार्श्व में उनकी सेविकाएँ हैं। इन प्रतिमाओं का निर्माणकाल लगभग आठवीं शताब्दी निर्धारित

१ शाह (पू. पी). स्टडीज इन जैन शास्त्र. १९५५. वलारस. चित्र ४२.

२ भजूमदार (आर. सी) तथा पुसालकर (ए. बी), संसा. एज ऑफ इंडीयनियल कन्नौज. १९५५. नंबर्ड. पृ २८९.

किया जाता है।<sup>1</sup> ये प्रतिमाएँ भारी आकार और रचना-सौष्ठुद्व के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं, तथा कुषाण एवं गुप्त-कालीन पांचिक और हारीति प्रतिमाओं के समनुरूप हैं। अंबिका यक्षी की मुखाङ्कृति अण्डाकार है, नेत्र अर्धनिमीलित हैं, केशसज्जा घम्मल आकार का है, करे हुए गोल स्तन हैं, ग्रीवा और कुक्षि पर त्रिवलियाँ हैं, उदर उभरा हुआ तथा नितम्ब चौड़ी हैं। यक्ष की प्रतिमा स्थूलकाय और लम्बी-चौड़ी है। उसकी तोंद मटके-जैसी है। खालियर के किले में तीन स्वतंत्र जैन प्रतिमाएँ भी विद्यमान हैं जो लगभग उसी काल की हैं। इनमें से एक प्रतिमा में कायोत्सर्ग-मुद्रा में आदिनाथ का अंकित है जिसके चारों ओर पद्मासन-मुद्रा में त्रैईस तीर्थकर अंकित हैं। इस प्रकार यह प्रतिमा एक चतुर्विंशति-पट्ट के रूप में है। दूसरी प्रतिमा में नंदीश्वर-द्वीप सहित तीर्थकर आदिनाथ अंकित हैं। तीसरी प्रतिमा कायोत्सर्ग-मुद्रा में पादवर्णनाथ की है। उनके शीर्ष पर नागफण का छत्र अंकित है तथा सुंदर अर्ध-मालवाङ्कृति नागों द्वारा तीर्थकर का जलाभिषेक करते दिखाया गया है। नागों के सिर पर लहरिया केश-सज्जा है।<sup>2</sup> खालियर के दक्षिण-पूर्व में कुछ दूरी पर स्थित अम्रोल से भी, जो पूर्व मध्यकालीन महादेव-मंदिर के लिए प्रसिद्ध है, पार्श्वनाथ और आदिनाथ की तत्कालीन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। आदिनाथ की प्रतिमा का सूक्ष्मता के साथ प्रतिरूपण हुआ है जिसमें तीर्थकर के चारों ओर यक्षों की वामन आङ्कृतियाँ पद्मपीठों पर सुखासन-मुद्रा में बैठी हुई दर्शायी गयी हैं। पद्म-पीठ कमल पश्चावस्थी द्वारा भव्य रूप में अलंकृत है।

बिदिशा जिले में बडोह नामक स्थान पूर्व-मध्यकालीन (प्रतीहार) कला और स्थापत्य के लिए प्रसिद्ध रहा है। यद्यपि यहाँ अधिकांशतः मंदिर ग्राह्याण संप्रदायों से संबंधित हैं तथापि यहाँ जैनों का भी लगभग दसवीं शती का एक बड़ा मंदिर है जिसमें वयोकार भमती के मध्य में लतिन नागर शिखरयुक्त देवकुलिकाएँ हैं। यद्यपि इनकी समुचित सुरक्षा नहीं की गयी है तथापि यहाँ देव-कुलिकाओं के अवशेष पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। ये देवकुलिकाएँ चौबीस तीर्थकरों की थीं। इनमें से मध्यवर्ती देवकुलिका सबसे ऊचे शिखरवाली है, जो संभवतः कृष्णभनाथ को समर्पित की गयी थी।

इसी जिले के अंतर्गत व्यारतपुर पूर्व-मध्यकालीन ग्राह्याण और जैन धर्मों के मंदिर तथा मूर्तियों के अवशेषों के समृद्ध भंडार के रूप में प्रसिद्ध रहा है। लगभग नौवीं शताब्दी की बीसियों स्वतंत्र जैन प्रतिमाएँ यहाँ उपलब्ध हैं। इन प्रतिमाओं में कायोत्सर्ग एवं पद्मासन-मुद्राओं में तीर्थकरों तथा जैन यक्ष-यक्षियों की कमतीय प्रतिमाएँ हैं। यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ ललितासन-मुद्रा में बैठी हुई अथवा आकर्षक त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी हुई अंकित हैं (चित्र १०० क)। इस स्थान के प्राचीन

1. बून (स्लॉस), जिल इमेजेज ऑफ देवगढ़, 1969, लीडन, चित्र १८-१८ ए.

2. ऐदस्तर (माइकेल डब्ल्यू), आम, अम्रोल एण्ड जनिझम्‌इन खालियर फोटो, जर्मन ऑफ वि ओरियनल इंस्टीट्यूट, अड्डोदा, 22, 354-58.

मंदिरों में सर्वाधिक संरक्षित मालादेवी मंदिर के नाम से विख्यात जैन मंदिर हैं, जो बाल्तव में प्रती-हार वास्तुकला के चरम विकास का प्रतीक है।

### मंदिर

#### मालादेवी मंदिर, ग्यारसपुर :

मालादेवी मंदिर एक सांधार-प्रासाद है जिसका कुछ भाग शैलोत्कीर्ण तथा कुछ भाग निर्मित रखा है। यह मंदिर मुखमण्डप, मण्डप, अंतराल तथा सांधार-गर्भगृह से युक्त है (चित्र १०१ तथा १०२)। गर्भगृह की रूपरेखा पंच-रथ प्रकार की है तथा इसके ऊपर रेखा-शिखर है (चित्र १०३)।

मंदिर का पीठ सुदृढ़ और सामान्य गोटा-अलंकरणों से युक्त है। यह जंघा को आधार प्रदान किये हुए है। जंघा-भाग कक्षासन तथा देवकोष्ठों से मण्डित है (चित्र १०४)। आधारकार प्रासाद के लघुतर बाहुओं में दो कक्षासन हैं जबकि लंबे बाहुओं में ऐसे ही तीन-तीन गवाक्ष हैं जिनमें से दो मण्डप और एक गर्भगृह से प्रक्षिप्त हैं। ये गवाक्ष मुख्यतः अलंकरण के लिए बनाये जाने के कारण अत्यंत अल्प प्रकाश ही भीतर पहुँचने देते हैं।

दक्षिण दिशा में मंदिर के छह निर्गम हैं जिनमें से तीन बड़े हैं और तीन छोटे। ये सभी देवकोष्ठों द्वारा अलंकृत हैं जो जंघा तथा पीठभागों पर हैं। जंघा पर निर्मित देवकोष्ठों में दिग्पालों तथा धक्ष-यक्षियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं जबकि पीठों की शिल्पांकित फलकों पर मानव-मुख्याकृतियाँ तथा बेल-बूटे प्रचुर मात्रा में अंकित हैं।

मंदिर का शिखर पंच-रथ प्रकार का है जिसकी आकृति त्रिभुजाकार प्रतीत होती है। शिखर के चारों ओर आठ शिखरिकाएँ बनी हैं। मण्डपों की छतें ध्वस्त हो चुकी हैं फिर भी अवशिष्ट अंशों से ज्ञात होता है कि वे निससदैह फानसना बने थे और इनमें पीढ़े तथा रत्नों से अलंकृत कंठों का तार-लम्ब दर्शनीय है।

दक्षिण दिशा में शिखर-मूल पर निर्मित (रथिका) में गरुडासीन अष्टभुजी चक्रेश्वरी देवी की प्रतिमा स्थापित है। देवी के अवशिष्ट दो दाहिने हाथों में पाश और वज्र हैं तथा बायीं ओर के दो अवशिष्ट हाथों में वज्र और चक्र। देवी के पास्त्र में दोनों ओर परिचारिकाएँ हैं। इसके ठीक बायीं ओर की रथिका में पद्मासनस्थ तीर्थंकर-प्रतिमा है, जबकि दायीं ओर की रथिका में शिशुसहित अंबिका यक्षी लक्षितासन में बैठी है। तदनुरूप उत्तर दिशा की रथिकाओं में चक्रेश्वरी यक्षी की प्रतिमाएँ परिचारिकाओं सहित अंकित हैं। इसके ठीक दाहिनी रथिका में एक पद्मासनस्थ तीर्थंकर-

मूर्ति तथा बायी में ललितासन में बैठी अंदिका यक्षी की प्रतिमा है। जंधा स्थित देवकोष्ठों का किवरण दक्षिण-पूर्व से प्रदक्षिणा-क्रम में निम्नलिखित है :

जंधा के दक्षिण-पूर्व कोन से स्थित प्रथम देवकोष्ठ में अष्टभुजी देवी की प्रतिमा दो सिरबाले पक्षी के ऊपर पद्मपीठ पर ललितासन में बैठी हुई है। देवी के अवशिष्ट दाहिने हाथों में मदा-जैसा आयुध, पद्मपुष्प तथा चौरी है जबकि बायें हाथों में चौरी, ध्वजा और धनुष हैं। यह देवी कुकुटाहि पर आरूढ़ यक्षी पद्मावती हो सकती है।

दक्षिण दिशा में निमित द्वितीय देवकोष्ठ में एक चतुर्भुजी देवी पद्मपुष्प पर ललितासन में बैठी है जिसके हाथों में कृपाण, चक्र, ढाल और शंख हैं। देवी का वाहन यज उनके पद्मपीठ के नीचे दर्शाया गया है। संभवतः वह देवी पुरुषदत्ता है जो पाँचवें तीर्थकर की यक्षी है।

दक्षिण दिशा के शेष छह देवकोष्ठ (संख्या ३ से ८) रिक्त हैं। किन्तु इनके बीच के सलिलांतरों में छोटे-छोटे देवकोष्ठ हैं जिनमें यक्ष तथा यक्षी पद्मावती की प्रतिमाएँ हैं।

अंतराल से संलग्न पार्श्वभागों पर निमित लघु देवकोष्ठों में भी प्रतिमाएँ अंकित हैं। पश्चिमी देवकोष्ठ में एक देवी की प्रतिमा है जो मगर पर ललितासन में बैठी है। उसके हाथ वरद और अभय-मुद्राओं में है, दो हाथों में नीलपद्म एवं कलश हैं, जबकि पूर्वी भित्ति के देवकोष्ठ में पद्मपीठ पर ललितासन-मुद्रा में आसीन अष्टभुजी देवी की प्रतिमा स्थापित है। देवी की बायी ओर के अवशिष्ट दो हाथों में पाश और कृपाण हैं तथा बायी ओर के अवशिष्ट तीन हाथों में धण्डा, ढाल और पाश जैसे उपादान हैं। उनके पद्मासन के नीचे वाहन के रूप में अश्व अंकित हैं। संभवतः यह देवी मनोकेना है जो छठे तीर्थकर की यक्षी है।

दक्षिणी-भद्र के पश्चिमी पल्लविका के देवकोष्ठ में नाग-फण-छत्र के नीचे दो भुजाओंवाली यक्षी पद्मावती खड़ी हुई दिखाई गयी है। इससे संलग्न पार्श्वभागों पर निमित लघु-देवकोष्ठों में से प्रत्येक में ललितासन-मुद्रा में एक देवी-मूर्ति अंकित है।

पश्चिमी भाग में स्थित तीव्री देवकोष्ठ रिक्त है, जबकि पश्चिमी भद्र की पल्लविका के एक मात्र देवकोष्ठ में नाग-फण-छत्र के नीचे खड़ी हुई दो-भुजी पद्मावती देवी की प्रतिमा है। उनके दायें हाथ में नीलकमल हैं तथा बायी हाथ एक दण्ड पर टिका है। उससे संलग्न एक लघु देवकोष्ठ में अष्टभुजी देवी ललितासन-मुद्रा में मकर पर आरूढ़ है। उसके निचले दायें हाथ में पुष्प हैं और ऊपरी दायीं हाथ सीमांत पर है; ऊपरी बायें हाथ में दर्पण हैं और निचला बायी हाथ मोद में रखा हुआ है।

मंदिर का उत्तर-पश्चिम कोना शिलाटंकित होने के कारण पश्चिमी भाग के दसवें-नवारहवें तथा उत्तरी भाग के बारहवें-तेरहवें देवकोष्ठ कभी निर्मित ही नहीं हुए।

अंतराल के उत्तरी भाग में स्थित चौदहवें देवकोष्ठ में दो-भूजी कुबेर को खड़े हुए दर्शाया गया है। कुबेर के हाथों में कपाल (खण्डर) और धैली है। धैली दो निविकलशों के ऊपर रखी हुई है। चौदहवें देवकोष्ठ के नीचे एक चतुर्भुजी देवी खड़ी है, जिसका एक हाथ अभय-मुद्रा में है तथा अन्य हाथों में पद्मपुष्प, नीलपद्म और संभवतः दर्पण हैं।

महामण्डप के उत्तरी कक्षासन के नीचे पंद्रहवें देवकोष्ठ में ललितासन मुद्रा में आसीन बारह-भूजी देवी की एक प्रतिमा है। देवी के दायीं ओर के अवशिष्ट पाँच हाथों में खडग, दर्पण, पुष्प, चक्र और वज्र हैं तथा दायीं ओर के अवशिष्ट दो हाथों में पद्मपुष्प तथा फल हैं। उसके बाहर के रूप में एक पश्चु अंकित है जो खण्डित हो चुका है किन्तु उसका आकार-प्रकार बराह या सुअर से मिलता-जुलता है।

मण्डप के उत्तरी निर्मम पर स्थित सोलहवें देवकोष्ठ में इन्द्र की द्विभूजी प्रतिमा उत्कीर्ण है। इन्द्र ललितासन-मुद्रा में मज पर आरूढ़ है। उनके बायें हाथ में वज्र है तथा दायीं हाथ पृष्ठित हो चुका है। सोलहवें देवकोष्ठ के नीचे, अविष्टान के कोष्ठ में, बारहभूजी देवी की प्रतिमा स्थित है। देवी ललितासन-मुद्रा में पहिये-युक्त लौहरथ में आरूढ़ है। देवी का एक दायीं हाथ अभय-मुद्रा में है तथा अन्य दायें हाथों में त्रिशूल, चक्र, ढाल, धनुष, प्रसाधन-पेटिका और फल हैं। लौहरथ (लीहासन) के कारण यह देवी द्वितीय तीर्थकर की यक्षी अजिता या रोहिणी के रूप में पहचानी जा सकती है।

सत्रहवें देवकोष्ठ में ललितासन में बैठी हुई एक चतुर्भुजी देवी की प्रतिमा है, जिसका सिर और हाथ पृष्ठित हो चुके हैं। उत्तरी भाग के पूर्वी कोने पर स्थित अठारहवें देवकोष्ठ में चतुर्भुजी देवी ललितासन में मरस्य पर आरूढ़ है। देवी के अवशिष्ट हाथों में से दो वरद एवं अभय-मुद्रा में हैं तथा एक अन्य हाथ में जाल है। इस देवी को पंद्रहवें तीर्थकर की श्वेतांबर यक्षी कंदपी के रूप में पहचाना जा सकता है।

उत्तर-पूर्व कोने पर स्थित उष्णीसद्वें देवकोष्ठ में, रेवंत की प्रिया ललितासन में बैठी है। यह देवी चतुर्भुजी है, जिसके चारों हाथों में वज्र, खट्टवांग, जाल और छत्र हैं। उसके आसन के नीचे अश्व अंकित है।

मंदिर का मुख्यमण्डप चार स्तंभों पर आधारित है। इसका वितान समक्षिप्त शैली में नेत्राकार है जिसमें कोल तथा गजतालु के अलंकरण बने हैं। मुख्यमण्डप के भीतरी दो स्तंभों के मध्य तथा मण्डप के प्रवेशद्वार में भी इसी प्रकार के वितान हैं।

मण्डप का प्रवेशद्वार पंच-शाख शैली का है। शाखाओं पर कमशः बैल-बूटे, नाग, मिथुन और दो कुद्य स्तंभों का अंकन है। मिथुनों का अंकन बारी-बारी से भूतों या पात्र की आकृति के साथ हुआ है। ललाट-बिम्ब में गरुड़-आरुड़ अर्णुजी चक्रेश्वरी देवी प्रदर्शित है। यह देवी अपने बायीं और के अवधिष्ठ तीन हाथों में पदम, चक्र एवं फल धारण किये हुए है तथा दायीं और के एकमात्र अवधिष्ठ हाथ से कमलनाल पकड़े हुए है। द्वारशाखा के आधार-भाग पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं जिनके पार्श्व में अनुचर तथा द्वारपाल हैं।

मण्डप बीचों-बीच चार स्तंभों पर आधारित है। इसका वितान अष्टकोण तथा संभवतः समक्षिप्त शैली का है जिसमें गजतालुओं के चार कमशः घटते हुए रहे हैं जो अब अंशमात्र सुरक्षित हैं। मण्डप वितान के सरदलों और शहूतीरों पर रथिकाओं की दो पंक्तियाँ अंकित हैं। मण्डप की दक्षिण-भित्ति के साथ तीर्थकर की एक विशाल कायोत्सर्ग प्रतिमा अवस्थित है जिसके दोनों पार्श्वों में दो भक्त अंकित हैं।

बंदिर के भीतरी भाग के सभी स्तंभ आकार-प्रकार में एक-जैसे तथा अत्यंत अलंकृत हैं। स्तंभों के निचले और ऊपरी भाग वर्गिकार हैं। मध्यभाग सोलह पहलुओं का तथा घण्टा-किंकिणि-चित्रण द्वारा अलंकृत है। स्तंभ का शीर्षभाग एक गोल चौकी, कीर्ति-मुख तथा लता-बल्लरियों से अलंकृत एक वर्गिकार फलक, एक आमलक, पत्रावलियों से अलंकृत एक अन्य वर्गिकार फलक तथा दो वर्गिकार आमलकों से उत्कीर्ण हैं। स्तंभों के शीर्षभाग में टोड़े लगे हुए हैं जिनके पार्श्व अंजलिबद्ध नागों के चित्रण से अलंकृत हैं।

बंदिर के कुछ आकर्षक कला-प्रतीकों में एक विशेष प्रकार का कीर्तिमुख (चित्र १०० ब) तथा प्रचुरता से अलंकृत छट-पल्लव सम्मिलित हैं। गर्भगृह का प्रवेशद्वार मण्डप के प्रवेशद्वार से सामान्यतः मिलता-जुलता है। इसके दो सरदलों में से निचले सरदल पर रथिकाओं में तीर्थकरों की नौ कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ एक पंक्ति में प्रदर्शित हैं। सरदल के दायें सिरे पर मालाधारी मिथुन आकृतियाँ अंकित हैं तथा एक खड़ी हुई चतुर्भुजी विद्यादेवी की प्रतिमा है जिसके हाथ वरमुद्रा में तथा पुस्तक और कलश लिये हुए अंकित हैं। इसी प्रकार बायें सिरे पर बीणा लेकर खड़ी हुई चतुर्भुजी सरस्वती की खण्डित प्रतिमा है। द्वारशाखाओं के निम्नभाग में गंगा और यमुना देवियाँ अंकित हैं जिनमें से प्रत्येक के पार्श्व में युगल द्वारपाल निर्मित हैं। पूर्वाभिमुख द्वारपाल अपने एक हाथ में गदा लिये हुए हैं।

गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणापथ है जिसमें दोनों ओर प्रवेशद्वार हैं। इनके उत्तरांग रथिकाओं और मूर्तियों से अलंकृत हैं। दक्षिणी प्रवेशद्वार के उत्तरांग के निचले स्तर पर नौ तीर्थकर, मध्य पर चार तथा ऊपरी स्तर पर सात तीर्थकर-प्रतिमाएँ प्रदर्शित हैं। द्वारशाखाओं पर नदी-देवियाँ उत्कीर्ण हैं जिनके पार्श्वों में द्वारपाल अंकित हैं। गर्भगृह के उत्तरी प्रवेशद्वार के उत्तरांग पर सप्त-मातृकाएँ नृत्य-मुद्रा में अंकित हैं जिनके पार्श्व में गणेश और वीरभद्र हैं।

भीतरी प्रदक्षिणापथ की तीनों दिशाओं में तीन देवकोष्ठ हैं। दक्षिण दिशा के प्रमुख देवकोष्ठ में पद्मासन तीर्थकर-मूर्ति है, तथा उत्तरी दिशा के एक देवकोष्ठ में यक्षी चक्रेश्वरी स्थित है।

प्रौढ़ तथा आलंकारिक बास्तुकला एवं सुविकसित मूर्तिकला के आधार पर इस मंदिर का रचना-काल नौवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित किया जा सकता है। यह मंदिर मध्य भारत की प्रतीहारकालीन स्थापत्य शैली का घरमोत्कर्ष प्रदर्शित करता है।

### देवगढ़ के जैन मंदिर<sup>1</sup>

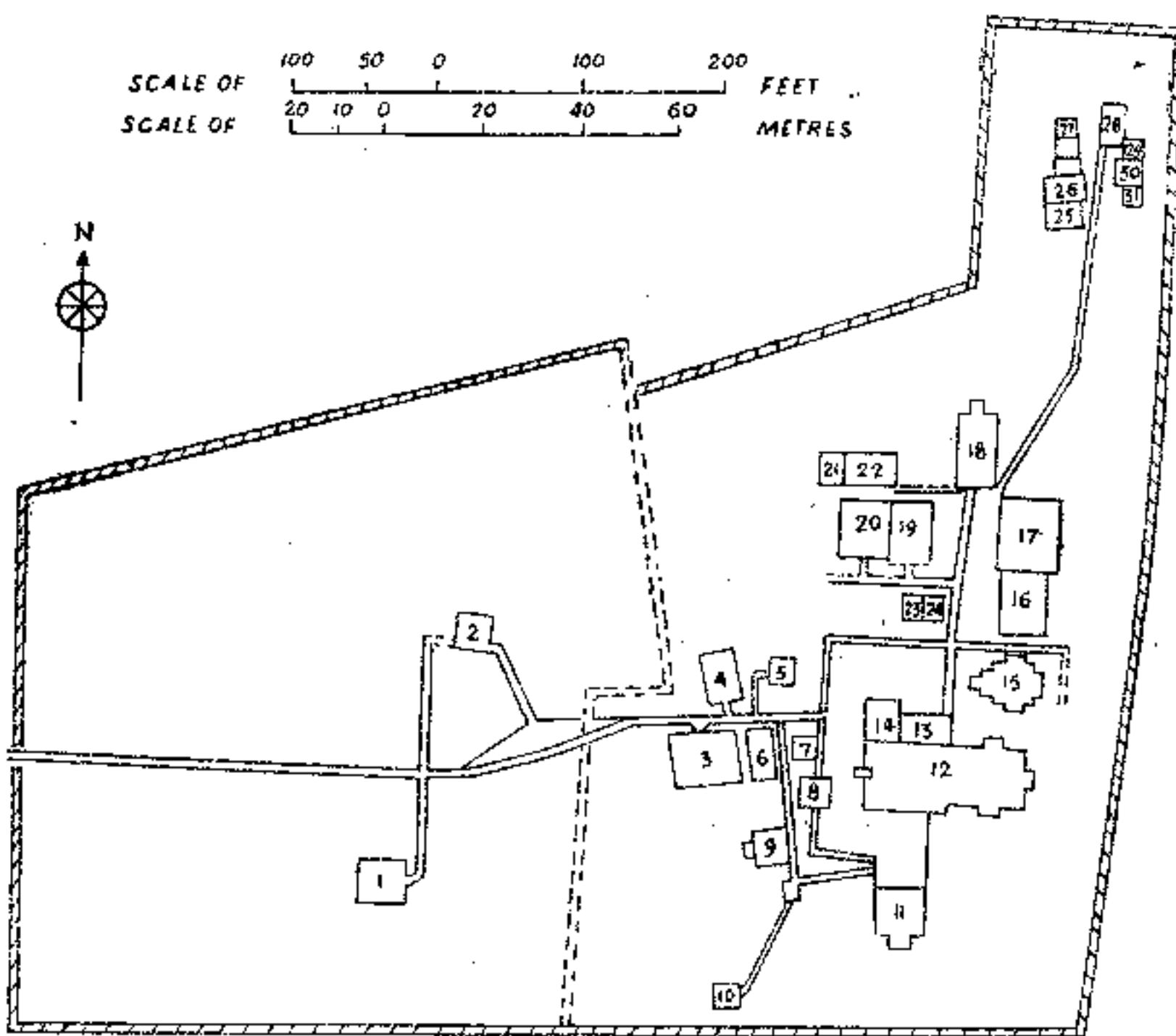
देवगढ़ किले के पूर्वी क्षेत्र में लगभग ३१ जैन मंदिरों का एक समूह है (रेखाचित्र ६), जिसमें नौवीं से बारहवीं शताब्दी तथा उससे भी परवर्ती काल के मंदिर सम्मिलित हैं। मध्य भारत में यह स्थान तीन शताब्दियों के लंबे समयांतराल में जैन कला एवं स्थापत्य के विकास का अध्ययन करने के लिए उल्लेखनीय केन्द्रों में से एक है। यहाँ पर लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दियों का भी एक जैन मंदिर था, इस तथ्य का प्रमाण यहाँ से उपलब्ध गुप्तोत्तर शैली के कुछ बास्तु-अवशेषों और एक तीर्थकर प्रतिमा से मिलता है।

वर्तमान मंदिरों में अधिकांशतः दस से बारहवीं शती के हैं। पूर्ववर्ती दो शताब्दियों के मंदिरों की संख्या बास्तव में बहुत कम है। मंदिर संख्या ११, १२ और २८ जैसे कुछ मंदिरों को छोड़कर शेष मंदिर आलंकरणविहीन तथा छोटे आकार के हैं। इनकी रूपरेखा या तो वर्गाकार है या आयताकार। प्रत्येक मंदिर एक विशाल कक्ष है। कुछ मंदिरों में इस कक्ष के पिछले भाग में बाहर एक छोटा गर्भगृह भी है, कुछ में नहीं है। किन्तु सामान्यतः सभी के आगे एक बरामदा या प्रवेशमण्डप है। अष्टकांश मंदिर समतल शिखरयुक्त हैं, पर कुछ पर छतरियाँ बनी हैं।

क्रमांक २५ से ३१ तक के मंदिर एक बड़े भूङ के रूप में निर्मित हैं, शेष मंदिर यत्र-तथा दिखरे हुए हैं जिनमें से मंदिर क्रमांक १, २ तथा १० एक दूसरे से पर्याप्त कूरी पर स्थित हैं।

मंदिर क्रमांक २२ तथा २४ (क) के अतिरिक्त क्रमांक १२ और १५ तथा क्रमांक १२ के के आस-पास के सात छोटे मंदिर नौवीं शताब्दी के हैं। मंदिर क्रमांक १२ के प्रवेशमण्डप के स्तंभ पर उत्कीर्ण विक्रम संवत् ६१६ (६६२ ई०) के अभिलेख के आधार पर इन मंदिरों का रचनाकाल लगभग ८५०-९०० ई० निर्धारित किया जा सकता है। यहाँ उपलब्ध असंख्य बास्तु-अवशेष और

1 [ इस मंदिरसमूह में कुछ मंदिर ऐसे भी हैं जिनका रचना-काल इस भाग की विचाराधीन अवधि से परवर्ती है, किन्तु अध्ययन की दृष्टि से इस समूह को कालखण्डों में वर्गीकृत न करना सुविधाजनक प्रतीत हुआ है। — संपादक ]



रेखाचित्र 9. देवगढ़ : मंदिरों की रूपरेखा

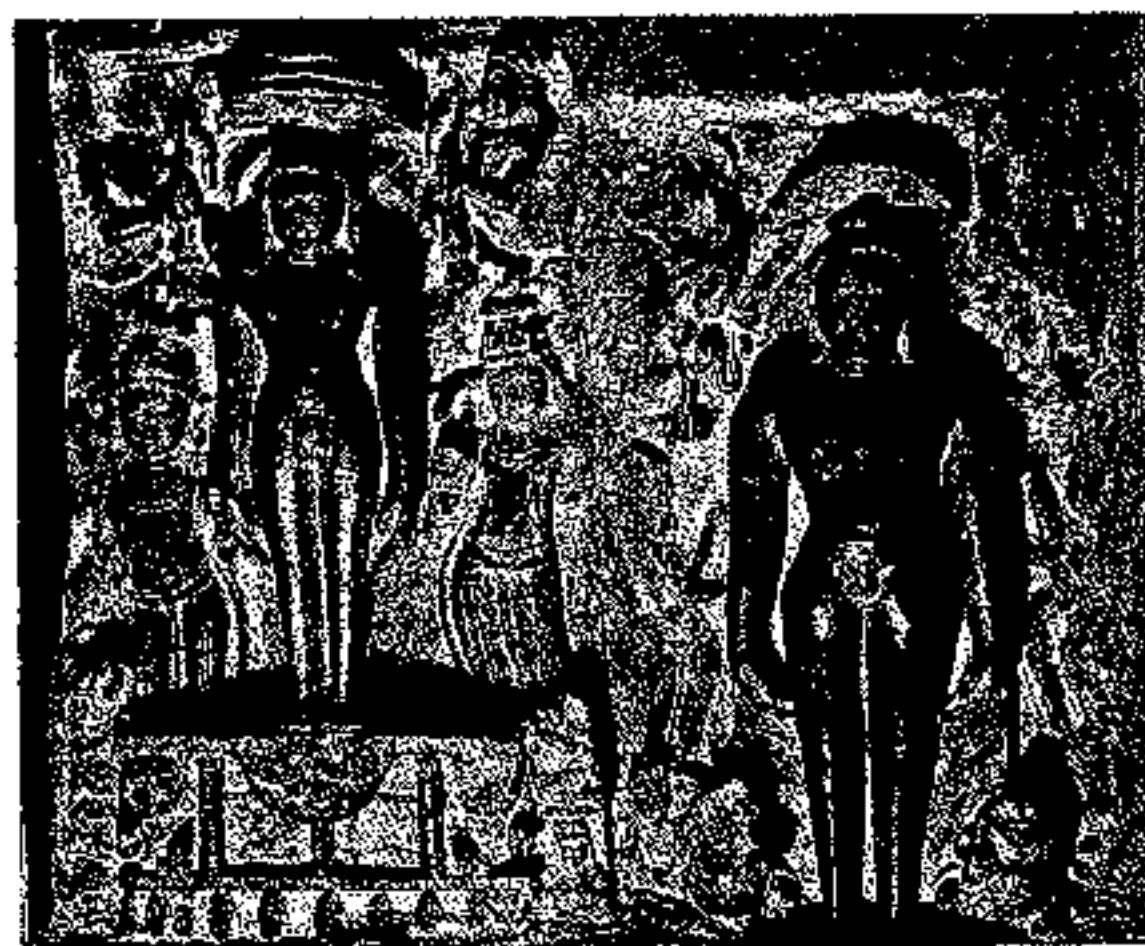
प्रतिभाएँ यह प्रमाणित करते हैं कि इस स्थान पर नीबीं शताब्दी के और भी अनेक मंदिर विद्यमान रहे होंगे।

बड़े शिलालङ्घों से निर्मित विशालकक्षीय मंदिर क्रमांक ६, १३, १६ और २० दसवीं शती के हैं, जिनमें पूर्व-मध्यकालीन प्रतिभाएँ स्थापित हैं। विशालकक्षीय मंदिर क्रमांक १७ में भी पूर्व-मध्य-कालीन दसवीं शताब्दी की प्रतिभाएँ हैं। इस मंदिर की भित्तियाँ ध्वंस हो चुकी हैं।

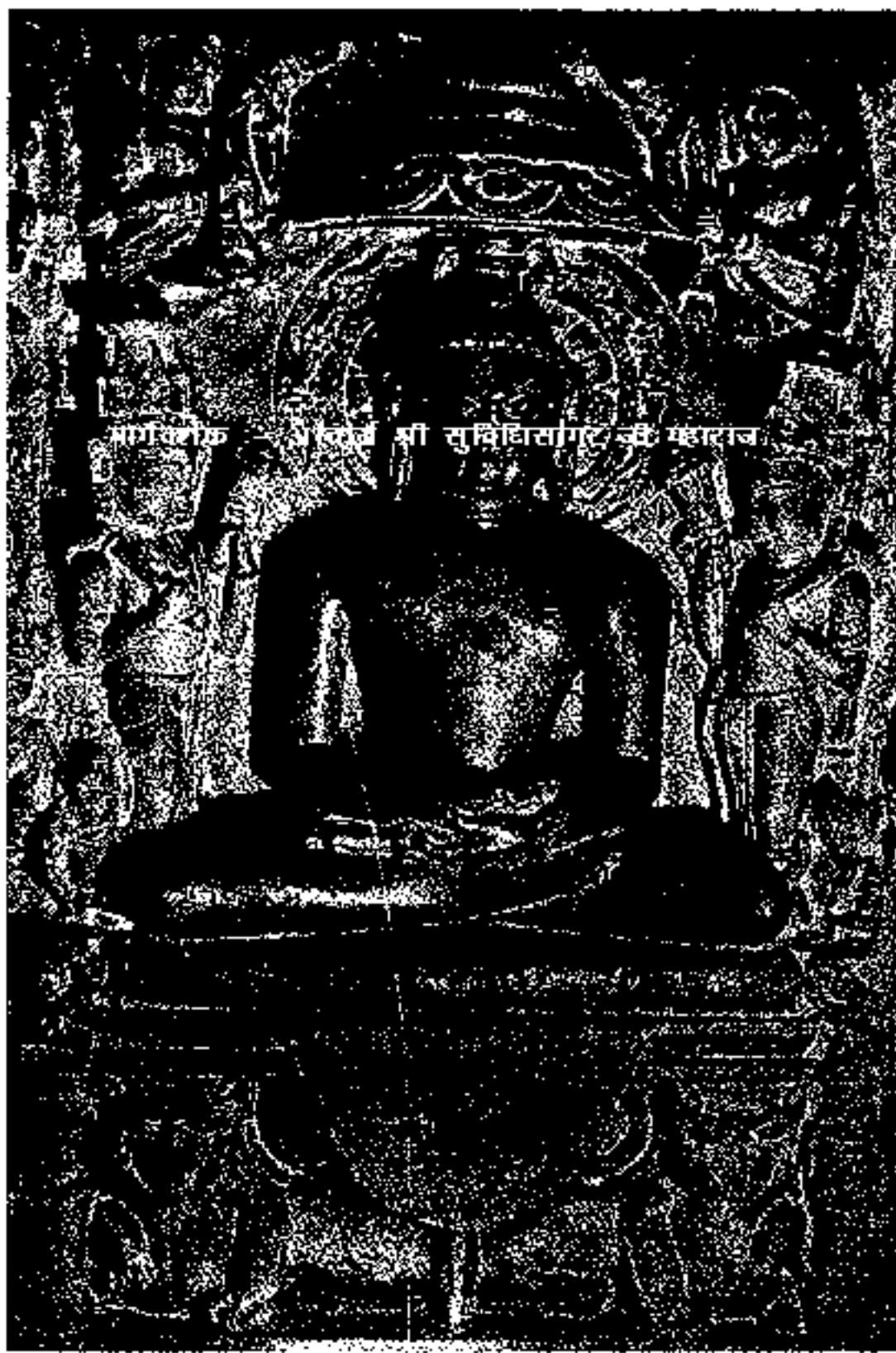
विशालकक्षीय मंदिर क्रमांक २, ३, ११ और १६ दसवीं-म्यारहवीं शताब्दियों के हैं। इनकी भित्तियाँ शिलापट्टों से निर्मित हैं और इनमें मध्यकालीन प्रतिभाएँ स्थापित हैं। मंदिर क्रमांक २ (विक्रम संवत् १०२३, १०५१ तथा १०५२) और मंदिर क्रमांक ११ (विक्रम संवत् ११०५ तथा ११२६) के



(क) कुण्डलपुर — मन्दिर



(ख) कुण्डलपुर — दी तीर्थकर मूर्तियाँ



(क) कुण्डलपुर — शीर्षकर  
अभिनन्दनाथ



(ख) कुण्डलपुर — शीर्षकर प्रबोधनाथ



(क) खिंदीरा — पतियाली देवी का मंदिर



(ख) खिंदीरा — पतियाली देवी के मंदिर का सरदाल

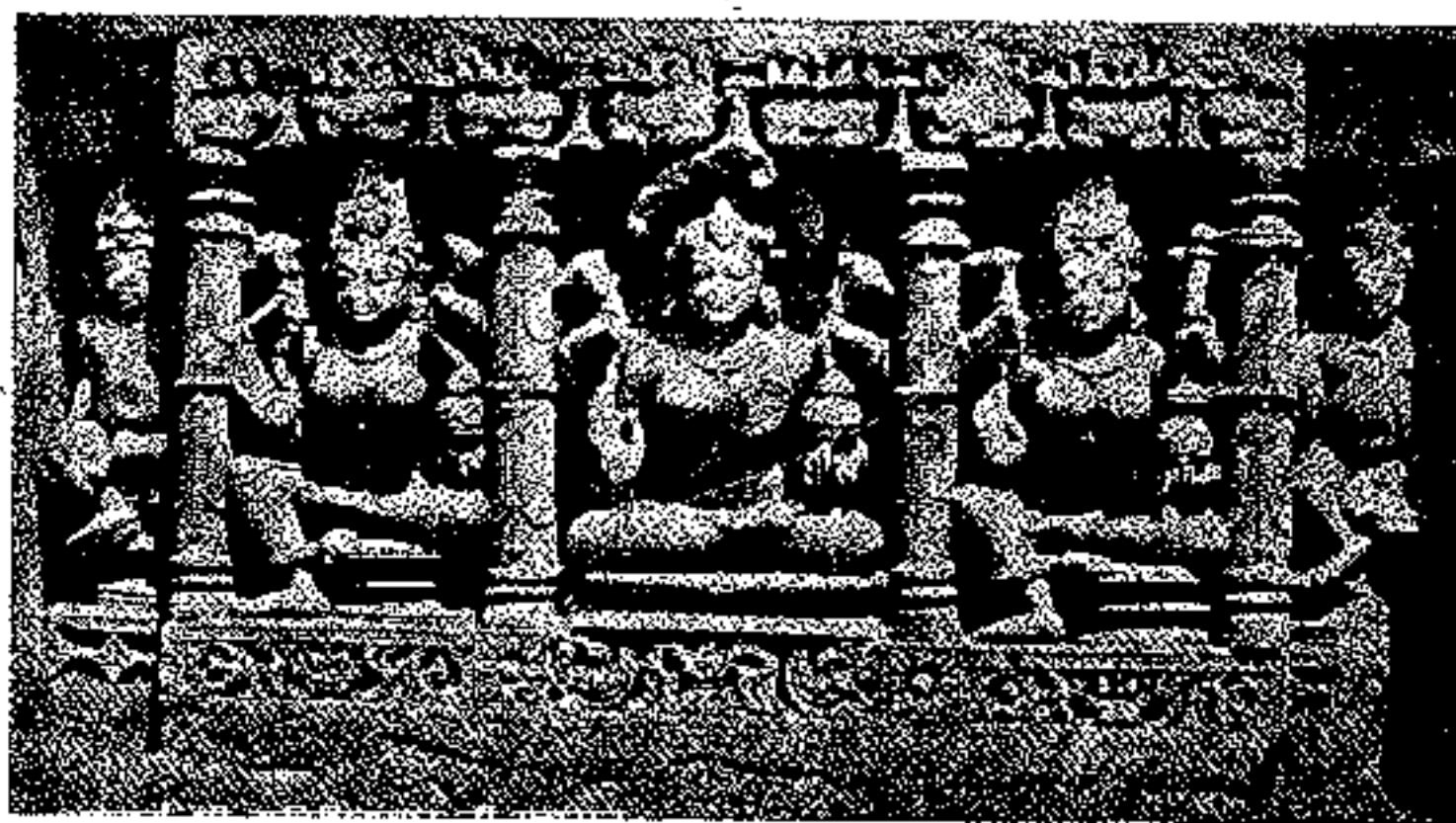


पिथौरा — पतिष्ठानी देवी का मन्दिर, छारशाल



(क) जबलपुर — तीर्थकर दर्शनाथ  
(जागपुर संग्रहालय)

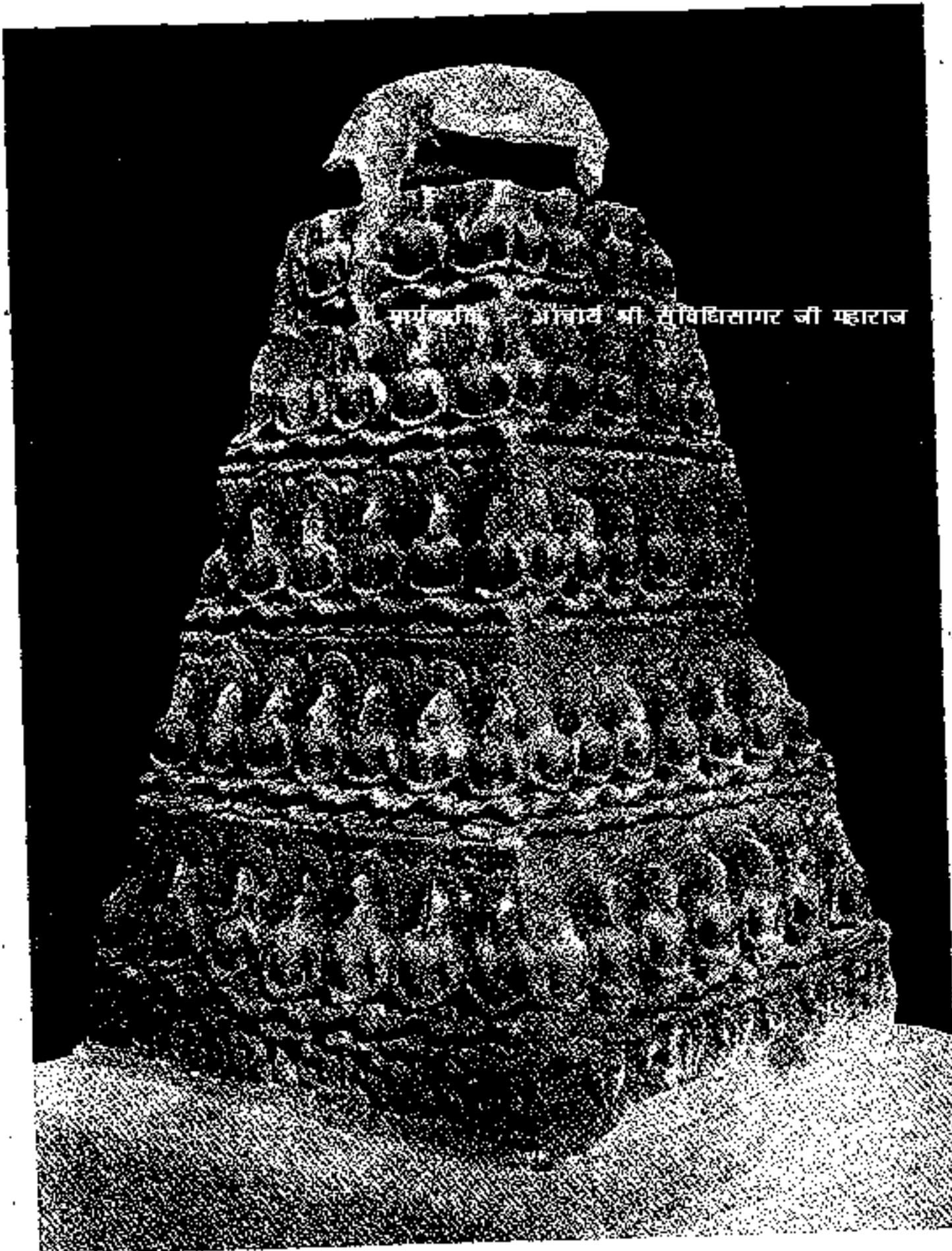




(क) सोनपुर — अभिलेखाक्षित धर्मियाँ



(ल) गंधारा — तीर्थकर मूर्तियाँ



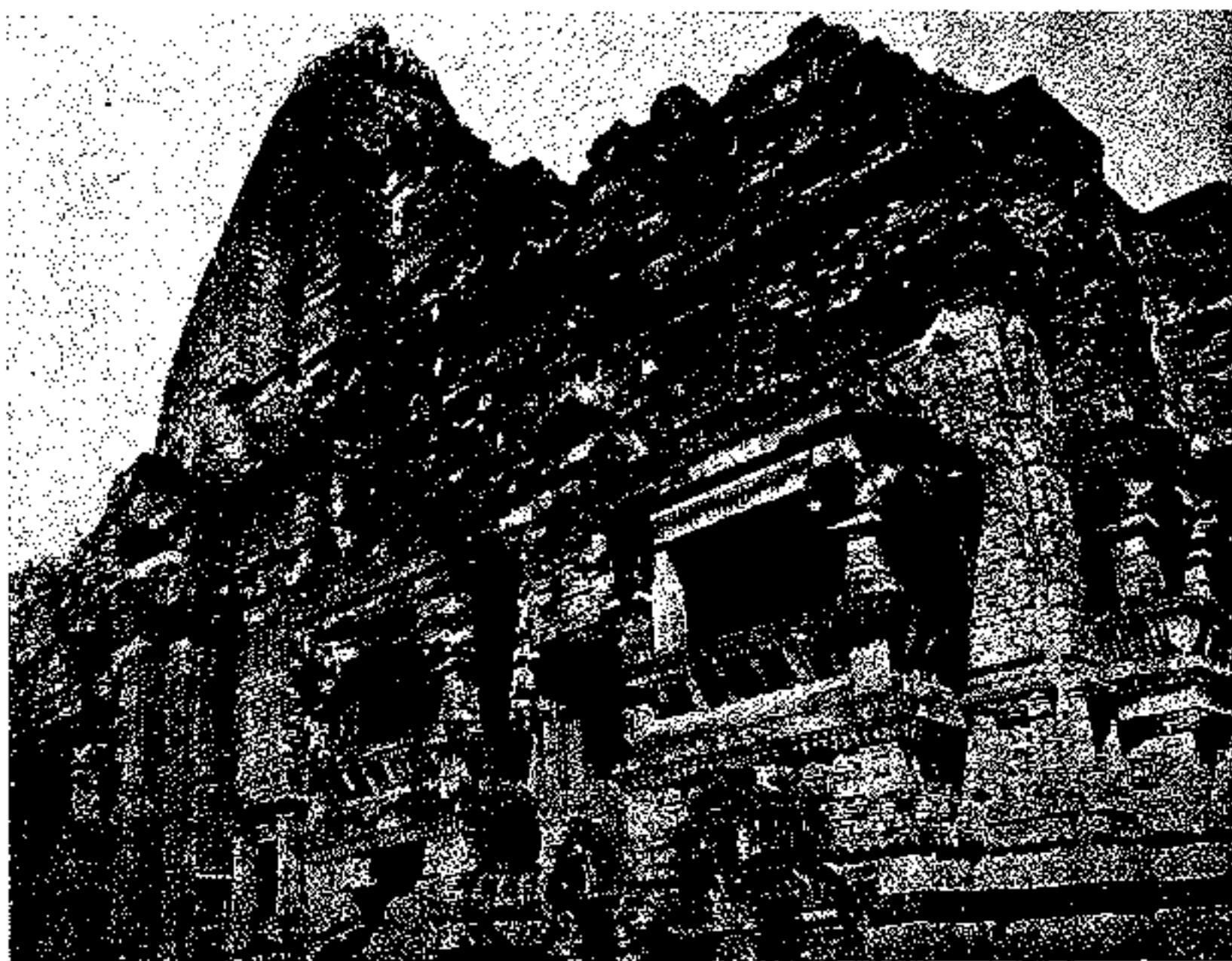
रामपुर संग्रहालय --- सहस्रकृष्ण



(क) खारखपुर — तीर्थकर और दक्षिणा



(ख) खारखपुर — गालावेशी मन्दिर, छलेहुत कीर्ति मूर्ति

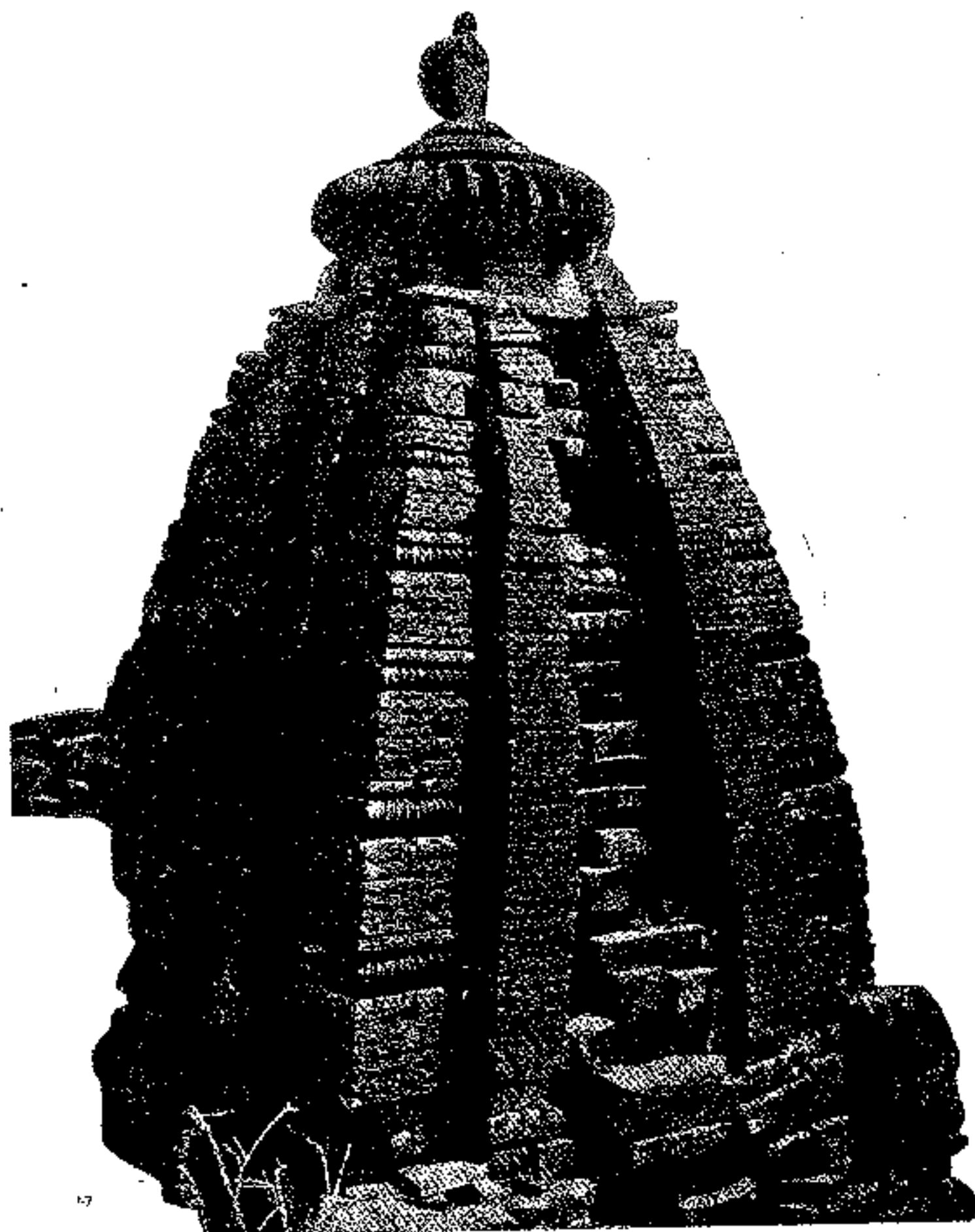


ग्यारसुर — बातेश्वरी मन्दिर



सारस्वती — अमरनाथ चूड़िहिलागर जी महाराज

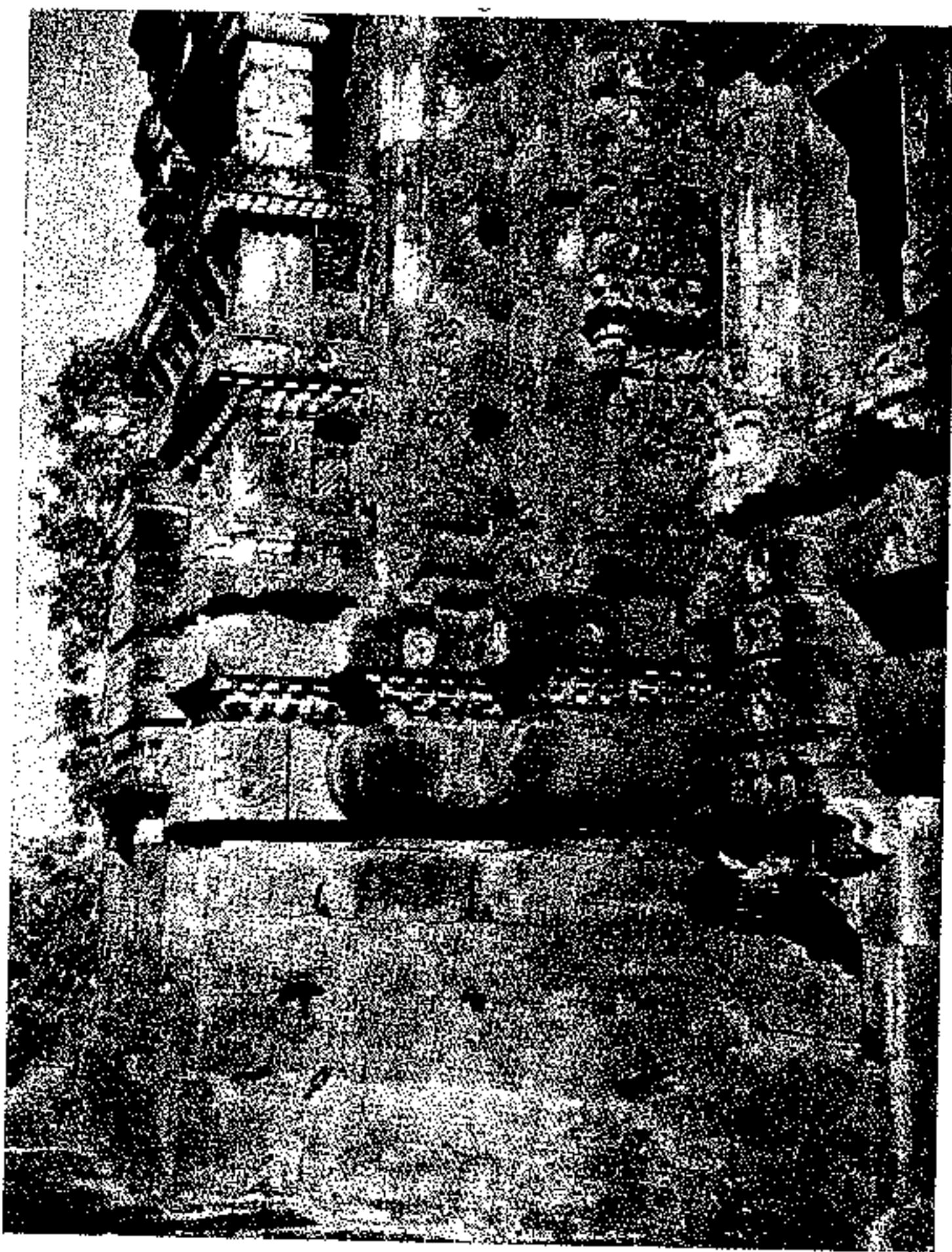
गारसनुर — भाखदेवी मंदिर, मुख-मण्डप



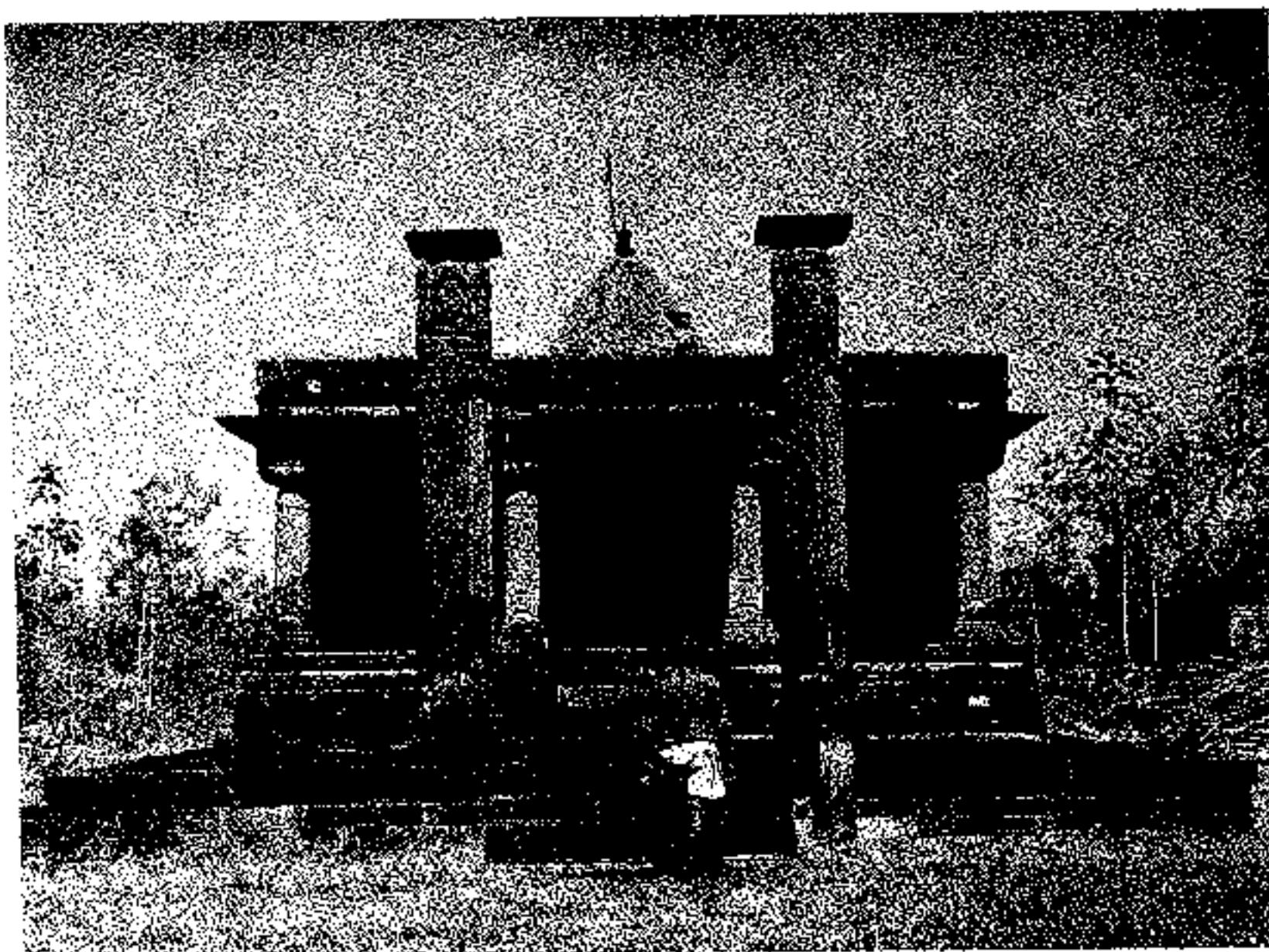
ग्यारसपुर — नालादेवी मंदिर, शिवर

वास्तु-रसायन एवं सूतिकला 600 से 1000 ई.

भाग-4



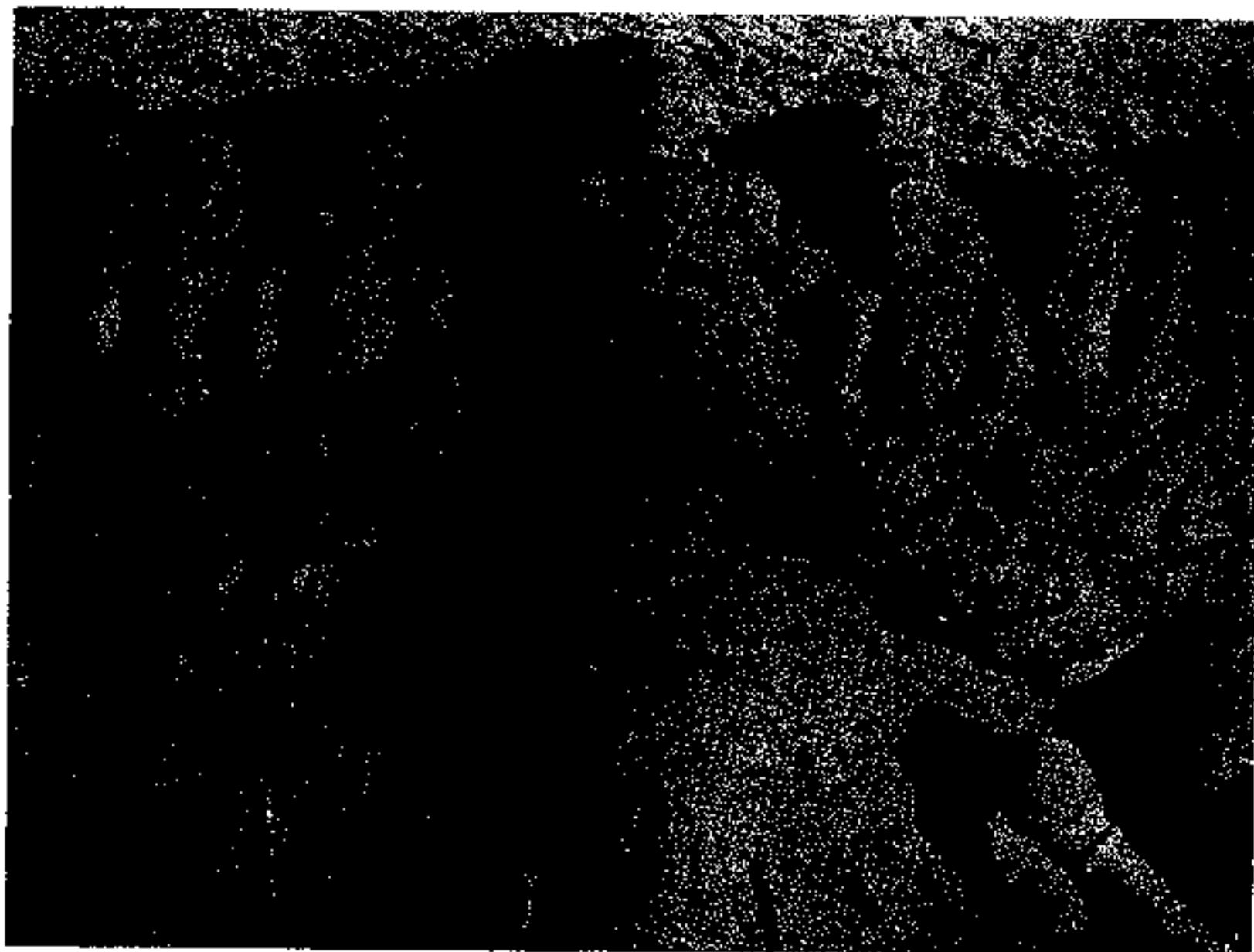
बारपुर — मालादेवी मन्दिर, झंडा।



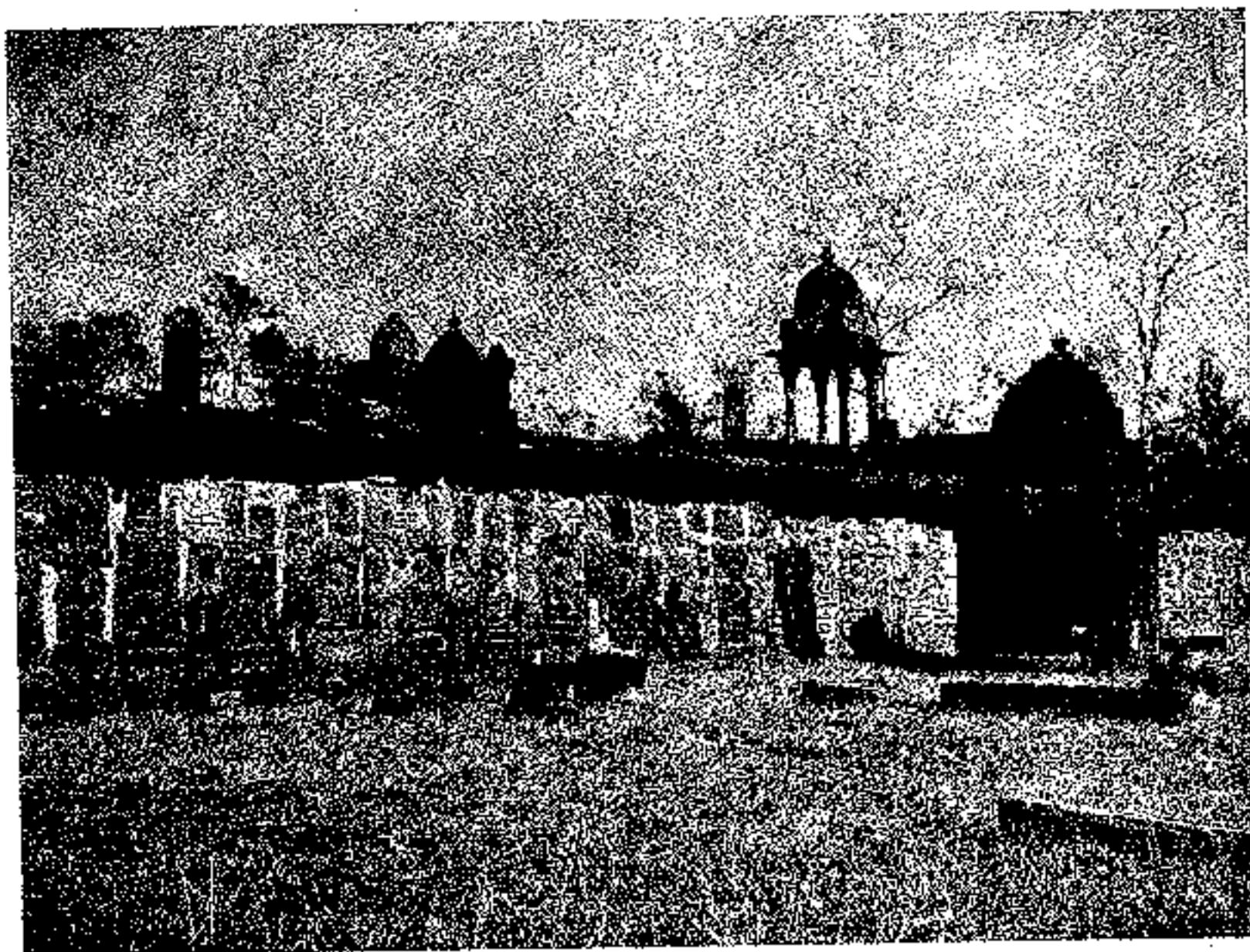
देवराढ़ --- मन्दिर सं० 18

वास्तुस्मारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 ई०

[ भग 4



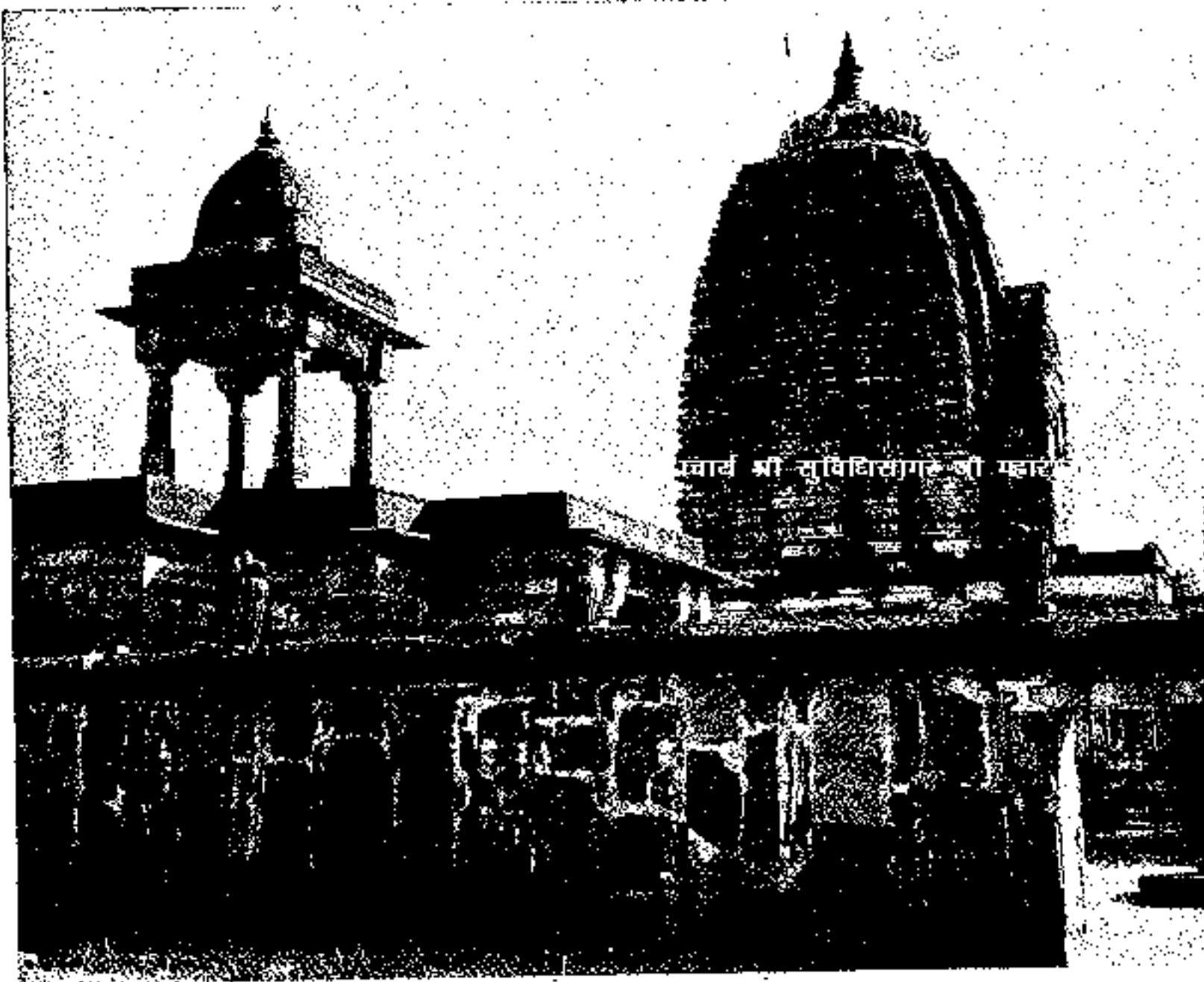
देवधृ — मंदिर सं० 21, आतर-शिल्पाळी



देशमुक — मंदिर सं० 12, वार्षी भाग, प्राकार में जड़ दी गई तीर्थकर मूर्तियाँ

वास्तु-स्मारक एवं मूलिकाला 600 से 1000 ई०

[ भाग 4



देवबद्ध ... मन्दिर सं० 12, शिल्प शोरू परवती छत्ती

अभिलेखों से इनकी निर्माण-तिथि ज्ञात होती है। ये विशाल कक्षीय मंदिर चैत्यवासीय स्थापत्य के नमूने हैं, जो मध्य भारत के रणोद, कद्दाह तथा सुर्वाया जैसे स्थानों के शैव-मठों के अनुरूप हैं। मंदिर क्रमांक ५ एक विशेष प्रकार के शिखर से मण्डित है तथा इसके भीतर एक विशाल सहस्र कूट विद्यमान है। इस मंदिर में विक्रम संवत् ११२० का अभिलेख उत्कीर्ण है। यह मंदिर, मंदिर क्रमांक ३१ के अतिरिक्त, इसी कालखण्ड के अंतर्गत आता है। यहाँ उपलब्ध अनेक बास्तु-प्रवेश और स्तंभ, जिनमें से कुछ मंदिर क्रमांक १२ के आस-पास पड़े हैं, अपनी विशेषताओं के अधार पर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों के हैं।

छोटे तथा पतले शिलाफलकों से निर्मित लघु मंदिर बारहवीं शताब्दी के माने जा सकते हैं। ये हैं मंदिर क्रमांक १८ (चित्र १०५), २१, २५, २६, २७ (ख) तथा ३०। मंदिर क्रमांक २१ में गुणनंदी-समूह के दो अभिलेख हैं, जिनका समय बारहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। इस मंदिर में कुछ प्रतिमाएँ भी स्थापित हैं (चित्र १०६)।

शेष मंदिर क्रमांक ४, ६, ८, १२ (ग) तथा १४ बारहवीं शताब्दी से परवर्ती हैं। इन मंदिरों की प्रमुख विशेषता यह है कि ये ईंट जैसे छोटे-छोटे प्रस्तर-फलकों से निर्मित हैं, जिनकी जिनाई में सामान्यतः चूने का उपयोग हुआ है। मंदिर क्रमांक ६, १३, १५, १८ तथा २० समूहगत मंदिर हैं। विचाराधीन अवधि में ही इनकी मरम्मत की गयी थी और उसी समय मंदिर क्रमांक ४ तथा १५ के आगे प्रवेशमण्डपों का भी निर्माण किया गया। साथ ही, इसमें भी संदेह नहीं कि बहुत-से मंदिरों में बुदेला युग में शक्तिरकालीन स्थापत्य शैली की छतरियों, उपशिखरों, मण्डपों तथा मुण्डरों का अतिरिक्त निर्माण किया गया।

केवल दो मंदिरों, क्रमांक १० और १५ में बास्तु-ग्रालंकरण देखने को मिलता है। दोनों ही मंदिर लौबीं शती के हैं। शेष मंदिर अपनी हारशास्त्राओं को छोड़कर अधिकांशतः ग्रालंकरणविहीन हैं। मंदिर क्रमांक १२ तथा २८ पर रेखा-शिखर हैं। शेष मंदिर अधिकांशतः समतल शिखर-मुक्त विशाल कक्षीय हैं, या फिर वे प्रवेश-मण्डपयुक्त मंदिर हैं जो गुप्तकालीन मंदिरों के समान हैं जिनमें भावत्र एक समतल शिखरमुक्त गर्भगृह तथा प्रवेशमण्डप होता था।

देवगढ़ में मूर्तियाँ, मानस्तंभ और अभिलेख प्रभूत भावा में उपलब्ध हैं। यहाँ पर मंदिरों तथा खुले स्थान में उपलब्ध प्रतिमाओं की संख्या एक हजार से ग्यारह सौ तक के लगभग है। इनमें से एक तीर्थकर-प्रसिद्ध निश्चित रूप से गुप्तोत्तरकालीन (लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दियाँ) है, जबकि लगभग ५० प्रतिमाएँ नौवीं शती की हैं, जिनमें मंदिर क्रमांक १२ और १५ की मूल प्रतिमाएँ भी सम्मिलित हैं। लगभग इतनी ही संख्या में दसवीं शती की प्रतिमाएँ हैं। शेष प्रतिमाएँ अधिकांशतः श्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों की हैं।

मंदिर क्रमांक १२ एक सांखार-ग्रासाद है, जिसमें गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ और अंतराल सम्मिलित हैं। इस मंदिर के चारों ओर एक आधुनिक प्रकार की रचना की गयी है, जिसमें प्राचीन मूर्तियाँ

जड़ दी गयी हैं (चित्र १०७)। गर्भगृह की रूपरेखा पंच-रथ प्रकार की है, जिसमें पंच-रथ प्रकार का ही एक बृहद रेखानशिखर है (चित्र १०८)। शिखर के सामने शुकनास है। इस मंदिर का वाह्य अलंकरण विशिष्ट प्रकार का है, जिसमें जंघाभाग पर जाल-वातावरण और कुड्य एकांतर कम से निर्मित हैं। जालवातावरण में देवकोष्ठ जड़े हैं, जिनके ऊपर उद्गम उत्कीर्ण हैं। जंघा के चारों ओर देवकोष्ठ हैं, जिनमें तीर्थकरों और उनसे संबद्ध २४ यक्षियों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। जंघा के तीनों भद्रों पर घनद्वार चित्रित हैं। जैसा कि अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है, यह मंदिर तीर्थकर शान्तिनाथ को समर्पित किया गया था। मंदिर में तीर्थकर शान्तिनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा स्थापित है, जो पर्वत मोटर से अधिक ऊँची है और गर्भगृह की पूरी ऊँचाई के लगभग है। मूर्ति एक विशाल परिकर से युक्त है, जिसके पास्त्रों में चमरधारियों की स्मिलमुख प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं, जो त्रि-भंग की आकर्षक मुद्रा में खड़ी हुई हैं। इसके अतिरिक्त अंचिका यक्षी की चार पृथक् प्रतिमाएँ हैं, जो चमरधारियों की भाँति मनोरम त्रि-भंग-मुद्रा में खड़ी हैं। इनमें से दो प्रतिमाएँ गर्भगृह के अंतःभाग में स्थित हैं और दो बहिर्भाग में। ये सभी प्रतिमाएँ नौवीं शती की उत्कृष्ट प्रतीहार-शैली में उत्कीर्ण हैं।

मंदिर क्रमांक १५ एक त्रि-पुरुष-प्रासाद (तीन मंदिर का समूह) है। इसका शिखर नष्ट हो चुका है और मूल शिखर के स्थान पर अब बुदेल शैली की एक कुरुप छतरी पढ़ी है। मंदिर का वेदी-बंध नीचा है तथा जंघाभाग सादा है, किन्तु इसपर उद्गमों से आच्छादित कम उभार की उत्कीर्ण मूर्तियों से युक्त देवकोष्ठ हैं। तीनों गर्भगृहों के लिए एक ही नवरंग मण्डप की योजना हुई है। इसमें मुखमण्डप के द्वार से प्रवेश किया जाता है। मण्डप का समतल वितान चार कोंद्रीय स्तंभों तथा बारह कुड्य-स्तंभों पर आधारित है। स्तंभ और कुड्य-स्तंभ-घट-पत्तलव, पद्म-पिण्ड, ताल-वृत्त तथा आमलक जैसे प्रतीहारकालीन विशिष्ट अलंकरणों से सुसज्जित हैं। इसी प्रकार प्रवेशद्वार भी प्रतीहारकालीन विशेष अलंकरणों से अलंकृत हैं जिनमें धण्टा-किकिणि के चित्रण सम्मिलित हैं। इस मंदिर की मूलनायक पद्मासन तीर्थकर-प्रतिमा पूर्व-मध्यकालीन कला की एक श्रेष्ठ कृति है जिसके मुखमण्डप से आतिथक शांति और तपश्चर्चर्या की दीप्ति प्रभासित हो रही है। सूक्ष्म प्रतिरूपण एवं भाव-संयोजन के लिए यह प्रतिमा सारनाथ की गुप्तकालीन बुद्ध की प्रसिद्ध प्रतिमा के समकक्ष है। इस मंदिर के भद्रों पर निर्मित देवकोष्ठों में अकित खड्गासन तथा पद्मासन प्रतिमाएँ भी नौवीं शती की प्रतीहारकला की विशिष्ट कृतियाँ हैं। यह मंदिर शैली के अनुसार मंदिर क्रमांक १२ से लगभग दो दशवा परवर्ती है।

कृष्णदेव



## अध्याय 17

### पश्चिम भारत

पश्चिम भारत में जैन कला की प्रारंभिक कृतियों के रूप में हमारा परिचय उन ६८ कांस्य प्रतिमाओं से है जो बड़ौदा नगर के बाल्य अंचल में अकोटा के भूमिगत भण्डार<sup>1</sup> से प्राप्त हुई हैं और जिनका रचनाकाल पाँचवीं शती के उत्तरार्ध से खारहवीं शती तक निर्धारित किया जाता है। इन प्रतिमाओं में ऋषभनाथ, पार्वतनाथ और अजितनाथ सहित अनेक तीर्थकरों, जीवंतस्वामी, सरस्वती, अच्छुप्ता सथा अंबिका (चित्र १०६) की अनेक सूतियों सहित अन्य यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ सम्मिलित हैं। तीर्थकर-प्रतिमाएँ खड़गासन या पदमासन-मुद्रा में निर्मित हैं तथा उनके पाश्व में सर्वानुभूति यक्ष और अंबिका यक्षी की प्रतिमाएँ अंकित हैं। इनमें से कुछ प्रतिमाएँ त्रि-तीर्थिक (चित्र ११०), षट्-तीर्थिक और अष्ट-त्रि-तीर्थिक तथा एक चतुर्विंशति-मट्ठ (चित्र १११) के रूप में परिष्कृत रचना शैली की प्रतीक हैं। इन ६८ प्रतिमाओं में से ३० अभिलेखांकित हैं, जिनमें से दो प्रतिमाओं पर निश्चित तिथियाँ— शक संवत् ६६१ तथा विक्रम संवत् १००६ भी अंकित हैं। पुरालेखीय एवं शैलीगत अध्ययन के आधार पर इन प्रतिमाओं में से कम से कम २८ का रचनाकाल सातवीं शती से पूर्व का निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार ये प्रतिमाएँ छठी तथा सातवीं शताब्दियों की सजीव कलात्मक गतिविधियों का साथ्य प्रस्तुत करती हैं। पाँचवीं शती के अंतिम चरण की ऋषभनाथ और जीवंतस्वामी<sup>2</sup> की कांस्य प्रतिमाएँ तथा आठवीं शती की निर्धारण करने योग्य तथा चमर-धारिणी<sup>3</sup> की कांस्य प्रतिमा वस्तुतः पश्चिम भारतीय कला की श्रेष्ठतम कृतियाँ हैं।

वल (वलभी) से प्राप्त कांस्य निर्मित तीर्थकर-प्रतिमाओं<sup>4</sup>, जिनका समय पुरालेखीय आधार पर छठी शती निर्धारित किया जा सकता है, की तुलना अकोटा से प्राप्त कुछ समतुल्य प्रतिमाओं से की जा सकती है; यद्यपि, वल (प्राचीन वलभी) से प्राप्त तीर्थकर-प्रतिमाएँ कलात्मक दृष्टि से

1 शाह (उमाकाति प्रेमानन्द), अकोटा बोक्सेज, 1959, बम्बई, [प्रारंभिक कांस्य प्रतिमाओं के विषय में अध्याय 13 में विवेचन किया जा चुका है—संगादक]

2 वही, चित्र ८-९ [अध्याय 13 भी द्रष्टव्य—संपादक]

3 वही, चित्र ४२-४३.

4 वही, पृ. २१, चित्र २१ [अध्याय 13 भी द्रष्टव्य—संपादक]

कुछ स्थूल हैं और उनमें पतली देह-प्रष्टि पर अपेक्षाकृत भारी सिर निर्मित किये गये हैं। बल से प्राप्त प्रतिमाओं का वस्त्रांकन सिरोही<sup>1</sup> जिले में वसंतगढ़ से प्राप्त ६८७ ई० की तीर्थकर की एक सुंदर कांस्य प्रतिमा के वस्त्रांकन का पूर्वरूप है। वसंतगढ़ से ही लगभग ७०० ई० की सरस्वती की खड़गासन-मुद्रा में अंकित एक छोटी-सी ताम्र-प्रतिमा तथा तीन कलात्मक रूप से उत्कीर्ण त्रितीयिक कांस्य प्रतिमाएँ, जिनका समय लगभग सन् ७५० निर्धारित किया जा सकता है, प्राप्त हुई हैं। भिन्नमाल<sup>2</sup> से प्राप्त खड़गासन मुद्रा में दो कांस्य तीर्थकर-प्रतिमाओं का, जिनका समय आठवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है, वस्त्रांकन ६८७ ई० की निर्मित वसंतगढ़ की कांस्य तीर्थकर-प्रतिमा के अनुरूप है, वैसे भिन्नमाल की प्रतिमाओं की रचना कुछ बेड़ौल तथा कलात्मक दृष्टि से निम्नस्तरीय है। इसी स्थान से प्राप्त और इसी काल की निर्मित, पद्मासन-मुद्रा में ऋषभनाथ<sup>3</sup> की कांस्य प्रतिमा उच्च श्रेणी की है, जिसकी तुलना वसंतगढ़ की तिथियुक्त तीर्थकर-प्रतिमा से की जा सकती है।

ओसिया स्थित आठवीं शताब्दी के महावीर-मंदिर की पाषाण-प्रतिमाएँ प्रतिरूपण और स्थूल रचना में सामान्यतः अकोटा तथा वसंतगढ़ की समकालीन कांस्य प्रतिमाओं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, के समान हैं किन्तु सामग्री की विविधता के कारण उनमें स्पष्टतः कुछ अंतर है। सिरोही जिले में नंदिया स्थित सातवीं/आठवीं शती के महावीर-मंदिर के चमरधारी अनुचरों की पाषाण-प्रतिमाएँ<sup>4</sup> प्रतिरूपण की उत्कृष्टता प्रदर्शित करती हैं। भटेकर से प्राप्त पाश्वनाथ की प्रतिमा जो अब गुजरात के चंस्मा स्थित जैन मंदिर में है, शैलीगत रूप से इसी काल की है।

नौवीं शताब्दी की राष्ट्रकूट कला का एक उत्तम उदाहरण हमें धूलिया जिले के चहरदी<sup>5</sup> से प्राप्त कांस्य चतुर्किंशति-पद्म पर ऋषभनाथ की एक सुंदर प्रतिमा के रूप में प्राप्त है। इस प्रतिमा की नेत्र-रचना तथा अनुचरों की आकृतियों के अंकन में कर्णाटक का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अभिलेख के अनुसार यह प्रतिमा चंद्रकुल के प्रद्युम्नाचार्य के एक शिष्य द्वारा स्थापित करायी गयी थी। इस प्रतिमा की समकालीन तथा इन्हीं आचार्य को उनके एक अन्य शिष्य द्वारा समर्पित पाश्वनाथ की एक अन्य कांस्य निर्मित त्रितीयिक प्रतिमा है जिसके पाश्व में गज पर आरुङ् एक यक्ष (भातंग ?) और सिंह पर आरुङ् अंबिका यक्षी अंकित है। यह प्रतिमा जैसलमेर के निकट अमरसङ्गर के जैन मंदिर में प्रतिष्ठित है, जहाँ आज भी उसकी उपासना होती है। राष्ट्रकूट मूर्तिकला अपने उत्कृष्टतम् रूप में ऐलोरा की जैन गुफाओं की प्रतिमाओं से समानता कर सकती है।<sup>6</sup>

1 शाह, पूर्वोक्त, पृ 22, चित्र 19, 49 तथा 72.

2 वही, पृ 22, चित्र 35 ए तथा 35 बी.

3 वही, चित्र 29 ए.

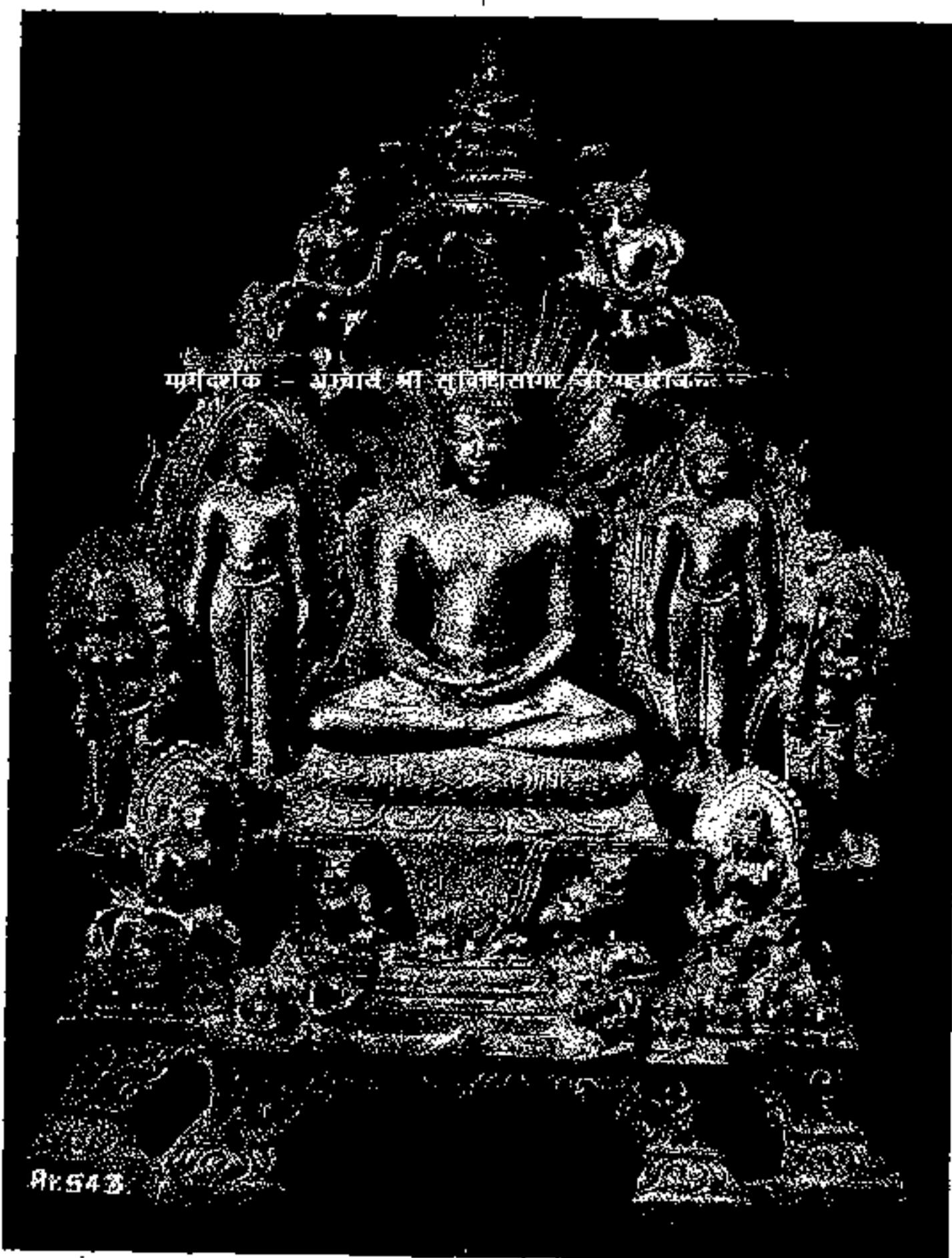
4 कमरिल (स्टेला). स्टार्ट ग्रॉफ इण्डिया, चित्र 54.

5 शाह, पूर्वोक्त, पृ 24, चित्र 7.

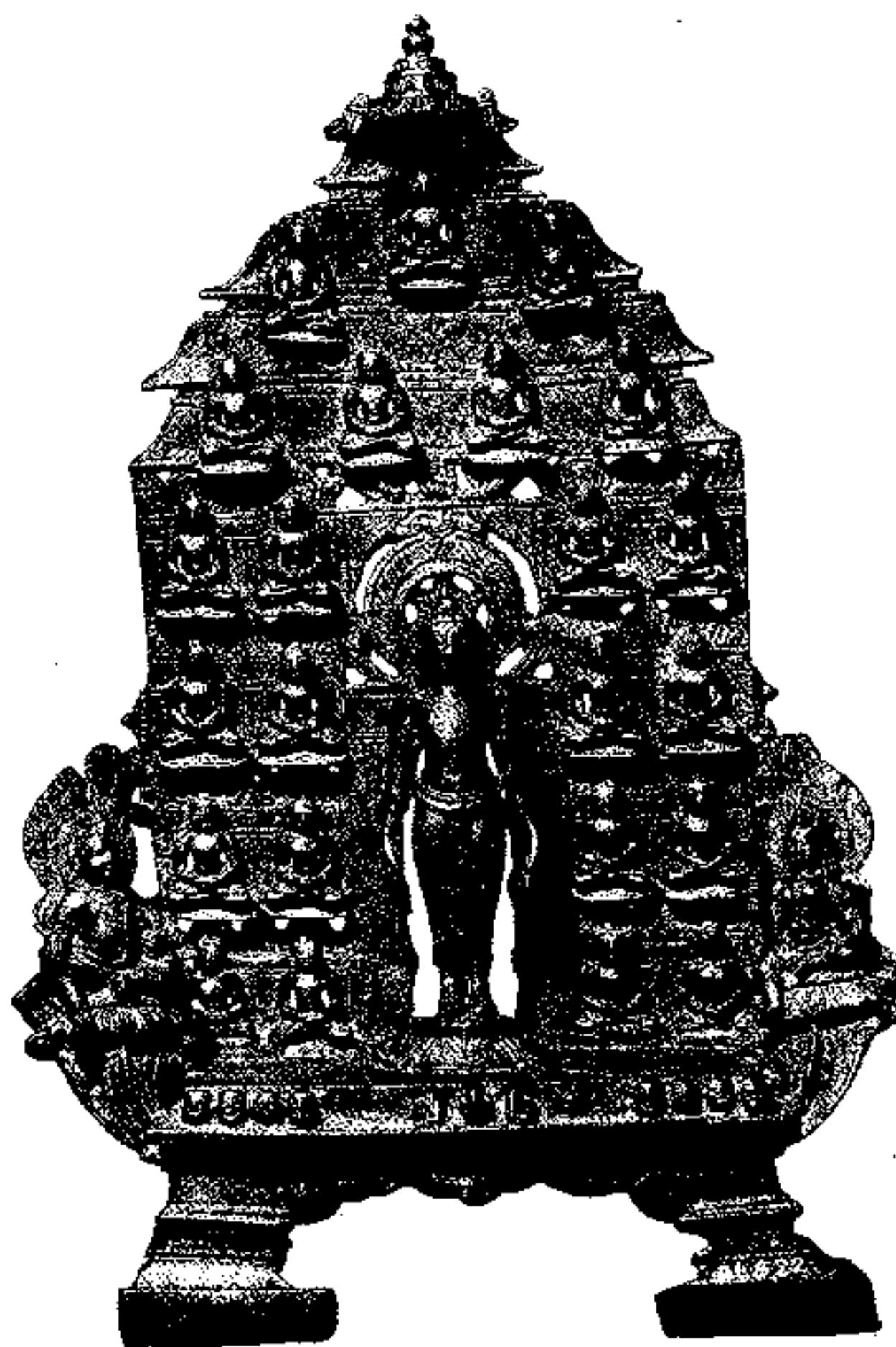
6 [इसका विवेचन अध्याय 18 में किया गया है—संपादक]



अकोटा — अम्बिका यक्षी, कांस्य मूर्ति (बड़ीदा संग्रहालय)



अकोद्ध — तीर्थंकर पारब्रह्मनाथ, कोस्त मूर्ति (खड़ीदा संग्रहालय)



अलोटा .... चतुर्विशति-कांस्य पट्ट (बड़ीदा संग्रहालय)



बड़ोटा -- चमरश्वारिली, काश्य पूर्णि (बड़ोटा मण्डपालय)

अंकोटा, बलभी, वसंतगढ़ और भिनमाल में उपलब्ध जैन प्रतिमाओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छठी-सातवीं शताब्दियों में इन स्थानों पर जैन मंदिर विद्यमान थे। अंकोटा से प्राप्त सातवीं शताब्दी की अभिलेखांकित पाश्वनाथ की प्रतिमा के लेख से ज्ञात होता है कि यह मूर्ति रथ-वस्तिका में प्रस्थापित की गयी थी। इसी स्थान से प्राप्त और लगभग सन् १००० की एक अन्य अभिलेखांकित ऋषभनाथ की प्रतिमा के लेख से ज्ञात होता है कि वह द्रोणाचार्य द्वारा अंकोटुक-वस्तिका में प्रस्थापित की गयी थी। इस प्रकार रथ-वस्तिका और अंकोटुक-वस्तिका अंकोटा स्थित जैन मंदिरों के नाम थे, जहाँ अभिलेखों के अनुसार लगभग छठी शताब्दी के प्रमुख जैनाचार्य जिनभद्र वाचनाचार्य द्वारा भी प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं।

जैन साहित्य से ऐसे अनेक जैन मंदिरों के अस्तित्व का संकेत मिलता है, जो आज नष्ट हो चुके हैं। बताया जाता है कि बनराज-चाषोत्कट ने पंचासर के तीर्थकर पाश्वनाथ की प्रतिष्ठा हेतु अनहिलबाड़ पाटन में बनराज-विहार की स्थापना करायी थी, जहाँ उसके भंडी निष्ठ ने, जो राज्यपाल विमल का पूर्वज था, सन् ७४६ के लगभग तीर्थकर ऋषभनाथ की प्रतिष्ठा में एक मंदिर बनवाया था। निष्ठ ने चंद्रावती में भी एक जैन मंदिर का निर्माण कराया था। लगभग उसी अवधि में द्वट्टेवर-सूरी की प्रेरणा से उत्तर-पश्चिम गुजरात के धराड़ नामक स्थान पर ऋषभ-मंदिर का निर्माण किया गया। जिनसेन ने अपने हरिर्वश पुराण नामक ग्रंथ का लेखन सन् ७५३ में वर्धमान (वध्वन) स्थित पाश्वनाथ मंदिर (वशराजवस्ति) में रहकर किया था। इस ग्रंथ में दोस्ततिका स्थित शांतिनाथ के मंदिर और गिरनार पहाड़ी पर स्थित अंदिका के मंदिर का उल्लेख मिलता है। आठवीं शताब्दी में प्रभास नामक स्थान पर तीर्थकर चंद्रप्रभ के दिगंबर और द्वेतांबर मंदिर विद्यमान थे। दिगंबर आमनाय ने ऊन नामक नगर में पाश्वनाथ-मंदिर तथा खंभात में एक अन्य जैन मंदिर का निर्माण कराया था।

बताया जाता है कि उद्घोतन-सूरि के पूर्ववर्ती यक्षदस्त-गणि ने पश्चिम भारत में जैन मंदिरों का निर्माण कराया जिनमें भिनमाल के मंदिर भी सम्मिलित हैं। उद्घोतन-सूरि ने अपने कुवलय-माला नामक ग्रंथ का समापन सन् ७७६ में जालीर स्थित श्रादिनाथ के अष्टापद-प्रासाद में किया था। हरिभद्र-सूरि के समय आठवीं शताब्दी में चित्तौड़ में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ था। जयसिंह-सूरि (सन् ८५६) के अनुसार नागौर में भी जैन मंदिर विद्यमान थे।

ध्यकाल के पूर्वार्ध में पश्चिम भारत के विभिन्न राज्य-वंशों के शासकों में जैन धर्म को संरक्षण देने तथा जैन मंदिरों के निर्माण और उनके संचालन के लिए अनुदान देने में प्रतिस्पृही रहा करती थी। प्रतीहार नागभट-प्रथम (लगभग ७५०-८६) ने जालीर में अपने गुरु यक्षदत्त-गणि के सम्मान में यक्ष-वस्ति नामक जैन मंदिर का निर्माण कराया था। साचोर और कोरता के प्रसिद्ध महावीर-मंदिरों को भी परंपरागत मान्यताओं के अनुसार यक्षदस्त-गणि से संबंधित बताया जाता है। अध्याय १४ में उल्लिखित ओसिया स्थित महावीर-मंदिर का निर्माण प्रतीहार बत्सराज (लगभग ७७२-८३) द्वारा

कराया गया था। उसके उत्तराधिकारी नागभट-द्वितीय (सन् ७६३-८३३) ने अपने गुरु बप्पभट्टि-सूरि का सम्मान किया और कन्नौज तथा गोपगिरि में जैन मंदिरों का निर्माण कराया। बप्पभट्टि-सूरि के शिष्य नन्न-सूरि और गोबिद-सूरि का प्रतीहार सम्राट् मिहिर भोज (लगभग ८३६-८५२) द्वारा उचित स्वागत-सम्मान किया गया था। मंदौर के प्रतीहार कक्षकुकराज द्वारा सन् ८६१ में घटियाला नामक स्थान पर जैन मंदिर का निर्माण कराया गया था। मेवाड़ के गुहिल भर्तुभट-प्रथम ने भटेवर नगर में, जिसकी उसने लगभग सन् ८३० में स्थापना की थी, शुहिल-विहार का निर्माण कराया। हठौड़ी के राष्ट्रकूट शासकों में विद्यराज ने हठौड़ी में सन् ८१७ में शृष्टभ-मंदिर का निर्माण कराया था तथा उसके पुत्र मम्पट और प्रपौत्र घवल ने इस मंदिर की व्यवस्था और पुनर्निर्माण के लिए अनुदान दिये।

दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रघुसैन नामक एक राजकुमार ने उत्तर-पश्चिम गुजरात के रामसैन नामक स्थान पर एक जिन-भवन का निर्माण कराया। किन्तु गुजरात के चौलुक्य शासकों द्वारा कराये गये निर्माण-कार्य इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। मूलराज-प्रथम (८४२-८५) ने अनहिलवाड़ पाटन में दिगंबर आमाय के लिए मूल-वसतिका तथा श्वेतांबरों के लिए मूलनाथ-जिनदेव-मंदिर का निर्माण कराया था। उसके उत्तराधिकारी चामुण्डराज ने सन् ८७७ में बदसन स्थित जैन मंदिर को अनुदान दिया था। उत्तरवर्ती चौलुक्य नरेशों द्वारा कराये गये निर्माण-कार्यों का विवेचन यथास्थान आगामी अध्याय में किया जायेगा।

कृष्णदेव

## अध्याय 18

### दक्षिणापथ

#### ऐतिहासिक पूष्टभूमि

विध्याचल से दक्षिणवर्ती भारत के इतिहास में छठी शती के उत्तराधि से ग्यारहवीं शती तक पाँच सौ वर्ष लंबा समयांतराल अत्यंत घटनाशील रहा है क्योंकि इस काल में मंदिर-स्थापत्य तथा सूति, चित्र एवं अस्त्र संबद्ध कलाओं का उद्भव और विकास अपने चरम उत्कर्ष पर जा पहुँचा, विध्य सीमा से पार यह दक्षिणवर्ती भू-भाग तीन उन्नत राज्यों की सार्वभौमिकता में आता था — दक्षिणापथ में चालुक्य राज्य जिसकी राजधानी वातापी (वादामी) थी, पूर्ववर्ती तटीय क्षेत्र में पल्लव राज्य जिसकी राजधानी कांची थी एवं सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य राज्य जिसकी राजधानी मदुरै थी। तीनों राज्य न केवल राजनीति वरन् स्थापत्य, सूति, चित्र, संगीत तथा नृत्य कलाओं और साहित्य में भी परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे। एक और जहाँ चालुक्य नरेश पुलकेशी (६०६-४२) ने हर्षवर्द्धन के दक्षिणी राज्य-विस्तार को सफलतापूर्वक रोके रखा, वहीं दूसरी ओर पल्लव राजा नरसिंहमैन-प्रथम भासल्ल (६३०-६८) ने पुलकेशी को परास्त करके बारह वर्ष तक वातापी को अपने अधीन रखा। उधर पाण्ड्य नरेश पल्लव राजाओं के दक्षिणी विस्तार को रोकने के साथ-साथ निकटवर्ती श्रीलंका में अपनी राज्य-सत्ता फैलाने में सफल हो गये थे। पूर्वी चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग, मुत्तरेयार, नोलंब, इरुक्कुवेल-जैसे छोटे-छोटे राज्य बड़े राज्यों के मिश्रराष्ट्र या उनके अंतस्थ राज्य के रूप में विभाजित थे। इन राज्यों का भी तत्कालीन कलात्मक एवं साहित्यिक परंपराओं और उपलब्धियों में अपना योगदान रहा। जब पल्लव और पाण्ड्य सत्ताएँ नौवीं शती के मध्य तक अपने-अपने क्षेत्रों में अखंड प्रभुत्व संपन्न बनी रहीं, वातापी के चालुक्य राजाओं में सत्ता का विभाजन हो गया था। पुलकेशी-द्वितीय के अंतिम दिनों में उसके भाई कुब्ज विष्णुवर्धन (६२४-४१) ने चालुक्य राज्य से पृथक् होकर आंध्र के तटीय क्षेत्रों में स्वतंत्र सत्तावान् पूर्वी या बैंगी चालुक्य राज्य स्थापित किया था। इसके उपरांत वातापी की राज्य सत्ता आठवीं शती के मध्य में राष्ट्रकूट राजाओं के हाथ में चली गयी, जिन्होंने मान्यसेट (मल्लेड) को अपनी राजधानी बनाया। दूसरी ओर, तीवीं शती के मध्य में सुदूर दक्षिण की पल्लव एवं पाण्ड्य सत्ताओं पर तंजीर के चोल-सम्राटों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। ग्यारहवीं शती के आगमन तक दक्षिण में सार्वभौम सत्ता और कला एवं स्थापत्य के सृजन के लिए केवल दो ही प्रतिद्वन्द्वी थे—राष्ट्रकूट एवं चोल राज्य; बैंगी चालुक्य राज्य की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से गौण थी।

जिस काल के राजनीतिक घटनाक्रम का यहाँ विवरण दिया गया है उसी काल में इक्षिण में शैव नायनमार तथा वैष्णव आलंकार के भवित्पर्थों की बढ़ती लोकप्रियता से जैन धर्म के उत्कर्ष को चुनौती का सामना करना पड़ा था। शैव नायनमार तथा वैष्णव आलंकार-संत, कवि एवं संगीतज्ञ, तमिलनाडु एवं सीमाकर्ती क्षेत्रों में अधिक लोकप्रिय थे, किन्तु कन्नड़ और तेलुगु प्रदेशों में इन दिनों जैन धर्म लुप्तप्राय बोद्ध धर्म के स्थान पर अधिक लोकप्रियता पा रहा था। अनेक राजवंशों के नरेश जैन धर्म का पालन करते थे और उनमें से अनेक ने जैन धर्म को राजधर्म भी बनाया था; अन्य राजा जैन धर्म को प्रश्रय देने के साथ-साथ इससे संबद्ध किया-कलापों एवं संस्थाओं के प्रति उदार थे। उत्पादकों, शिल्पियों एवं वर्षिक धर्म के सामूहिक समाज (संघ) भी इसी प्रकार सभी आग्नायों के मंदिरों तथा धार्मिक संस्थाओं के संरक्षक थे। राजकीय प्रश्रय के अभाव में यह संरक्षण बहुधा और भी अधिक सक्षम सिद्ध होता था तथा कई उदाहरणों में राजकीय प्रश्रय का स्थानापन्न होता था। जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र श्रवणबेलगोला (तमिल जैनों में बप्पारम और अरुकुडम् के नाम से विदित) था। परंपरानुसार अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु (जिनका समय इसकी सन् से भी पूर्व का है) से संबद्ध यह स्थान महान् कुंदकुंदाचार्य का स्थल और प्रथम शती ईसवी में उनकी कुंदकुंदाचार्य परंपरा का केन्द्र रहा। तदुपरांत, अर्हदबली ने मूलसंघ को चार बगों में विभाजित किया, जिनके नाम हैं : नंदि, सेन, देव, एवं सिंह। प्रत्येक संघ पुनः गच्छों एवं गणों में विभाजित था। इसी समय बजानंदी द्वारा द्रविड़ संघ की स्थापना की गयी जिसकी शाखाएँ समस्त तमिलनाडु में थीं और यह संघ श्रवणबेलगोला के मूलसंघ से भी संबद्ध था।

जैन गुरुओं के मुख्य अधिष्ठान पहाड़ी उपत्यकाओं में हुआ करते थे, जिनमें प्रायः प्राकृतिक गुफाएँ या ओटें होती थीं ; जन साधारण की पहुँच से दूर इन स्थानों में कहीं कोई भरना या पहाड़ी भील मिल जाती थी, (अध्याय ६)। बारहवीं शती तक इस प्रकार के अनेक स्थल उपयोग में लाये जाते रहे। प्राकृतिक गुफाओं में प्रायः इंटों से मंदिरों का निर्माण कर लिया जाता था जिनमें स्थापत्य कला के विशिष्ट अवयव होते थे। इन मंदिरों में प्लास्टर तथा रंगों का भी प्रयोग किया जाता था। इस श्रेणी के सातवीं-आठवीं शताब्दियों के निर्मित मंदिर निकट अतीत में ही प्रकाश में आये हैं। इनके भग्नावशेष उत्तर अकाटि जिले में तिरकोल और आममिलै में उपलब्ध हुए हैं जिनमें से आममिलै के खण्डहरों में एक और शितल्लवासल से टक्कर लेते हुए तथा दूसरी और ऐलोरा की जैन चित्रकला से मेल खाते हुए चित्रों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। चिंगलपट जिले में बलिमलै, श्रवणबेलगोला की चंद्रगिरि पहाड़ी पर गुफा-मंदिर एवं अन्य जिलों में इसी प्रकार के अनेक उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। उत्तर-अकाटि में तिरुमलै का मंदिर सबसे बड़ा मंदिर है। इसकी रचना में चोल तथा राष्ट्रकूट स्थापत्य शैलियों के संरचनात्मक तर्द लम्बाविष्ट हैं और साथ ही दोनों शैलियों की मूर्ति एवं चित्रकला के अंश भी विद्यमान हैं। बलिमलै की प्राकृतिक कंदराओं में से एक के वितान पर उत्कीर्ण तीर्थंकर की मूर्ति युक्त मंदिर जिसे अब सुञ्जहार्ण्य मंदिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है तथा दूसरी कंदरा में ज्वालामालिनी यक्षी का मंदिर उक्त शैली के उल्लेखनीय उदाहरण है।

छठी शती के अंतिम चतुर्थांश में राजकीय प्रथय के अंतर्गत ब्राह्मण एवं जैन धर्मों के धार्मिक प्राप्तादों के निर्माण में चट्टान तथा प्रस्तार के विशेष प्रयोग से एक नये युग का सूत्रपात्र हुआ। ५७८ में चालुक्य मंगलेश ने बादामी में स्थानीय चिकने बलुए पत्थर की चट्टानों में विष्णु की समर्पित गुफा-मंदिर शैलोत्तरीय पारदर्शन की।

### गुफा-मंदिर

चालुक्यकालीन गुफा-मंदिरों में आयताकार स्तंभयुक्त बरामदा<sup>१</sup> या मुखमण्डप, एक न्यूनाधिक वर्गाकार स्तंभयुक्त कक्ष या महामण्डप और लगभग वर्गाकार गर्भगृह होते हैं। ये मण्डप-शैली के मंदिरों के उदाहरण हैं जिनमें उर्ध्वस्थ चट्टान के मुख पर एक के बाद दूसरे कक्ष निर्मित होते हैं। बादामी पहाड़ी शिखर के उत्तरी ढाल पर उत्कीर्ण चार मंदिरों से से अंतिम (जो कालक्रमानुसार भी अंतिम है) और सर्वोत्कृष्ट एक जैन मंदिर सातवीं शती के मध्य में उत्कीर्ण ऐसे जैन मंदिरों का एक-मात्र उदाहरण है (चित्र ११३ क)। यहाँ निर्मित अन्य तीन ब्राह्मण मंदिरों की रूपरेखा के समान होते हुए भी जैन मंदिर आकार में लघुतम किंतु अलंकरण में सर्वोत्कृष्ट हैं। स्तंभीय अवधारण के नीचे सामने की ओर एक छोटा-सा चबूतरा है और अपरिलकृत बहिर्भाग के ऊपर एक कपोत है जिसके नीचे का भाग चिकना और घुमावदार है। कपोत के बीच में कुबेर की आकृति उत्कीर्ण है। मुखमण्डप के अवधारण में चार स्तंभ हैं और दोनों कोनों पर दो भित्ति-स्तंभ हैं। बीच के दो सानेदार स्तंभ चालुक्य शैली और उसके प्रतिरूपों की प्रमुख विशेषतानुसार अधिक सज्जा से बनाये गये हैं। अन्य गुफाओं की तुलना में, इन बृहदाकार स्तंभों के वर्गाकार आवार-भाग में कलापिण्ड उत्कीर्ण हैं जिनमें कमल, मिथुन युगल, लता-वल्लरियाँ तथा मकर-वल्लरियाँ अंकित हैं। इन स्तंभों के सुनिर्मित शिखर, पल्लव-शैली की भाँति कलश, (पुष्पासन) और कुम्भ के अलंकरण युक्त हैं। इन कलशों के अवधारण में मिथुन-युग्म उत्कीर्ण हैं और बहिर्भाग में कपोत की विपरीत दिशा में मुँह द्वाये व्याल-युक्त नारी-स्तंभ हैं। परिकारे या धरने चालुक्य शैलीकृत दुहरे स्तर की हैं और निचला भाग दुहरे घुमाव (कुण्डलित) बाला है अन्तः एवं बाह्य मण्डपों के मध्य चार स्तंभ तथा दो भित्ति-स्तंभ और हैं। मुख मण्डप की छत आड़ी कढ़ियों द्वारा पाँच खण्डों में विभक्त है। मध्य खण्ड में विद्याधर युगल की बड़ी मूर्ति उत्कीर्ण है। महामण्डप के केवल तीन प्रवेशद्वार हैं। दोनों ओर के दो स्तंभों और भित्ति-स्तंभों के बीच का भाय एक ओट भित्ति से बंद कर दिया गया है। आड़ी धरनों द्वारा तीन खण्डों में विभक्त छत के मध्यभाग में एक दूसरा विद्याधर युगल अंकित है। मंदिर के प्रवेशद्वार तक पहुँचने के लिए अंतःमण्डप की पिछली मिति के मध्यभाग में तीन शैलोत्कोर्ण सोपान और एक चंद्रशील का प्रावधान है (चित्र ११३ ख)।

प्रवेशद्वार पाँच चितकबरी शाखाओं के पक्षों से निर्मित है। यह चालुक्य शैली की एक विशेषता है। मुड़े हुए कपोत सरदल पर कुछ अलंकरणयुक्त लघुमंदिरों के प्रतिरूपों की उत्तरांग शृंखला बत्ती हुई है; जिनमें शालाएँ, द्वितल मण्डप या अद्वालिकाएँ हैं। शाला-मुख पर तीर्थकर

मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मध्यभाग की रूपरेखा कुछ तोरण की है जिसके शीर्ष पर उदगम रूप का अर्ध-तोरण है। ऊर के आलों में तीर्थकरों की तीन पद्मासन मूर्तियाँ हैं जिनके दोनों ओर चमरधारी हैं। प्रवेशद्वार के दोनों पक्षों के आधार-भाग में द्वारपाल फलक हैं। गर्भगृह में तिहासन पर प्रतिष्ठित महावीर की मूर्ति है, जिससे गर्भगृह के पीछे का अधर्मिक श्वेत धिर गया है। दोनों मण्डपों के शिरों की भित्तियों के आलों में गोमटेश्वर (चित्र ११४ क) एवं तीर्थकरों – पाश्वनाथ (चित्र ११५) तथा आदिनाथ (चित्र ११४ ख) इत्यादि – की मूर्तियाँ हैं जिनके घटुदिः प्रभावशः हैं। जिसपे चौबीस तीर्थकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। चार मूर्तियाँ ऊपरी भाग में, अठारह लघु मूर्तियाँ पाश्वों में, प्रत्येक और नीनों, तथा शेष दो अपेक्षाकृत बड़ी और काषोत्सर्ग मूर्तियाँ प्रभावली के स्तंभ-तोरण के प्रत्येक आधार-भाग में उत्कीर्ण हैं। मुख्य प्रतिमा के दोनों ओर यक्ष-यक्षी शासनदेवता के रूप में विद्यमान हैं। परवर्ती मूर्तियाँ, जो खड़गासन-मुद्रा में हैं अविकांशतः तीर्थकरों की हैं स्तंभों और भित्ति-स्तंभों के चतुर्दिक छेत्री से कुरेकर या उकेरकर खोखला करने की विधि से बनायी गयी हैं। कुछ उदाहरणों में स्तंभों के शीर्षभाग का संपूर्ण क्षेत्र जड़े हुए गोमेद रत्नों की भौति तीर्थकरों लघु मूर्तियों से मण्डित है जिसमें महावीर की अपेक्षाकृत बड़ी मूर्ति केन्द्रीय भाग में उत्कीर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुफा-मंदिर के निर्माणोपरांत अधिक अलंकरण हेतु ये सज्जाएँ की जाती थीं।

ऐहोले किसी समय एक वाणिज्य-प्रधान महानगर एवं 'अनिन्द्र पञ्चशतों' का प्रमुख केंद्र था। यहाँ की मेगुटी पहाड़ी के दक्षिण-पूर्वी भाग में मेनावस्ति जैन गुफा-मंदिर (चित्र ११६ क) है। यह सातवीं शती के अंत तथा आठवीं शती के प्रारंभ में तनिक भिन्न संरचनात्मक योजनानुसार बना था। यहाँ के रावलगुड़ी बाह्याष्य गुफा-मंदिर के सदृश इसमें भी सादे वगाकार अंतरालयुक्त स्तंभों के पीछे एक संकीर्ण मण्डप है। स्तंभों के केन्द्रीय अंतराल को छोड़कर शेष को चौकोर प्रस्तर-खण्डों द्वारा बंद कर दिया गया है। मण्डप की बायीं पाश्व भित्ति पर पाश्वनाथ की मूर्ति अपने शासनदेवों – धरणेन्द्र एवं पद्मावती – तथा अन्य अनुचरों के साथ उत्कीर्ण है। अंतःमण्डप वगाकार कक्ष की भौति है जिसमें दो पाश्व मंदिर हैं जो इसकी पाश्व भित्तियों में उकेरकर बनाये गये हैं। महावीर को समर्पित बायीं और का मंदिर वस्तुतः अपूर्ण है। इसमें कई परिचारकगण भी हैं जो अर्धनिमित प्रतीत होते हैं। पिछले मंदिर में प्रवेश के लिए दो स्तंभों से निर्मित तीन अंतःमार्ग हैं जिनके सम्मुख ऐसीकैटा शैली के समरूप ऊँची पगड़ीवाले दो द्वारपाल एक वामन पुरुष तथा स्त्री-अनुचर के साथ खड़े हैं। बादामी गुफा-मंदिर के सदृश इस मंदिर में महावीर की पद्मासन प्रतिमा है।

ऐहोले की इस पहाड़ी की अधित्यका के ठीक नीचे और मेगुटी मंदिर के निकट ही एक और द्वितीय गुफा-मंदिर है जिसका कुछ भाग निर्मित रखा है तथा कुछ शैलोत्कीर्ण (चित्र ११६ ख); या यह भी हो सकता है कि इस रूप में यह प्राकृतिक गुफा ही हो। इसमें दो ऊपर से बनाये गये मण्डप हैं जिनमें से प्रत्येक के आगे चार स्तंभ, दो वगाकार भित्ति-स्तंभ और साढ़ी बक्क धरने हैं। ऊपरी मण्डप की छत के मध्य में वस्त्रधारी तीर्थकर की लघु मूर्ति पद्मासन-मुद्रा में उत्कीर्ण है जिसके

शीर्ष पर छत्र-ब्रह्म है। उसी मण्डप के एक सिरे पर एक सम्बाकथा है जिसमें आंशिक रूप में शैलोत्कीर्ण तीन मंदिर हैं और थोड़ा नीचे की ओर एक और मंदिर आरभिक स्थिति में है। निचले तल के गर्भगृह की ओर जानेवाले द्वार की चौखट, अलंकृत बहुशास्त्र प्रकार की है। इसकी रूपरेखा लगभग मेनावस्ति मंदिर के सदृश है तथा पशु, मानव, एवं पञ्चपुष्पादि के चित्रण से विशुद्ध रूप में लगभग मेनावस्ति मंदिर के सदृश है तथा पशु, मानव, एवं पञ्चपुष्पादि के चित्रण से विशुद्ध रूप में सज्जित है। द्वार-चौखट के उत्तरांग पर दक्षिण शैली में लघु मंदिर भी अंकित किये गये हैं। स्तंभों और बाहर की बहान पर उत्कीर्ण अभिलेखों में अधिकांशतः व्यक्तियों के नाम मात्र हैं। इन अभिलेखों तथा बास्तु शैली से इस गुफा-मंदिर की तिथि सातवीं शती निर्धारित की जा सकती है।

मेगृटी पहाड़ी की पश्चिमी ढलान पर शैलोत्कीर्ण छोटे-से जैन मंदिर में मुख्यतः गर्भगृह और एक सादा मुख्यमण्डप है। मंदिर का प्रवेशद्वार विशाल शैली का है जिसके द्वारा मुख्यमण्डप में होते हुए गर्भगृह में प्रवेश किया जा सकता है। मूर्ति के पादपीठ के मुखभाग पर अंकित सिंह-प्रतीक तथा अन्य विवरणों से प्रतीत होता है कि भूतिका में प्रस्थापित पद्मासन मूर्ति महादीर की थी जो अब नष्ट हो गयी है। पूर्वोक्त छित्र मंदिर की भाँति इदं मंदिर की तिथि भी सातवीं शताब्दी मानी जायेगी।

राष्ट्रकूट नदीशों के सप्तांग्रहण के साथ-साथ स्थापत्य कला की गतिविधि का प्रमुख केन्द्र एलापुर वा एलोरा की ओर हो गया था। एलोरा में उत्कीर्ण वौद्ध तथा ब्राह्मण्य गुफाओं के पश्चात् शैलोत्कीर्ण जैन गुफा मंदिरों की एक शृंखला है, साथ ही यहाँ इकहरे विशालमण्डप पर उत्कीर्ण विमान की प्रतिकृति, पूर्ववर्ती तथा विशाल ब्राह्मण्य कैलास की अनुकृति पर बताया गया 'छोटा कैलास', तथा इसकी ओर भी छोटी अनुकृति इंद्रसभा के प्रांगण में है। एलोरा की गुफाओं में ऐसी शैलोत्कीर्ण जैन गुफाओं की संख्या ३० और ४० तक है, जो एलोरा पहाड़ी के उत्तरी भाग में हैं और दुमलेना नामक विशाल ब्राह्मण्य गुफा से लगभग १२०० मीटर उत्तर में हैं। यह गुफा-मंदिर निर्माण की विभिन्न स्थितियों में मिलते हैं। इनकी रूपरेखा, शैली और अभिलेखों से स्पष्ट है कि ये मंदिर आठवीं शताब्दी के अंत अथवा नौवीं शताब्दी के प्रारंभ में उत्कीर्ण किये गये थे और बाद में भी इनका निर्माण-कार्य चलता रहा था।

जैन मंदिर-शृंखला में इंद्रसभा (गुफा ३२) एवं जगन्नाथसभा (गुफा ३३) विशेष उल्लेखनीय और भव्य हैं। इनमें सर्वप्रथम निर्मित इंद्रसभा (चित्र ११७) सबसे बड़ा दक्षिणमुखी छित्र मंदिर है। यह मंदिर शैल स्थापत्य कला का विशिष्ट नमूना है, जो वास्तव में एक मंदिर न होकर, मंदिर-समूह ही है। छित्र गुफां के समक्ष प्रांगण में अखण्ड शिला का विमान है जिसकी पूर्व दिशा में सामने की ओर एक हाथी बना है। और पश्चिम में कुम्भ-मण्डित-कलश शैली का मानस्तंभ है, जिसके विष्वर पर चतुर्दिक् ब्रह्म यक्ष की प्रतिमाएँ हैं। ओट-भित्ति के गोपुर द्वार से प्रांगण में प्रवेश किया जा सकता है। खुले हुए उत्कीर्ण प्रांगण की पश्चवं भित्तियों में एक ओर दो लघु स्तंभीय मण्डप उत्कीर्ण किये गये हैं और दूसरी ओर एक आर्धनिर्मित बीथी है। इनमें पार्श्वनाथ (चित्र ११८ क), गोमट (चित्र ११८ ख)

कुबेर, अंदिका, सुमतिनाथ तथा अन्य तीर्थकर एवं यक्षों आदि की मूर्तियाँ हैं। अग्रभाग की भाँति प्रांगण के तीन और प्रचुर शिल्पांकनों के कारण इसके द्वितीय होने का आभास होता है। मुख्य गुफा का निचला तल अर्धनिमित है तथा उसकी रूपरेखा भी कुछ विलक्षण है। इसके सामने एक मण्डप है जिसमें चार स्तंभ एवं चार वग़ाकार भित्ति-स्तंभ हैं जिनमें से एक पर तीर्थकर अभिलेखांकित दिगंबर मूर्ति उत्कीर्ण है। मण्डप की भाँति ही उसके आगे एक दो स्तंभोवाला आग्नि है (चित्र ११६), जो पीछे की ओर एक अर्धमण्डप से होकर गर्भगृह की ओर पहुँचता है। मंदिर सुनिर्मित है और उसमें तीर्थकर की विशाल प्रतिमा स्थापित है। दो तीर्थकर-मूर्तियाँ और भी हैं जिनमें से एक मण्डप के पश्चिमी सिरे पर शान्तिनाथ की मूर्ति है। इन मूर्तियों के पीछे एक और मंदिर है जिसमें रीतिगत मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मण्डप के पूर्वी या दायें सिरे पर सीढ़ियाँ हैं जो ऊपरी तल पर जाती हैं।

ऊपरी तल पर केंद्रीय कक्ष है जिसके दोनों सिरों पर दो अतिरिक्त गर्भगृह हैं। इन दोनों के छाँजे खुले आंशिक में निकलते हैं। सामने के मण्डप में कुम्भावली तथा अंतरालयुक्त कलशशीर्ष-शैली के दो स्तंभ हैं। पूर्वी पार्श्व के भीतर दोनों और तीर्थकरों की पाँच खड़गासन प्रतिमाएँ हैं जिनके दोनों ओर कुबेर तथा अंदिका अंकित हैं। मण्डप के दोनों सिरों पर कुबेर और अंदिका की इनसे बड़ी तथा अधिक सुंदर मूर्तियाँ हैं। मुख्य कक्ष में चार प्रकार के बारह स्तंभ हैं, जिनकी पार्श्व भित्तियाँ पाँच भागों में विभक्त हैं। केंद्रीय भाग औरों से कुछ बड़ा है। इस भाग में, जैसा कि चक्र-प्रतीक से स्पष्ट है, सुमतिनाथ की पद्मासन मूर्ति अंकित है। अन्य चार भागों में भी तीर्थकर-मूर्तियाँ अंकित की गयी हैं। मण्डप की पिछली भित्ति में उत्कीर्ण मुख्य मंदिर महाबीर को समर्पित है। इसमें प्रवेश के लिए बने संकीर्ण द्वार-मण्डप में सुंदर रूप से उत्कीर्ण, पतले कलश-शिल्प युक्त दो स्तंभ हैं जिनके ऊपर कपोत सहित एक सरदल (उत्तरांग) है। उत्तरांग के ऊपर एक पक्षित में पाँच लघु मंदिरों की अनुकूलितियाँ हैं। द्वार के दोनों ओर की भित्ति पर दो खड़गासन तीर्थकर-मूर्तियाँ हैं। इससे आगे, भित्ति के पूर्वी छोर पर एक पाइवनाथ की तथा दो सुमतिनाथ की मूर्तियों के फलक हैं। इसी प्रकार पश्चिमी छोर पर एक योम्मट तथा दो सुमतिनाथ की मूर्तियों के फलक हैं। मण्डप की छत और उसकी घरनों पर रंग-लेपन किया गया है। रंग-लेपन की दो परतें हैं।

मण्डप के दक्षिण-पूर्वी कोने से एक और गुफा-मंदिर की ओर जाया जाता है, जो आँगन की पूर्वी भित्ति की दक्षिणी चट्ठान को काटकर बनाया गया है। यह मंदिर मुख्य मंदिर सहित सुमतिनाथ को समर्पित है। सामने के मण्डप में कलश-शीर्षयुक्त चार स्तंभ हैं और उसकी छत के मध्य में कमल उत्कीर्ण है। भित्तियाँ, वितान एवं गर्भगृह अत्यंत सुंदर चित्रांकनों से आकेषित हैं और अभी तक पद्धित रूप में सुरक्षित हैं। उड़ते हुए गंधर्व एवं विद्याधर बुगलों के अतिरिक्त अंतराल की छत पर नृत्य की चतुर्भागी-मुद्रा में अष्टभुजी देवता का एक अत्यंत रोचक चित्रांकन है। इस चित्र में शिवपरक किसी भी प्रतीक के आभाव से स्पष्ट है कि यह किसी जैन देवता का निष्प है, कदाचित् इन्द्र का हो।

मुख्य कक्ष के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर सुमतिनाथ को अर्पित वैसे ही तथा बहुत सुंदर चित्रों से सजित एक और मंदिर है जहाँ के चित्र उपर्युक्त मंदिर की भाँति सुरक्षित नहीं रह पाये हैं। इस मंदिर के उत्तरनाम की चित्ताकर्षक विशेषता इसके अवधारण के कपोत हैं जो निचले तले को ऊपरी तल से अलग करते हैं और ऊपरी तल के ऊपरी आवेष्टन का काम देते हैं। कपोत उत्कृष्ट शिल्पांकनयुक्त हैं। निचले कपोत पर सिंह और हाथी तथा ऊपरी कपोत पर तीर्थकर-प्रतिमाओं से युक्त लघु मंदिरों की शिल्पाङ्कितियाँ हैं। आँगन में बने अखण्ड शिला-विमान की चर्चा आगे की जायेगी।

जगन्नाथ-सभा (गुफा ३३, चित्र १२० क) इंद्र-सभा के समान ही है, किन्तु रूपरेखा सुव्यवस्थित नहीं है। भूमितल पर तीन कम्हीन गर्भगृहों का एक समूह है। प्रत्येक अपने में एक इकाई है, जिसमें शश तथा महामण्डप हैं। आँगन की ओर खुलनेवाला मुख्य गर्भगृह ढह चुका है जिससे दक्षिणमुखी प्रवेशद्वारयुक्त प्राकार भिस्ति तथा मध्य मण्डप के अवशेष नामभाज्ञ ही दृष्टिगोचर होते हैं। इस तल पर चार स्तंभों का सामान्य मुखमण्डप है तथा दोनों ओर कुबेर (?) (चित्र १२१) और सिंह पर आरुह अंबिका (चित्र १२२) हैं। पिछला कक्ष वर्गकार है। उसकी प्रत्येक पार्श्व भित्ति पर एक शिवाल देवकुलिकाओं में तथा उनकी पार्श्व भित्तियों पर गोमट, पार्वतीनाथ और अन्य तीर्थकरों (चित्र १२३) की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सुमतिनाथ को समर्पित पूष्ठभाग के मंदिर अन्य तीर्थकरों (चित्र १२४) में एक मुखमण्डप है। इस तल के स्तंभ दो प्रकार के हैं—कलश-शीर्ष-युक्त एवं कुम्भवल्लि-कलश-शीर्ष-युक्त (चित्र १२५)। अपने सूक्ष्म शिल्पांकनों तथा अन्य विशेषताओं के कारण यह गुफा परवर्ती तिथि की प्रतीत होती है। इस तल के अन्य दो गर्भगृहों की रूपरेखा और साज-सज्जा भी लगभग एक समान है।

दूसरे तल पर पहुँचने के लिए इंद्र-सभा मंदिर-समूह की पार्श्व भित्ति के ऊपरी मंदिर के दक्षिण-पूर्वी कोने में से चट्टान काटकर सोडियाँ बनायी गयी हैं। ऊपरी तल अधिक सुरक्षित एवं उत्कृष्ट है। इसमें बारह शिवाल स्तंभोंवाला नवरंग कक्ष है। इंद्र-सभा के सदृश बीच में चार और दोनों ओर आठ स्तंभ हैं। कुछ स्तंभों में वर्गकार आधार एवं कलश शीर्ष हैं। सभी स्तंभ अत्यंत श्वलंकृत हैं। मंदिर के पूष्ठभाग में एक सुसज्जित प्रवेशद्वार है जिसके दोनों ओर तीर्थकर-मूर्तियाँ हैं। मूर्तियों के दोनों ओर कुबेर और अंबिका हैं। पार्श्व भित्तियों पर तीर्थकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं और कक्ष की छत पर प्राचीन चित्रकला के अवशेष भी दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मण्डप की छत के मध्यभाग में बूताकार चित्रांकन या जिसमें समवसरण प्रदर्शित किया गया था। अब इसका अंशभाज्ञ ही शेष है।

मण्डप के पूर्वी छोर पर एक कोने में एक छोटा मंदिर है जो रूपरेखा में निचले तल के मंदिर की भाँति है, किन्तु अधिक संपूर्ण एवं प्रचुर शिल्पांकन युक्त है।

प्रांगण की दक्षिणी भित्ति पर शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर है छोटा कैलास (गुफा ३०) जिसमें गर्भगृह, अंतराल एवं मुखमण्डप हैं। यह मंदिर सुमतिनाथ को समर्पित है। इसके अंतराल में पार्श्वनाथ, कुवेर तथा अंबिका की मूर्तियाँ हैं और मण्डप की भित्तियों पर अन्य मूर्तियाँ प्रचुर भावा में उत्कीर्ण हैं। इसके समीप एक और शैलोत्कीर्ण गुफा (गुफा ३० क) में केवल एक लम्बा कक्ष एवं कुम्भवल्ली-कलश-शीर्ष प्रकार के स्तंभों का द्वार-मण्डप है। कक्ष के भव्य में एक चौमुखी जैन प्रतिमा है। कपोतों पर उड़ते हुए गंधर्व अंकित हैं और द्वार-मण्डप के दोनों ओर कक्षासन बने हैं।

हाल के उत्खनन में इस मंदिर-समूह से पूर्व की ओर कत्तिपय अपूर्ण मंदिर मिले हैं। इनमें अल्प महस्त्र की शिल्पाकृतियाँ हैं। उनमें से एक तीर्थकर की खड़गासन मूर्ति है जिसके पीछे 'ठिरवाची' या प्रभामण्डल है जिसमें चौबीस तीर्थकर अंकित हैं।

एलोरा की नरम काले पत्थर की चट्टान पर गुफा-मंदिरों का उत्खनन दसवीं शताब्दी में हुआ होगा, किन्तु इसके अनन्तर भी कुछ अलंकरण-कार्य हुआ प्रतीत होता है। मंदिर-स्थापत्य-कला की दृष्टि से, विशेषतः अपने वास्तुशिल्पीय अवयवों की परिपूर्णता के संदर्भ में, एलोरा की अन्य गुफाओं से ये मंदिर अधिक उत्कृष्ट हैं। क्योंकि अलंकरण, वेषभूषा, भंगिमा एवं मुद्रा के सौंदर्य को गौण देखताओं की प्रतिमाओं में ही अभिव्यक्त किया जा सकता था, अतएव इनके अंकन में कला-कौशल का बहुत ध्यान रखा गया। तीर्थकरों की प्रतिमाएँ रीत्यानुसार समान मुद्रा एवं शैली में ही निर्मित होती थीं, अतः ये मूर्तियाँ उतनी सुंदर नहीं बन पड़ी हैं। जैन वास्तु-स्मारकों के अलंकृत शिल्पोक्तन-प्राचुर्य में, कला-कौशल की पूर्णता में, विशेषतः स्तंभों की विभिन्न शैलियों में, सौंदर्य की पराकाष्ठा के दर्शन होते हैं। उनमें परिलक्षित है पाषाण को काटने-छाटने का सूक्ष्म एवं व्यार्थ कौशल; यद्यपि, अलंकरण-सौंदर्य के होते हुए भी, इतना तो स्पष्ट है कि यह मंदिर किसी पूर्व-निश्चित योजनानुसार उत्खनित नहीं किये गये और लगता है कि जब जैसे बना देसे ही काम चलाया गया है। फिर भी, सच तो यह है कि शास्त्रीय रूपवान चित्रांकनों से सजिज्ञ ये मंदिर भारत की कलात्मक देन का महत्वपूर्ण अंग हैं।

### शैलोत्कीर्ण मंदिर

दक्षिण में तथा अन्यत्र गुफा-मंदिरों के उत्खनन की परंपरा लगभग एक सहस्र वर्ष प्राचीन है। गुफा-मंदिरों की आंतरिक तथा बाह्य रचना इट तथा लकड़ी से निर्मित सम-सामयिक भवनों की आंतरिक एवं बाह्य रचना का सर्वोत्तम प्रतिरूप है। ठीक यही स्थिति विमान-मंदिरों की भी है। गुफा-मंदिरों के उत्खनन के साथ-साथ ही विमान शैली के मंदिरों का उत्खनन आरंभ हुआ, यद्यपि उनका उत्खनन अपेक्षाकृत अल्प संस्था में ही था। पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन-प्रथम मामला (६३०-६६८) ने सर्व-प्रथम स्थानीय कठोर स्फटिकवत् (ग्रेनाइट) नाइस पत्थर की चट्टानों को काटकर विविध रूपरेखा और विस्तार के शैलोत्कीर्ण मंदिरों का सृष्टिपात कराया जिसका सुंदर उदाहरण महाबलीपुरम के रथ-मंदिरों

में पाया जाता है। इन मंदिरों के बाह्य आकार को ईट-लकड़ी से निर्मित भवन की रूपरेखा देने के लिए अखण्ड चट्टान को पहले ऊपर से नीचे की ओर काटा जाता था और फिर भीतर उत्कृशन करके भण्डप तथा गर्भगृह के विभिन्न अंग उत्कीर्ण किये जाते थे। कालांतर में पल्लव राज्य और सुदूर दक्षिण में इन शैलोत्कीर्ण मंदिरों ने प्रस्तर-निर्मित मंदिरों के उद्भव का मार्ग प्रशस्त किया। समसामयिक बादामी चालुक्यों के राज्यकाल में ईट-लकड़ी से निर्मित भवन के मूल स्वरूप के अनुसार अखण्ड शिला पर उत्कीर्ण मंदिरों की परंपरा को छोड़ दिया गया। इस युग में बलुए प्रस्तर-खण्ड काटकर चिनाई द्वारा मंदिर-निर्माण आरंभ हुआ क्योंकि अधेक्षित माप के प्रस्तर-खण्ड काटना अधिक सुविधाजनक था। किंतु अखण्ड शिला हे मंदिर-रचना का विनाइ वत्ता कानून था कि तत्कालीन एवं परबर्ती राजवंशों तथा धेरों में इस शैली का बहुत प्रसार हुआ। उदाहरणतः, तिरुनलवेली जिले में पाण्डवों का वेट्टु-वान्कोविल, विजयवाड़ा, अंदवल्ली और भैरवकोण्डा के मंदिर ऋमशः वेणी चालुक्यों तथा तेलुगु-चोलों के प्रब्रह्म में निर्मित हुए। धमनर (जिला मंदसौर), मसहर (जिला कांगड़ा), खालियर (चतुर्भुजी मंदिर), कोलगाँव (जिला भागलपुर) जैसे दूरवर्ती धेरों में भी इस प्रकार के मंदिर की संरचना का विस्तार दृष्टिगोचर होता है। पश्चिम भारत के बौद्ध गुफा-चैत्य-कक्षों में उत्कीर्ण स्तूपों तथा विदिशा जिले में उदयगिरि की 'तका' गुफा में उपलब्ध गुप्तकालीन अधिविकसित, लगभग बृत्ताकार, विमान-मंदिर में अखण्ड-शिला-मंदिर के मूलस्वरूप को देखा जा सकता है जिसे बलुए पत्थर की किसी एकाकी चट्टान में अर्धवृत्ताकार नींव काटकर ऊपर तवे के आकार के सपाट शिला-खण्ड से अर्ज्जुदित किया गया है।

दक्षिण में राष्ट्रकूटों के पूर्ववर्ती चालुक्यों द्वारा विकसित की गयी प्रस्तर-निर्मित मंदिर-शैली और इस शैली में राष्ट्रकूटों की अपनी उपलब्धियों के होते हुए भी राष्ट्रकूट राजाओं ने एलोरा के प्रसिद्ध कैलास नामक अखण्ड-शिला-मंदिर-समूह की रचना में एक बृहद चट्टान के मध्यभाग को काटकर विमान मंदिर, चारों ओर परिधीय मंदिर, संकेद्रित भण्डप तथा पार्श्ववर्ती प्राकारों से युक्त गोपुर और इनके बीच में एक खुले हुए अंगन को उत्कीर्ण कर अखण्ड-शिला-मंदिर विन्यास का अत्यंत साहसिक पथ उठाया था। शिव को समर्पित इस मंदिर की रचना का श्रेय राष्ट्रकूट राजा कृष्ण-तृतीय (७५७-८३) को दिया जाता है। यद्यपि यह मंदिर अपने वर्ण में सर्वाधिक बृहदाकार है, स्थानीय जैनों ने वहीं एलोरा की छोटी पर इसी विन्यास में एक छोटे कैलास-मंदिर-समूह की रचना की। छोटा कैलास और इन्द्र-सभा-प्रांगण में उत्कीर्ण शौमुखी-विमान अखण्ड-शिला-मंदिर-संरचना के चरमोत्कर्ष के प्रतीक हैं।

छोटा कैलास (गुफा ३०) बृहत् कैलास से एक चौथाई विस्तार का है। छोटा करने की प्रक्रिया में इसकी अविरचना अनुपातहीन हो गयी है और अपूर्ण भी है। मध्य शिला को चारों ओर से काटकर  $40 \times 25$  मीटर क्षेत्र का गढ़ा बनाया गया है। मंदिर का मुख पश्चिम की ओर है। मुख्य विमान में अन्य जैन मंदिरों के सदृश दो तल हैं जिनके कारण ये खंड और भी अधिक अनुपातहीन लगते हैं। नीचे के खण्ड में यक्ष-यक्षी द्वारा परिचारित महावीर की विशाल प्रतिमा गर्भगृह में

प्रतिष्ठित है। प्रतीत होता है कि ऊपर के खण्ड में श्रमुचरों सहित सुमतिनाथ की मूर्ति स्थापित है। गर्भगृह सहित ऊपर के खण्ड में अष्टभुजीय ग्रीवा एवं शिखर हैं जो इसे द्रविड़ शैलीय विमान का रूप प्रदान करते हैं। तीव्रे के मंदिर की पार्श्व भित्तियों पर तीर्थकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं तथा उत्तरी भित्ति पर एक अष्टभुजी देवी की मूर्ति है। चालुक्य-राष्ट्रकूट शैली के द्वार-स्तंभ बहुशाखा प्रकार के हैं जो गुप्तकालीन उत्तर भारत की देन हैं। सरदल के ऊपर उत्तरांग के रूप में दोनों सिरों पर दो कूट या वर्गाकार लघु विमान उत्कीर्ण हैं और मध्य में शाला या आयताकार लघु विमान शिल्पांकित हैं। मंदिर के पूर्व एक छोटा-सा अंतराल तथा महामण्डप है जिसमें सोलह स्तंभ हैं। इनमें से कुछ कलश शीर्ष प्रकार के एवं अन्य कुंभवल्ली प्रकार के स्तंभ हैं। महामण्डप के चारों कोनों पर चार-चार के समूह में स्तंभ हैं। मण्डप में तीन ओर उत्तर, पश्चिम और दक्षिण से प्रवेश संभव है। तीनों प्रवेशद्वारों के समक्ष बहुत कैलास की भाँति स्तंभीय द्वारमण्डप हैं, जहाँ उत्तर भारतीय मंदिरों तथा उनके प्रतिरूप दक्षिणी चालुक्य मंदिरों के समान कलासन पीठिकाएँ बनी हुई हैं। पश्चिमी मुख्य-द्वार के दोनों ओर एक-एक द्वारपाल अंकित हैं। रोचक बात यह है कि द्वारमण्डप के दोनों ओर की भित्तियों पर नृत्य-मुद्रा में शिव की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं और दक्षिणी भित्ति पर देवी की एक अर्ध-निभित मूर्ति भी है। ऊपरी खण्ड के गर्भगृह के पहले शुक्नासा है जो अंतराल के ऊपर होकर दूसरे खण्ड के गर्भगृह की ओर जाती है। शुक्नासा भी उत्तर भारतीय मंदिरों तथा उनके चालुक्य-राष्ट्रकूट प्रतिरूप की प्रतीक है। आँगन के गोपुर-प्रवेशद्वार के समक्ष एक द्वारमण्डप है जिसमें तीर्थकरों, गीण देवताओं एवं षट्भुजी देवी की मूर्तियाँ अंकित हैं।

इंद्र-सभा के सामनेवाले आँगन में उत्कीर्ण एक जैन चौमुख या चतुर्मुख विमान (चित्र १२५) एक अद्भुत कलाकृति है, जिसकी दक्षिणी विमान-शैली में कुछ अन्य विशेषताएँ भी सम्मिलित हैं। यह विमान तीन खण्डों का है और रूपरेखा में वर्गाकार है, किन्तु इसकी ग्रीवा और शिखर अष्टभुजी हैं, जिससे यह दक्षिण शैली का विशिष्ट द्रविड़-विमान बन जाता है। स्तूपी, जो अखण्ड शिला से भित्ति शिलास्तंभ रहा होगा, अब अलग ही जा पड़ा है। भूमितल पर चारों दिशाओं में प्रवेशद्वार हैं जिनके आगे द्वारमण्डप हैं। प्रवेशद्वारों के साथ सीढ़ियाँ बनी हुई हैं जो अधिष्ठान या चौकी तक पहुँचती हैं। अधिष्ठान कपोत-बंध प्रकार का है, जिसमें उपान, कुमुद, कण्ठ एवं कपोत बने हैं। कपोत की प्रति ऊपरी गर्भगृह के फर्श का काम देती है। प्रक्षिप्त द्वारमण्डपों में उन्नत स्तंभ हैं। प्रत्येक स्तंभ का आधार वर्गाकार तथा दण्ड अष्टकोणीय है। शिखर भाग पर कुंभ की रूचना अधिकांशतः प्रसुख है परंतु कलश या लकुन और ताड़ि (पुष्पासन) को लघुरूप देकर शीर्षस्थ किया गया है। प्रस्तर या सरदल पर कुण्डलित कपोत बने हैं जिनके प्रक्षिप्त अंशों पर कोण-पट्ट या बेल-बूटे अंकित हैं। गर्भगृह में एक केंद्रीय मूर्तिपट के चतुर्दिक् तीर्थकर-मूर्तियाँ बनी हैं, जिनके मुख चार प्रवेशद्वारों की ओर हैं। द्वारमण्डप के सरदलों पर पंजरकृत नासिकाग्र तथा सिहमुखी कंगूरे हैं। वे हार की लघुशाला या भद्रशाला के ढलुवाँ शीर्ष के मध्य भाग से कहीं अधिक प्रक्षिप्त हैं। हार के चार कोने हैं, प्रत्येक कोने पर एक कर्णकूट या विमान की वर्गाकार लघु अनुकृति है जिसका शिखर (कूट) अण्डाकार है और उसपर दक्षिणी-विशाल-शैली के अनुलाल एक स्तूपी है। दूसरे खण्ड



(क) बादामी — जैन गुफा-मन्दिर,  
बाहरी भाग



(ख) बादामी — जैन गुफा-मन्दिर, अंतर्गत भाग





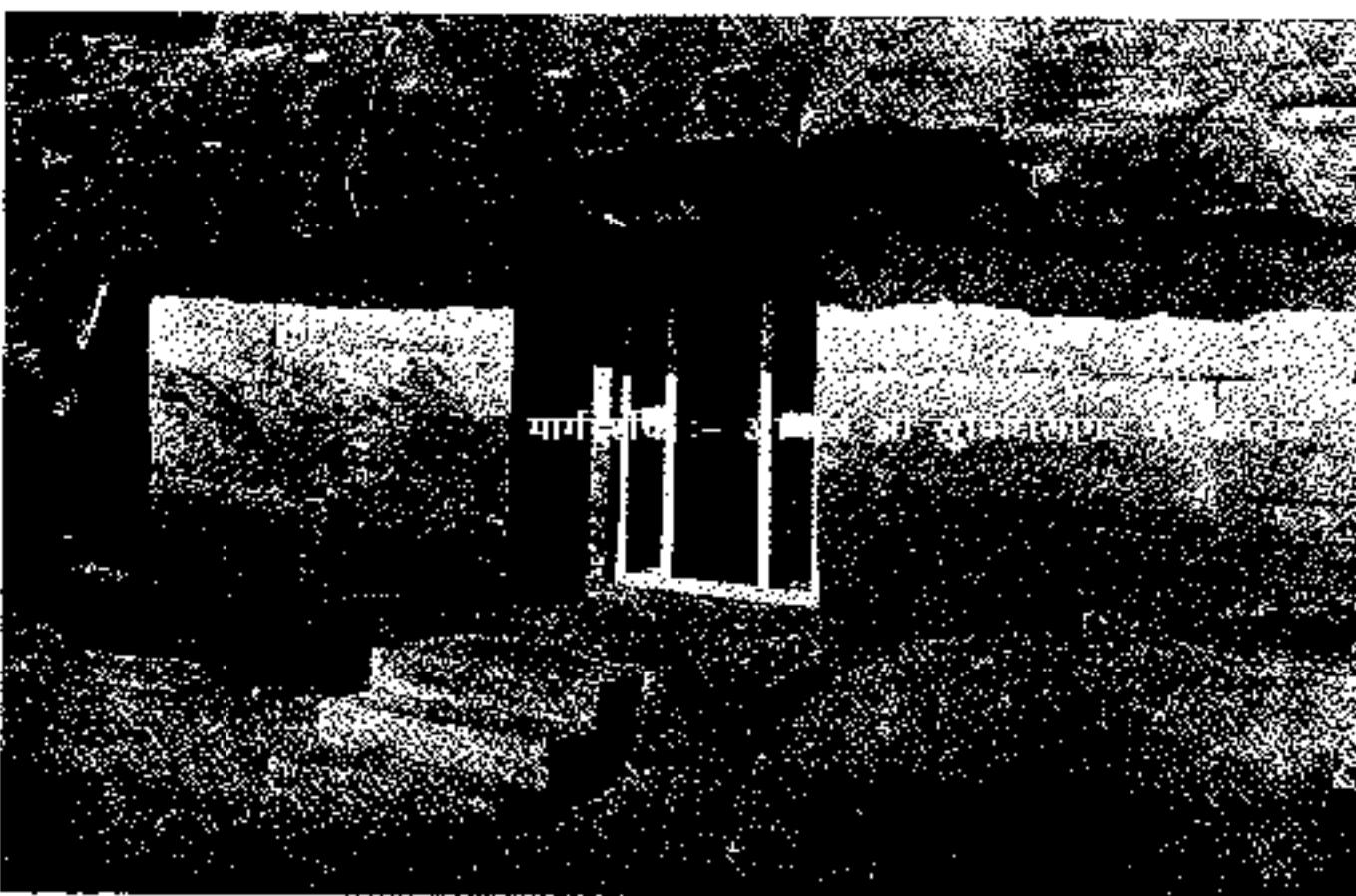
(ब) लादाखी — जैन मुकुट-मन्दिर, तीर्थकर कृष्णभनाय

(क) लादाखी — जैन गुफा-मन्दिर, गोमटेश्वर





वादामी — जैन गुफानन्दिर, तीर्थकर, पालवंशाध



(क) ऐहोले — मैनावस्ति गुफा-मन्दिर, बाहरी भाग



(ख) ऐहोले — जैन गुफा-मन्दिर, बाहरी भाग



एसोर --- इन्द्र सभा (गुफा सं० 32), वाहरी भारत

काल्पनिक एवं सूतिकला 600 से 1000 है।

[ भाग 4



(अ) एलोरा — गोमटेश्वर (गुफा नं० 32)

(क) एलोरा — इन्द्र सभा (गुफा नं० 32), तीर्थकर वाइर्वदाय

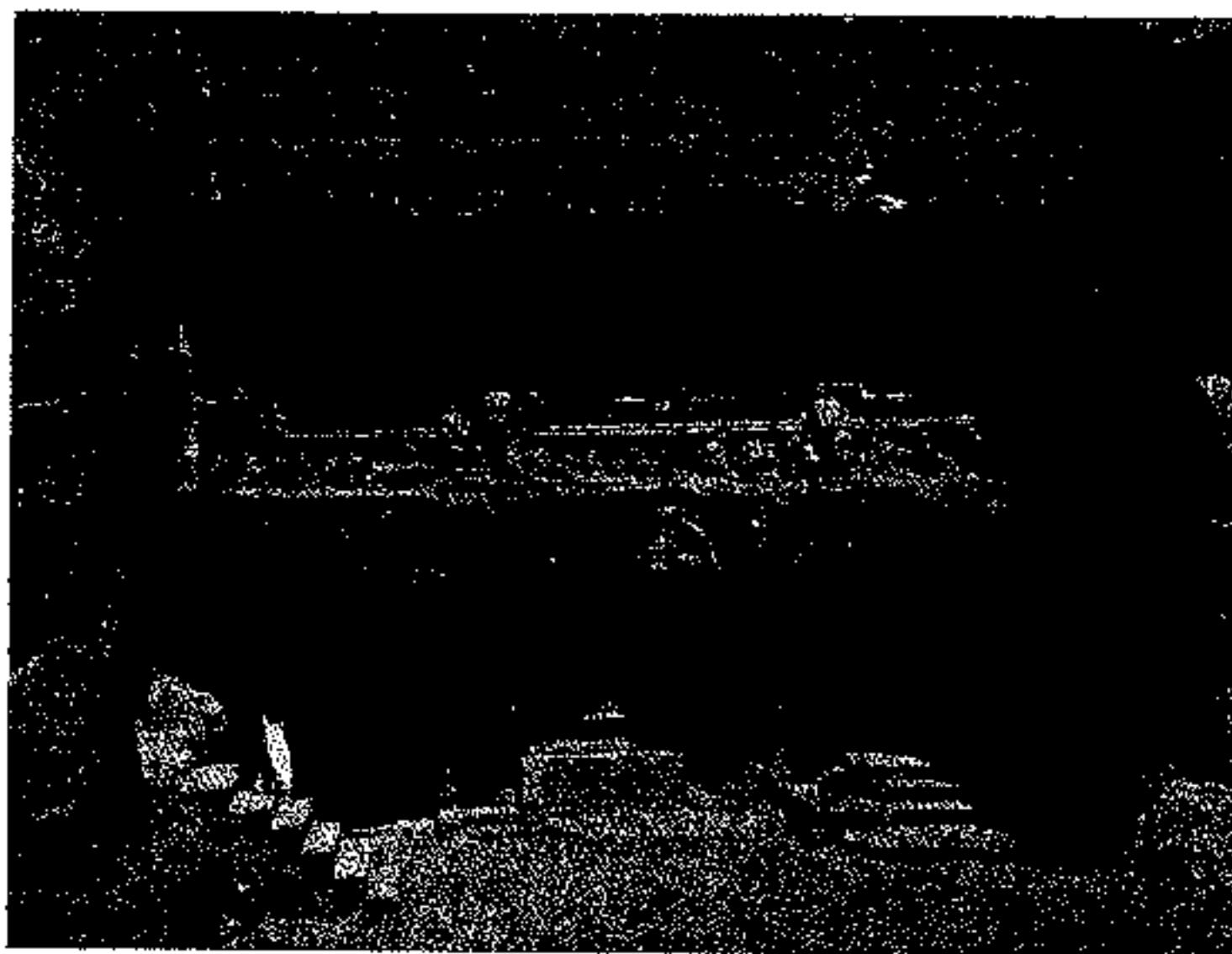




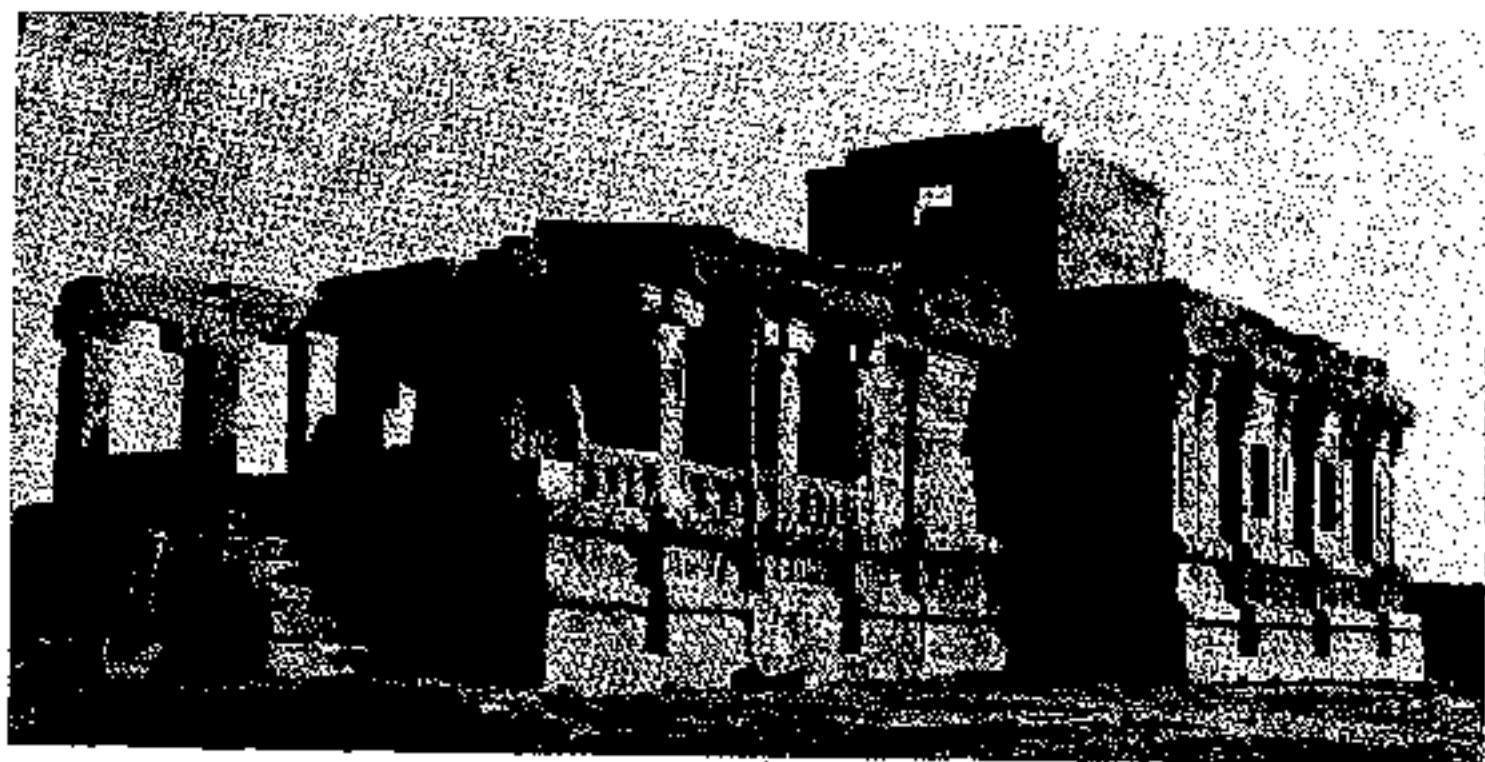
एलोरा — स्तम्भ, मूळा सं० 32

वास्तु-स्थारक एवं मूलिकता 600 से 1000 ई०

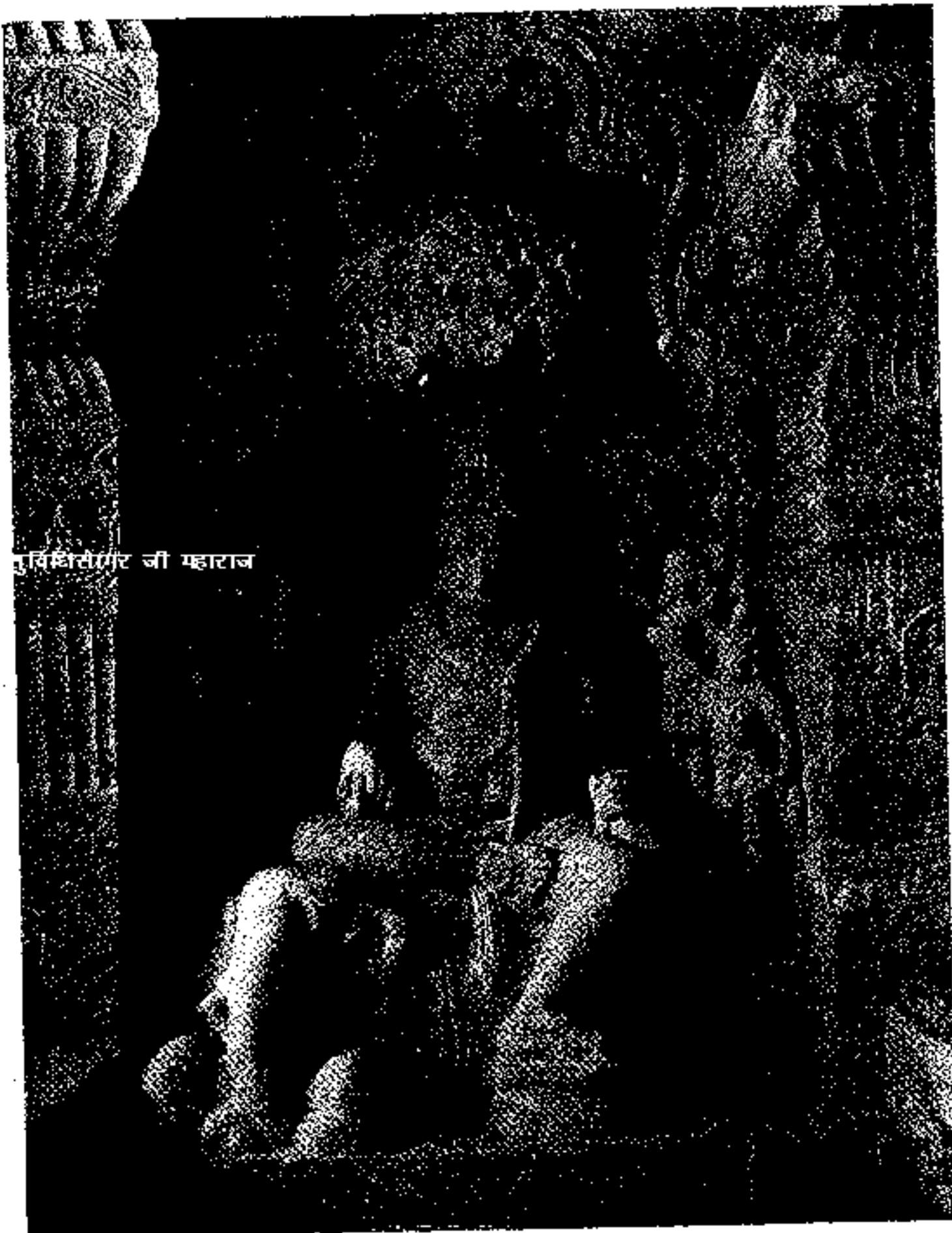
[ भाग 4 ]



(क) एलोरा — मुफा सं० 33, काहरी भाग



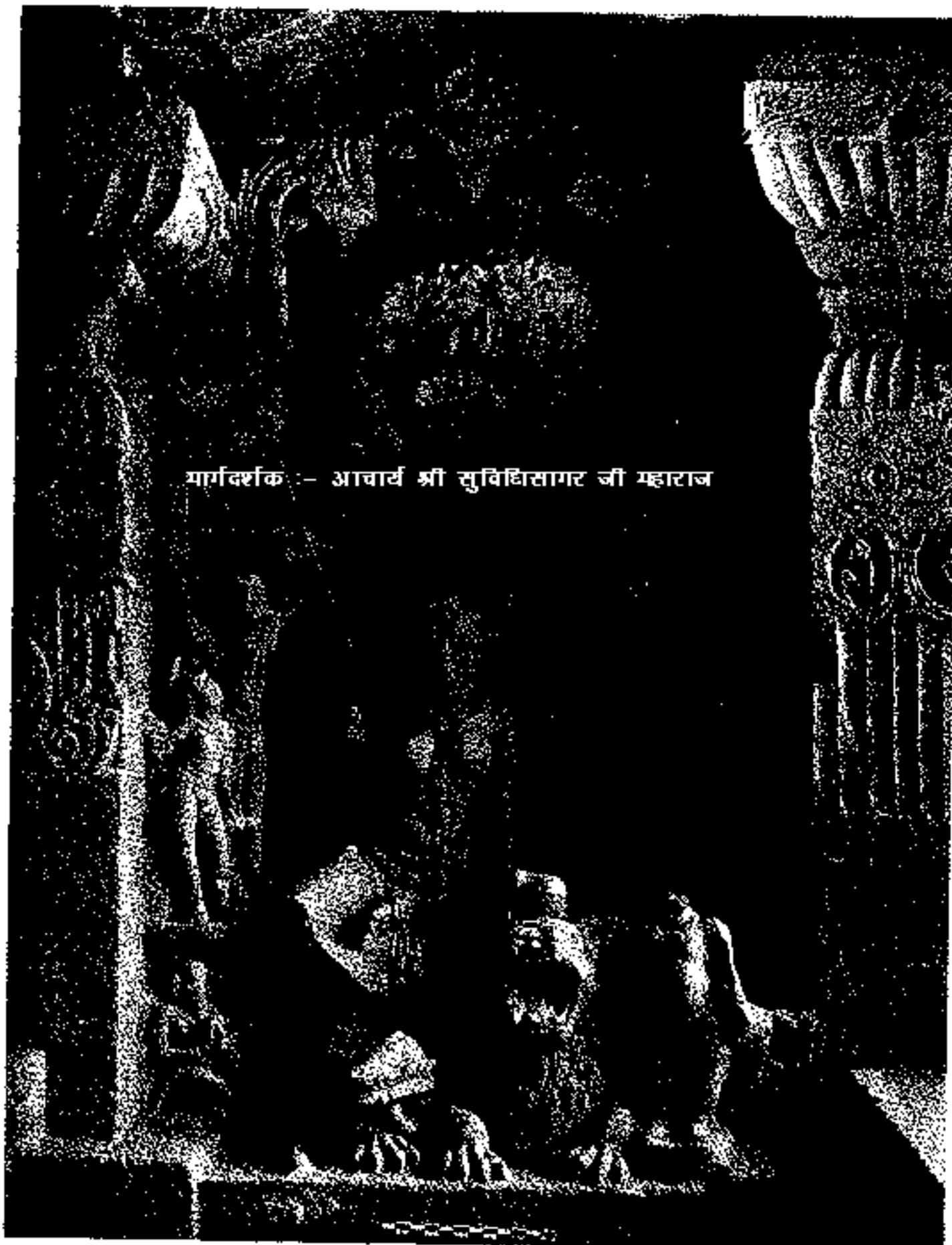
(ख) ऐहोले — मेगुटी मन्दिर



ऐलोरा — कुबेर, मूफा सं० 33

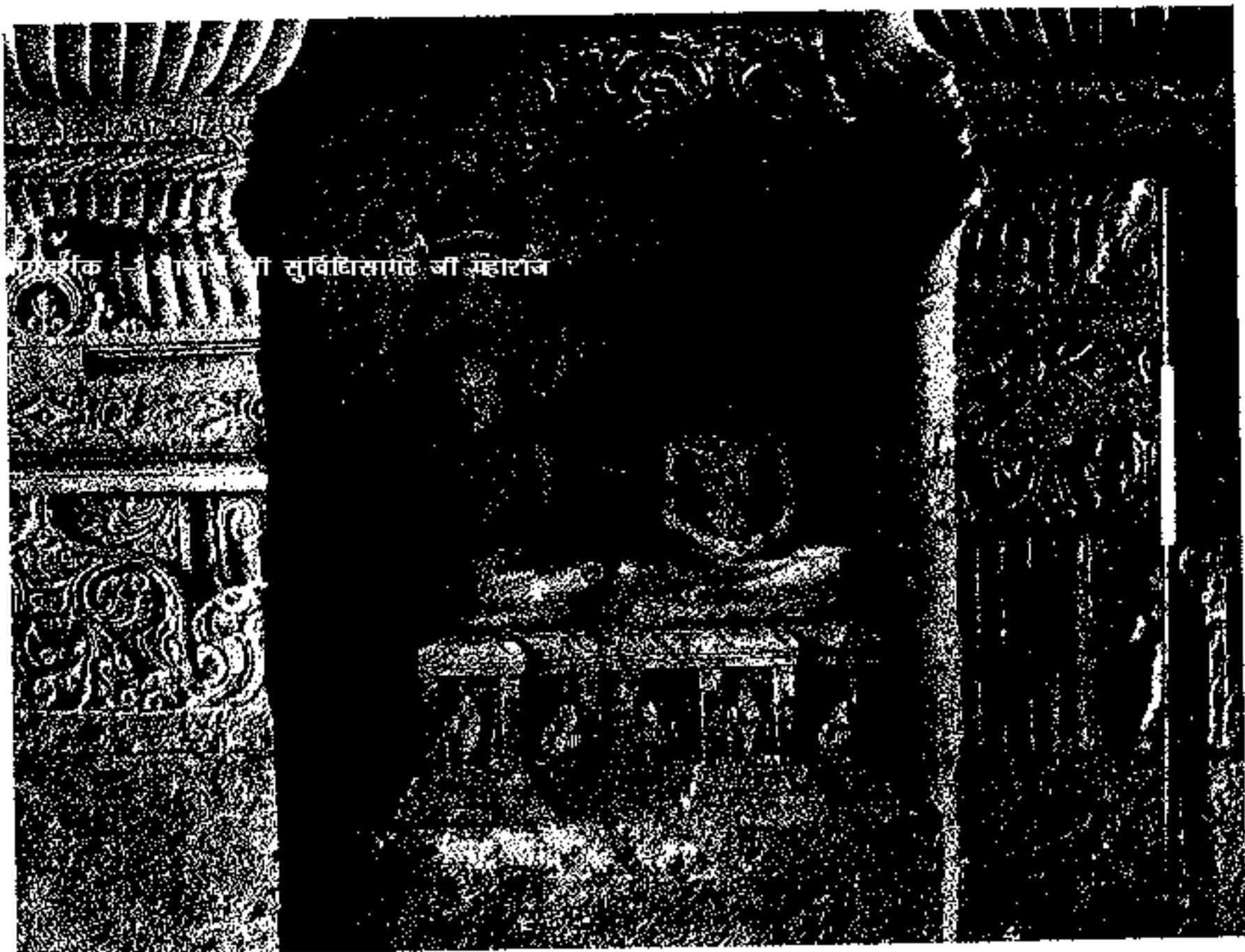
बास्तु-स्थारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 ई०

[ भग 4



प्राचीनकाल — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एलोरा — अमिनकाह यात्री, गुफा सं० 33



एलोरा -- तीर्थंकर, गुफा सं० 33

आस्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 ई०

[ भाग 4



एलोरा — मूर्ति सं० 33, अंतः भाग

का चौक निचले खण्ड से छोटा तथा कम ऊँचाई का है। इसमें चतुर्दिक प्रक्षिप्त चार नासिकाएँ हैं, किन्तु हार की शालाएँ या कूट नहीं हैं। नासिका-तोरण सिहमुखी कंगरों से आवेष्टित हैं। तीसरे खण्ड का चौक और भी छोटा तथा कम ऊँचा है। इसमें हार के अंगकूट शाला या पंजर कुछ भी नहीं है, किन्तु जारों कोनों की ओटी पर चार सिंह बने हैं जो जैन मंदिरों के विशिष्ट प्रतीक हैं और शास्त्रो-कृत मात्यता के अनुसार बनाये गये हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार शीर्षस्थ खण्ड भूमितल के गर्भगृह में जिस तीर्थकर की मुख्य प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाये उसके प्रतीक या बाहन को विमान के शीर्षस्थ खण्ड के कोनों पर अकिञ्चित किया जाना चाहिए। अष्टभुजी ग्रीदा शिखर के आठ कोणों से लघु महानासिकाएँ ढलुवाँ छत की भाँति बाहर की ओर निकली हुई हैं।

छोटा कैलास एवं चौमुख में बहुत कैलास की भाँति आठबीं शती की विमान-मंदिर-शैली की सभी विशिष्टताएँ विद्यमान हैं। छोटे कैलास की अपेक्षा चौमुख मंदिर स्थापत्य की अधिक सरल एवं भव्य कृति है।

### निमित्त मंदिर

प्रस्तर-निर्मित रचनाओं के आद्यरूपों में पूर्ववर्ती चालुक्यों द्वारा उनकी राजधानियों बादामी, महाकुटेश्वर तथा ऐहोले और पटडकल नगरों में निर्मित कुछ जैन रचनाएँ हैं जिनमें ऐहोले का मेगुटी मंदिर (चित्र १२० ख) अपनी उत्कृष्टता एवं आधारशिला के पुरालेखीय साक्ष्य की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह अभिलेख संस्कृत पद्म के रूप में है, जो कोई सामान्य रचना नहीं है, बरत उस युग की प्रशंसात्मक काव्य-रचना का सुंदर उदाहरण है। अभिलेख में पुलकेशी-द्वितीय के राज्यकाल में सन् ६३४ में इस मंदिर के निर्माण का वर्णन है। इसमें पुलकेशी-द्वितीय की विभिन्न विजय-थात्राओं का भी विवरण है एवं इसके रचयिता रविकीर्ति की प्रशंसा करते हुए उसकी तुलना कालिदास और भारद्वा जी की गयी है।

यह मंदिर मुख्यतः बंद-मण्डप प्रकार का चौक है जिसमें मध्य के चार स्तंभों के स्थान पर गर्भगृह है। इसकी एक बाहरी भित्ति बारह सीमावर्ती भित्ति-स्तंभों को जोड़ते हुए बनायी गयी है। इस प्रकार भीतर और बाहर की भित्ति के बीच में परिक्रमा करने के लिए सांचार-मार्ग बन गया है। इससे बने गर्भगृह की छत पर एक और मंदिर बना है। मुख्य गर्भगृह के तीन और अंतिम पाश्ववर्ती कोनों और मध्यवर्ती खण्ड में पाँच कक्ष बनाये गये, जबकि सामने के खण्ड और पूर्ववर्ती कोनों के समानांतर क्षेत्रों में एक आड़े ढंग का आयताकार मण्डप है। पीछे के दो कक्ष मुख्य मर्भगृह की भाँति वर्गाकार, किन्तु अपेक्षाकृत छोटे हैं और गर्भगृह के समानांतर न होकर थोड़ा पीछे की ओर होते हुए दो पाश्व मंदिरों का निर्माण करते हैं। उनके साथ उसी पक्षित में मुख्य गर्भगृह के पाश्ववर्ती दो आयताकार कक्ष हैं। दोनों अंतराल-मण्डप के रूप में हैं तथा सामने के संयुक्त भण्डप की ओर खुलते हैं। अंतराल-मण्डपों की छत समतल है जबकि पीछे के वर्गाकार कक्षों की छत ढलुवाँ है।

संयुक्त मण्डप की छत भी इसी दरार ढलुधी है। इस पश्चार इस मंदिर की सरचना त्रिकूट (तीन मंदिरों का समूह) का अद्भुत रूप है जिसमें तीनों मंदिर एक पंक्ति में और एक ही विस्तार के न हो होकर पाश्व के दो अपेक्षाकृत छोटे हैं और बड़े गर्भगृह के पीछे हैं। सभस्त सरचना का निर्माण एक गोटायुक्त अधिष्ठान पर सीधी मान-सूत्र रेखा में हुआ है, जिसके प्रत्येक ओर चार शाखीय प्रक्षेप बने हुए हैं। दो प्रक्षेप दो कोनों पर हैं और दो बीच में हैं जिससे उनके मध्य में तीन संकीर्ण आले बन गये हैं। आधारभूत उपान और जगति गोटों के ऊपर त्रिपट्ट प्रकार का कुमुद गोटा है। बादामी गुफा सदृश गणमूर्तियों की अवलियों के साथ कुमुद गोटे पर कण्ठ का आधिक्य है। कण्ठ के ऊपर कुछ-कुछ अंतर पर कुड़ु अलंकरण सहित कपोत बनाये गये हैं जिससे कपोत-बंध-प्रकार के अधिष्ठान का निर्माण हुआ है। अधिष्ठान से ऊपर की भित्ति शिल्पांकनों और देव-कुलिकाओं से युक्त है। शिल्पांकनों के बीच-बीच में एक रूप के सुपाट चतुर्भुजी भित्ति-स्तंभ हैं, जिनके शीर्ष पर कलश (लशन), ताड़ि (पुष्पासन), कुम्भ, पालि एवं फलक बनाये गये हैं। पोतिकाओं के सिरे मध्य रूप में मुड़े हुए हैं और तरंग में सादा मध्यपट्ट हैं। प्रस्तर या सरदल भी अधिष्ठान की भाँति कुण्डलित कपोत और कुड़ु-अलंकरणों से सजित है जो उत्तीर (शहतीर) और बलभी के ऊपर आ जाते हैं। बलभी से ऊपर की ओर निकलते हुए दण्डकावत् प्रक्षिप्त आधार है जो कपोत-प्रक्षेपों के लिए टेक का काम देते हैं। प्रस्तर पर अवशिष्ट चिह्नों से स्पष्ट है कि वहाँ पहले कूटों और शालांशों का हार था। ये कूट भित्ति के कोनों और प्रस्तर पर थे, जिसके कारण उनका नाम कर्ण-कूट पड़ गया। कोने की ओर मध्यवर्ती शिला-फलकों या प्रत्येक ओर के भद्रों पर सादे देवकोष्ठ मूर्तियों को रखने के लिए बने हैं जिनमें अब मूर्तियाँ नहीं हैं। पाश्व तथा पीछे की भित्तियों के आलों में पाश्व तथा मध्यवर्ती कक्षों के अंतरालों को प्रकाशित करने के लिए जालीदार गवाक्ष हैं। मंदिर के बाट्य भित्ति-स्तंभ की शैली, देवकोष्ठ, आले, प्रस्तर-सरचना, अवशिष्ट अनपित-प्रकार का हार, ऊपरी तल जो श्रीवा, शिखर और स्तूपी (जिनके होने से ऊपरी तल की रचना अष्टकोणीय होती) से रहित ये सभस्त विशेषताएँ स्पष्ट संकेत देती हैं कि यह मंदिर दक्षिणी विमान-शैली का है। यहाँ इतना कह देना उचित होगा कि चालुक्य और राष्ट्रकूट काल के ऐहोले तथा अन्य चालुक्य शेषों के सारे जैन मंदिर दक्षिणी या विमान-शैली के हैं जबकि तत्कालीन द्वादशीय मंदिर उत्तर भारतीय रेख-प्रासाद शैली के भी हैं।

मेगुटी-मंदिर की मुख्य सरचना में अर्ध मुख-मण्डप भी जुड़ा हुआ है जो आयताकार है। इसके समक्ष सीढ़ियाँ हैं। अधिष्ठान, भित्ति-स्तंभ और प्रस्तर मुख्य मंदिर की भाँति ही हैं। इसी मण्डप की दक्षिणी भित्ति के शिलापट्ट पर पुलकेशी का अभिलेख अंकित है, अतः इसे मुख्य मंदिर का अभिन्न अंग ही मानना चाहिए। इस प्रकार मंदिर की मूलभूत रूपरेखा में मुख्य भवन, केन्द्रीय गर्भगृह, बाह्य तथा अंतःभित्तियों के बीच का सांघार-पथ और सामने अर्धमण्डप है। सांघार-पथ की भित्तियों को पीछे और पाल्वीभाग में विभक्त करके अंतराल सहित उपमंदिरों की रचना बाद में की गयी लगती है। इस संपूर्ण रचना में एक विशाल महामण्डप भी सामने के भाग में निर्मित है जो किंचित् परवर्ती रचना है किन्तु शैली इसकी भी लगभग समान ही है। सभी मूल प्रतिमाएँ नष्ट हो चुकी हैं। केवल

पिछली भित्ति पर उत्कीर्ण बद्धेभान्त की एक बड़ी पदमासन मूर्ति तथा उनकी यक्षी सिद्धाधिका की मूर्ति अवशिष्ट है। सिद्धाधिका की मूर्ति अब सामने की वीथी में रख दी गयी है।

भागलकोट से बीस किलोमीटर दूर हल्लूर में मेगुडी नामक जैन मंदिर ऐहोले के मेगुडी मंदिर से विशेष कालांतर में बनाया गया होगा। किन्तु इसके प्रथम तल के गर्भगृह के शिखर की अविरचना से स्पष्ट है कि यह मंदिर अधिक परिरक्षित है। इसमें अर्धमण्डप के दोनों ओर की भित्तियों पर बनी देवकुलिकाएँ एवं छत पर पहुंचने के लिए अखण्ड-शिला पर उत्कीर्ण सीदियाँ चालुक्य राज्य में प्रचलित आद्य प्रथाओं के प्रयोग का प्रमाण हैं। इस मंदिर को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का माना जा सकता है।

ऐहोले में अन्य जैन मंदिर भी हैं, यथा, येनियवार्गुदि, योगी-नारायण समूह, एवं चारण्टी मठ। येनियवार्गुदि समूह में छह मंदिर हैं, जिनमें से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस मंदिर का मुख पश्चिम की ओर है और प्रवेश उत्तर की ओर से एक स्तंभयुक्त मुख-मण्डप में होकर। मुख-मण्डप के चार स्तंभ हैं और वह समा-मण्डप के साथ संलग्न है। मुख-मण्डप दसवीं शताब्दी की शैली में बना है और उसके सामने एक छवज-स्तंभ है। संरदलों पर सलाट-विम्ब के रूप में गजलक्ष्मी का अंकन है। अधिष्ठान के ऊपर वेदी या व्यालवरि का अभाव है, किन्तु उसपर उपान, पद्म, कण्ठ, त्रिपट्ट-कुमुद, गल एवं प्रति निर्मित हैं। भित्तियाँ शिल्पांकित तथा अंतरालयुक्त हैं जिनमें क्रमशः कर्ण, केन्द्रीय भद्र और दो मध्यवर्ती अनुरथ प्रक्षेप हैं। अनुरथों पर विमान-पंजर अलंकरण हैं जो देवकोष्ठों को परवेष्टित किये हुए पास-पास निर्मित युगल भित्ति-स्तंभों पर सुशोभित हैं। प्रस्तर के उत्तीर पर हंसवलभी, किञ्चित् प्रक्षिप्त कपोत तथा शीर्ष पर वेदी और व्यालवरि हैं, जिनपर हार के अंग निर्मित हैं। विमान के दो तल हैं जिन्हुंने उसके शीर्षभाग से ग्रीवा, शिखर एवं स्तूपी लुप्त हो गये हैं। फिर भी जो अंग अवशिष्ट हैं उनसे स्पष्ट है कि यह मंदिर विशिष्ट दक्षिणी विमान-शैली का है जो नौवीं-दसवीं शताब्दियों में इस क्षेत्र में विकसित हुई और जिसके आधार पर इस मंदिर की तिथि प्रारंभिक या मध्य दसवीं शती निश्चित की जा सकती है। सभीपस्थ मंदिर तथा उप-मंदिर कम महत्त्व के हैं, रिक्त हैं, और अब उनमें कोई भी उल्लेखनीय मूर्ति अवशिष्ट नहीं है।

इस समूह का सबसे भीतरी मंदिर दक्षिणमुखी है। इसके सामने चार अलंकृत स्तंभों का आवत्ताकार यथा आवृत मुख-मण्डप है, मण्डप की भित्तियों पर निर्मित अर्धस्तंभ सादा और चतुर्भुजी हैं। मण्डप के चारों स्तंभ प्रारंभिक चालुक्य शैली के विकृत रूप हैं। इनमें आधारपीठ पर शुद्धम चौकी है। दण्ड छोटे और आरीदार हैं, जिनमें ऊपर की ओर के निकट वृत्त खण्ड हैं, स्तंभों पर पालि या पद्म और फलक का प्रयोग नहीं किया गया है। इनकी पोतिकाओं (धरनों) की भुजाएँ प्रवणित (ढलुकाँ) हैं जिनपर तरंग शिल्पांकन और मध्य में लादी धारियाँ हैं। मेगुडी मंदिर की भाँति, इसकी छत समतल है और उसपर मुड़ेरें बनी हुई हैं। नीचे की ओर छत ढलुकाँ है जिससे स्पष्ट है कि कक्ष

मनुषा ही रही किन्तु लालाम् शैली तथा दक्षिणी विमान शैली की मंदिर-संरचना का सम्मिश्रण पर्याप्त समय तक जारी रहा था । अधिष्ठान साधारण प्रकार का है जिसपर उपान और पद्म निमित हैं ।

दूसरे मंदिर-समूह का केन्द्रीय मंदिर अपनी अलंकृत द्वार-रचना के लिए प्रसिद्ध है । यह द्वार गर्भगृह के प्रवेशद्वार से पूर्व बना है । गर्भगृह में एक बृत्ताकार पीठ पर लिंग स्थापित है । सामने के अर्धमण्डप का क्षेत्र गर्भगृह जितना ही है । इसके पूर्व बने नवरंग में दोनों कोनों पर दो उपमंदिर हैं जो पटडकल के प्रसिद्ध विरुपाक्ष एवं अन्य मंदिरों का स्मरण दिलाते हैं । नवरंग के स्तंभ सकूटिक कुम्भकाले हैं । उनकी पोतिकाओं की रचना किञ्चित् नतोदर है और मुड़ेरों से युक्त पार्श्व वितान ढलुकाँ हैं । अधिष्ठान लामान्य मंच प्रकार का है और नींब के सादे रह्यों पर बनाया गया है । प्रक्षिप्त आड़ी कपोतिका मुख-मण्डप के आंतरिक खण्ड पर समाप्त होती हुई मंदिर के कपोत से मिल जाती है ।

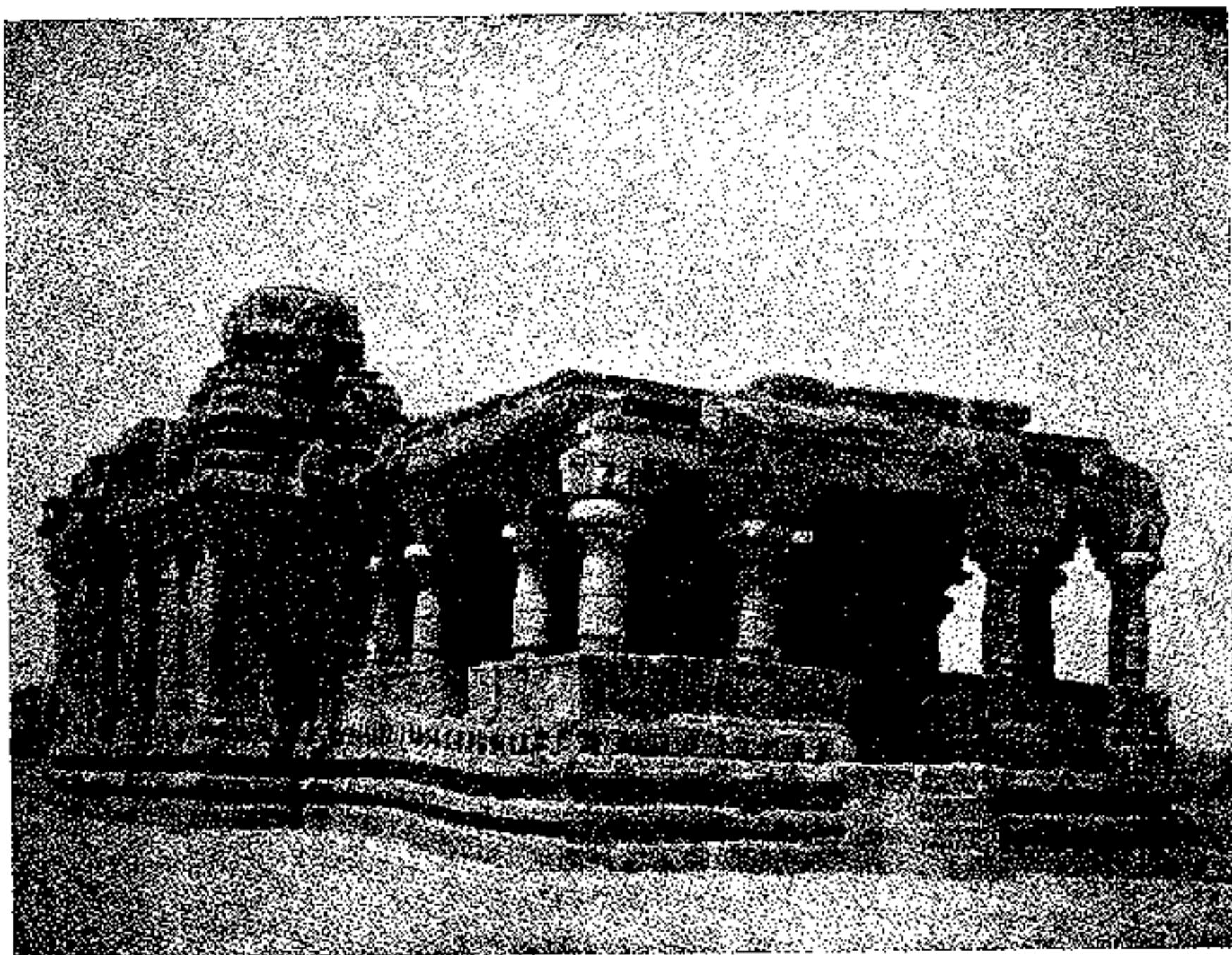
विरुपाक्ष मंदिर के समीप योगीनारायण मंदिर-समूह में मुख्यतः पूर्व-पश्चिम कोने में स्थित एक बड़ा पूर्व-मुखी मंदिर है । इसका मुख्य भाग त्रिकूट अर्थात् तीन-मंदिर-समूह है । तीनों मंदिरों की एक सामूहिक वीथिका है जो एक स्तंभयुक्त बाह्य-मण्डप की ओर निकलती है । बाह्य-मण्डप भी इस मंदिर-समूह का सामूहिक मण्डप है । बाह्य-मण्डप के सामने मुख्यमण्डप है जिसमें कक्षासन, संकीर्ण अंतराल और एक गर्भगृह है । गर्भगृह में अवशिष्ट पादपीठ और उसपर अंकित चिह्नों से ज्ञात होता है कि अनुचरों तथा टिरुवाची के साथ महावीर की मूर्ति विराजमान थी । महावीर की मूर्ति के स्थान पर अब कार्तिकेय की प्रतिमा है । त्रिकूटाचल मुख्य-मंदिर में गोटायुक्त अधिष्ठान है जिसपर उपान, पद्म, कणिक, कपोत, एवं व्यालबरि बने हैं । भित्तियाँ सादी और कुण्ड्य-स्तंभविहीन हैं । मंदिर के प्रस्तर और हार विशुद्ध दक्षिणी विमान-शैली के हैं । त्रितल विमान के तीसरे तल पर भी हार के कूट और शालाएँ हैं जो एक पुरातन परिणामी हैं । शीर्ष पर शुण्डाकार गृहपिण्ड है । विमान के शीर्वा और शिखर लुप्त हो गये हैं । मुख्य मंदिर के समक्ष विशिष्ट शुक्लासा प्रक्षिप्त है । त्रिकूट के गर्भगृह में पार्श्वनाथ की पालिशदार पत्थर की मूर्ति है । सामनेवाले मंदिर की अपेक्षा मुख्य मंदिर अधिक प्राचीन ज्ञात होता है क्योंकि इसके स्तंभों की रचना गिन्न प्रकार की है । स्तंभ कुण्डलित दण्ड के समान नहीं, न ही वे काले पत्थर से बनाये गये हैं; वे पूर्व-मध्यकालीन शैली में बलुआ पत्थर से निर्मित हैं । सामूहिक वीथिका के कञ्जड़ अभिलेखों, मंदिर की शैली तथा अन्य लक्षणों के अनुसार इसे येनिय-वार्गुडि वर्ग का ही मानना चाहिए ।

ऐहोले का चारण्टी मठ वर्ग महिनगुडि और ब्रथम्बकेश्वर मंदिरों की भाँति है । लगता है कि चारण्टी मठ किसी समृद्ध जैन बस्ती का केन्द्र था । मंदिर की मुख्य संरचना उत्तरमुखी है । प्रवेश के लिए स्तंभयुक्त द्वार मण्डप है जो अपने से अधिक बड़े सभा मण्डप की ओर ले जाता है । सभा मण्डप में चार स्तंभ हैं और वह पीछे की ओर एक सँकरे अंतराल के माध्यम से मुख्य विमान से जुड़ा हुआ



रत्नोरा — विमान-भवित्व, गुफा सं० ३३

वासु-सारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 ई०



पटन-कल — जैन मन्दिर

है। गर्भगृह में महावीर की पद्मासन मूर्ति है। जैसीकि जैन विमानों की विशेषता है, मुख्य मंदिर के द्वासरे तल पर एक और मंदिर है। वहाँ तक पहुँचने के लिए अखण्ड शैलोत्कीर्ण सीढ़ियाँ हैं, जो सभा मण्डप के उत्तरी-पूर्वी कोने पर हैं। सीढ़ियों के ऊपर एक द्वारक है जिससे खुली छत पर जा सकते हैं। ऊपरी तल के मंदिर में एक कक्ष और अग्रमण्डप है। अधिष्ठान पर उपान, पद्म, कण्ठ, त्रिपट्टु-कुमुद, गल और कपोत-बंध हैं। चालुक्य क्षेत्र में इसी प्रकार के अधिष्ठान का प्रचलन था। भित्तियों पर सांदे प्राचीर-स्तंभ हैं जिनके शीर्ष पर प्रबणित धरने हैं। अधिष्ठान एवं भित्तियों का विन्यास-सूत्र (रूपरेखा) चारों ओर से सीधी और प्रक्षेप या अंतरालविहीन है, जबकि येनियवार्गुडि में ऐसा नहीं है। भित्तियों के केन्द्रीय छौर वाहरी भाग वेत्तिकल्पुक विभान-जग्नी द्वारा अलंकृत हैं। प्रस्तर पर बना हार येनियवार्गुडि से कहीं अधिक रीत्यानुसार बनाया गया है। शिखर विशिष्ट दक्षिण शैली का है।

सभा-मण्डप के दोनों ओर छोटे मागों से जुड़े दो उपमंदिर हैं जिनमें से पूर्वी मंदिर में गर्भगृह और मुख्यमण्डप हैं तथा पश्चिमी मंदिर में गर्भगृह और अंतराल हैं। दोनों ही मंदिर दाद में बनाये गये लगते हैं। दोनों मंदिरों में सरदल के ऊपर ललाट-बिम्ब के रूप में तीर्थकर-मूर्तियाँ हैं, किन्तु दोनों गर्भगृहों से भूतियाँ लूप्त हो गयी हैं। मंदिर की भित्ति पर अंकित १११६ ई० के ट्रिकम्ब-अभिलेख में परवर्ती चालुक्य राजवंश के राजा त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य-षष्ठ के समय में 'अव्यावोले के ५०० स्वामियों' (स्थानीय वाणिज्यक संघ) के व्यापारी द्वारा मंदिर की मरम्मत तथा कुछ तदनिर्माण करवाने का भी उल्लेख है। इस अभिलेख से मंदिर के निर्माण की अद्यावधि तिथि का ज्ञान होता है। स्पष्टतः, मंदिर का मुख्य भाग पर्याप्त समय सूर्वं निर्मित हुआ होगा।

मंदिर के उत्तरी भाग में द्वार-मण्डप के सभीप निर्मित उपसंरचना में दो मंदिर हैं जिनमें सामूहिक कक्ष, बीथी और दो और से प्रवेश के लिए सीढ़ियाँ हैं। भीतरी और बाहरी तोरण, बीथी के अग्रभाग पर प्रक्षिप्त कपोत, स्तंभयुक्त मण्डप एवं कक्ष — मूर्तियों के शिल्पांकनों से प्रचुर मात्रा में अलंकृत हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण दो फलक प्रवेश-द्वार के सरदल पर हैं जिनमें २४ तीर्थकरों की मूर्तियाँ अंकित हैं।

समीपस्थ मठ (जिसके साथ एक आयातकार बीथी है) के द्वार की कपोतिका पर विभान अनुकूलितियाँ अंकित हैं जो उत्तरी शैली की प्रतीत होती हैं; और पीठिका पर समकालीन तथा परवर्ती अनुकूलितियाँ अंकित हैं जो सुदूर दक्षिण के होयसल क्षेत्र में प्रचलित थीं। मठ के अन्य अवयव ग्यारहवीं शती तथा पश्चातकालीन परवर्ती-चालुक्य-वास्तुकला के प्रारंभिक चरण के अनुसार हैं। इस स्थापत्य के अवशेष गड्ढ, लक्कुण्डी एवं डम्बल इत्यादि स्थानों में पाये गये हैं।

राष्ट्रकूट काल और परवर्ती चालुक्यों के प्रारंभिक काल में, यह किंचित् आगे-पीछे, पट्टकल की सीमा पर निर्मित जैन विभान (चित्र १२६) एक विशिष्ट वास्तु-स्मारक है। यह तीन तल का साधार-विभान है और आधार से शिखर तक चौकोर है। अधिष्ठान कम ऊँचा है, और उसपर सामान्य

द्वास्तु-ध्यारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 हैं।



के० आर० श्रीनिवासन

